उपनिषदों की कथाएं

सुदर्शन भाटिया



विश्व-साहित्य की
अनमोल कृतियाँ

गुप्त धन
नीली झील
वीर धनुर्धर राबिनहुड
रॉबिन्सन क्रूसो
सपना आधी रात का
तूफान
वेनिस का सौदागर
टॉम सायर के साहसिक कारनामे
वीर बालक हक्लबेरी फिन
स्विस फैमिली रॉबिन्सन
चन्द्रलोक की यात्रा
विश्व कथा-साहित्य
श्व प्रसिद्ध बाल-कहानियाँ (भाग-1)
श्व प्रसिद्ध बाल-कहानियाँ (भाग-2)
कोलम्बस
जादू का दीपक
अलादीन और जादुई चिराग
दरियाबर द्वीप की शहजादी
बडे वन मे छोटा घर
पापा जब बच्चे थे
मै पापा जैसा क्यो हूँ ?
सिन्दबाद की सात यात्राएँ
गोर्की की श्रेष्ठ कहानियाँ
मनमोहिनी
दो गज जमीन
शिक्षा क्या ? शिक्षा क्यो ?



उपनिषदों की कथाएं

लेखक एव सपादक

सुदर्शन भाटिया



आरोग्य निधि

नोट पुस्तक के फोलियो मे उपनिषद् गाथाऍ नाम गया है जो कि लेखक के द्वारा बाद मे परिवर्तित करने के कारण उपनिषदो की कथाऍ (सुदर्शन भाटिया) कर दिया गया है।

ISBN 81-88067 05 9

प्रकाशक **आरोग्य निधि प्रकाशन** सी 8 मकान न॰ 174 (द्वितीय तल) यमुना विहार दिल्ली-110 053 आवरण राजकुमार सक्सेना रेखाकन विवेक कौशिक प्रथम हिन्दी सस्करण 2003 मुद्रक बा क ऑफसट दिल्ली-110032 मूल्य 300 00

UPNISHADON KI KATHAYEIN (Sudarshan Bhatia)
Published By
Aarogya Nidhi Prakashan C 8 House No 174 IInd Floor Yamuna Vihar
Delhi 110 053

उस 'आत्मा' को समर्पित जिसने उपनिषद्-गाथाएँ
लिखने को प्रेरित तथा उत्साहित किया, तथा
वह 'आत्मा' इस पूरे ग्रन्थ मे विद्यमान हे,
यत्र-तत्र-मवत्र।

अनुक्रम

जब बढ़ी चिन्ता भगवान् की

सबको चिन्ता-मुक्त करने वाले विष्णु भगवान् कभी-कभी स्वय ही चिन्ता मे घिर जाते है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। औरो को सुख देते-देते, अपने लिए ही मुसीबत खडी कर ली। जिसका भला किया, उसी ने भला मानने धन्यवाद करने, आभार प्रकट करने से ऑखे मूँद ली। यह भी तो सहन न हो रहा था उनसे।

क्षीर सागर ! शेषनाग बनी थी उनकी शैया ! बडे ही आरामपूर्वक लेटे हुए थे। नागराज ने ही उनके लिए सिरहाना बना रखा था। वह लेटे-लेटे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। पायताने मे बैठी, पॉव दबा रही लक्ष्मी ने देखा। सोचा—जरूर कोई विशेष विचार आया होगा। लुभावना-सा। प्रसन्नचित्त कर देने वाला। तभी तो लेटे-लेटे मुस्करा रहे है। पूछ ही लिया—'जरा मै भी तो जानूँ प्रभु ! क्यो मुस्करा रहे है आप ?'

'किसी की मूर्खता पर हॅसी-सी आ रही है।'

'किसकी मूर्खता हे नाथ ! हमे भी पता चले।'

'अरे ! अपने ही बच्चो की मूर्खता समझो देवता है न। गिडगिडाते रहते। बार-बार विनती करते। असुरो से भयभीत रहते। युद्ध मे भी उनके सामने देवताओ की एक न चल रही थी। हर वार खाली जा रहा था। हार जाने तक की नौबत आ गई। अरे तुम्हारे सामने की तो बात हे। उनका रोना-धोना मुझे अच्छा न लगा। पुकार को सुना। अपनी शक्ति दी। जीत भी गए। असुरो के दॉत खट्टे हुए। बेचारे भाग खडे हुए। छोड दिया युद्ध का मैदान। छिपने लगे कन्दराओ मे। बीहड जगलो मे। स्वीकार कर ली पराजय।'

'हॉ नाथ ! मुझे सब पता है। जब असुर हारे, देवता जीते, आपको बडी खुशी हुई थी। बडा सकून मिला था। मुझे मालूम है। भला मै कैसे भूल सकती हूँ उस दिन को।'

'और अब।' भगवान् ने जरा चिन्तित भाव से कह दिया।

'क्या हुआ अब ?

सोचा था कुछ समय चैन से गुजर जाएगा। असुर घमण्डी हो गए थे। अपने से आगे किसी को मानते ही न थे। अपने बल पर अभिमान करते

थे। अपने ही भाइयो की—देवताओ की अक्सर पिटाई कर देते। जो मिलता मार भगाते। खूब खाते। दण्ड-बैठके निकालते। देवताओ पर भारी पडने का कारण अपनी ही शक्ति को मानते। बहुत ज्यादा दम्भी हो गए। इधर देवताओ की अनुनय-विनय पर भी मुझे तरस आ गया था। तभी तो उन्हे आशीर्वाद दिया। बल दिया। उनकी योजनाओ को सफल किया। उन्हे जितवाकर, उन्हे तो प्रसन्न किया ही, साथ मे असुरो का अभिमान भी तोड डाला। एक ही तीर से दो शिकार मार गिराए। असुरो का अभिमान तोडा जबकि देवताओ मे मनोबल को जोडा। और ।' कहते-कहते भगवान् ने एक लम्बी सॉस ली ओर रुक गए। आगे कुछ नही कहा। ऑखे बन्द कर ली। लगा जैसे ध्यान मे जाने की तैयार करने लगे हो।

मगर लक्ष्मी की जिज्ञासा बढ चुकी थी। वह अपने प्रियतम को चिन्तित न देख सकती थी। साथ ही देवताओ पर उपकार करने के पश्चात् उन्हे उदास न देख सकती थी। पूछा—'प्रभु ! अब अपनी आदत के अनुसार पहेलियॉ मत बुझाऍ। अपनी इस स्थिति का, चिन्ता का कारण तो बताऍ। जब आप असुरो को धूल चटाने का मन बनाकर देवताओ को शक्ति देकर, अपने लक्ष्य को पा चुके है। आपकी कृपा, आपके प्रयत्न सफल हुए है, तब तो आपको प्रसन्न रहना चाहिए सदा-सदा के लिए। कुछ समय विश्राम करे। अपनी चिन्ता का कारण बता मेरे मन को भी शान्त करे। इस क्षीर सागर मे दस-बीस दिनो की छुट्टियॉ मनाऍ। असुरो को सॅभलने और मुकाबला करने की स्थिति मे लौटने का लम्बा समय लगेगा। देवताओ पर जो कृपा की है, इसे बनी रहने दे।'

'लक्ष्मी ! तुम भी वही बोली बोल रही हो, जो देवता चाहते है। वे जीत का कारण अपने आपको मानने लगे है। अपनी शक्ति को असुरो की शक्ति से अधिक समझने लगे है। मैने जो अपनी कृपा की, अपना आशीर्वाद दिया, जीत के लिए साधन जुटाए, उनकी कमजोर बाजुओ को ताकत दी, इसे भूल गए। मेरा धन्यवाद करना तो एक ओर, अपने आपको ही सर्वशक्तिमान मान बैठे है। कभी-कभी तो देवता यह भी विचार करने लगे है घिनौना विचार ।' कहते-कहते वह फिर चुप हो गए।

'कहिए न ' लक्ष्मी ने आतुर होकर कहा।

'वे सोचते है हम बहुत शक्तिशाली है। हम अनेक है भगवान् एक वह भी क्षीर सागर मे अपनी लक्ष्मी के साथ सपनो मे खोए रहते है। मस्त और बेफिक्र बैठे हे। उन्हे वही तक सीमित कर दिया जाए। अपने बल के कारण इस ससार की बागडोर हमी सॅभाल लेते है। असुर तो उठने लायक नही रहे। भगवान् बेखबर क्यो न अपने आपको ही भगवान् घोषित कर दे। सर्वेसर्वा बता दे।'

'मतलब यह कि उनका मन मेला हो चुका है। वे अपने से आगे किसी को

मानते नही। आपको भी अपने से तुच्छ समझने लगे है। यह तो बहुत बुरी बात है। कृतघ्नता है। पीठ मे छुरा घोपने वाली बात है। धोखाधडी पर उतर आए है। अपनी ओकात को भूल चुके है।' कहते-कहते लक्ष्मी जी के होठ फडफडाने लगे।

'बिलकुल ठीक ! कुछ ऐसी घटिया बाते ही सोचने लगे है ये सभी देवता।'

'तब तो उन्हे सबक सिखाना ही चाहिए।'

'नही ! मै उन्हे कोई दण्ड नही देना चाहता। आखिर मेरी ही कृपा से तो उन्हे विजय मिली। अब उन्हे दण्डित करूँ। असुरो को आशीर्वाद दूँ। यह तो स्थिति बिगाडने वाली बात होगी। उठा-पटक होने लगेगी। उथल-पुथल मच जाएगी।'

'तब ?'

'मे उन्हे उनकी सीमाएँ याद दिलाना चाहता हूँ। उनकी सीमित शक्ति का आभास कराना चाहता हूँ। उनको अपनी शक्ति का अहसास कराकर उन्हे अपने आप मे रहने का पाठ पढाना चाहता हूँ। वे स्वय कितने पानी मे है, यह बताना चाहता हूँ। यदि मै उन्हे शक्ति न दूँ, बल न दूँ, साधन-सम्पन्न न करूँ तो वे स्वय कुछ भी नही, उन्हे इस बात का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। कोई बडा दण्ड नही देना चाहता। बस उनके पर कतरकर, उनका ऊँची उडान भरकर, मेरे सिहासन पर मेरे पद तक पहुँच पाने का ख्वाब तोडना चाहता हूँ। केवल इतना ही।'

'ठीक है। मै भी सहमत हूँ। मुझे भी यही अच्छा लग रहा है। आप अब देरी मत करे। मेरी यही प्रार्थना है। हमारी देरी के कारण वे कही ऊँची उडान ही न भर बैठे।'

'हॉ ! लक्ष्मी ! असुर कहा करते थे कि उनसे बडा कोई नही, अत वे किसी की भी अराधना करने, किसी को भी मानने को तैयार न थे। उनकी तो दुर्दशा हो ही चुकी है। अब यही भाव देवताओ मे घर करने लगे है। इस बुराई को आज ही खत्म कर दूँगा, देखती रहना। नही तो ये भी यज्ञ करना बन्द कर देगे। मेरे वर्चस्व को नही मानेगे। हर वस्तु को केवल अपने उपभोग की मानकर खाने लगेगे। हर सुख को अपने लिए जानकर भोगते रहेगे। वे मुझे मानना और मेरा ध्यान करना छोड दे, इससे पहले ही सारी सत्ता को, सारी स्थिति को अपने काबू मे लेकर, अपने शक्तिसम्पन्न होने की बात बता दूँगा उन्हे।'

'तो देरी क्यो ?'

'लो ! तुम आराम करो ! दूर बैठी देखती रहना। मे उनका अभिमान कैसे चूर करता हूँ।' भगवान् विष्णु ने कहा तथा अपनी शैया से उठे। यक्ष रूप धारण किया। जा पहुँचे देवताओ के सामने उनके क्षेत्र मे उनके सम्मुख। भगवान् उन्हे चूर न कर उनके गरूर को दूर करना चाहते थे।

जैसे ही भगवान् वहाँ खडे हुए, उनकी आँखे चुँधियाने लगी। यक्ष का रूप उसमे दिव्य शक्ति का प्रकाश, विशाल आकार, ऐसा तो भूतो न भविष्यति ! देवता देखकर चकित रह गए। उनकी दशा खराब हो रही थी। इतना आकर्षक इतना चमचमाता रूप पहले कभी देखा होता तब भी आश्चर्य कम होता। आज तो वे बार-बार अपनी आँखो पर हाथ फेरते समझने की कोशिश करते। मगर नही। कुछ समझ मे न आ रहा था।

आखिर कौन है यह दिव्य पुरुष ? उनसे लम्बा, ऊँचा, शक्तिशाली आकर्षक रग-रूप। कौन करे हिम्मत ? कौन पूछे उनसे ! कौन मिलाए आँखे। किसी मे इतना उत्साह न था। सारे देवता बगले झाँकने लगे। दिमाग पर जोर डालने लगे। तरकीबे सोचने लगे। मगर कोई तरकीब हाथ न लग रही थी। कुछ समझ मे न आ रहा था। जान पाना कठिन हो रहा था। हाय ! अब क्या होगा ! कही हमे ही खा न जाए कही हम पर भारी न पडने लगे कही हमारा अन्त करने तो नही आया। न जाने कितने विचारे आते ओर चले जाते। कोई राह दिखाई न दे रही थी।

आखिर देवताओ के मन मे एक ही विचार, एक ही हल आ कौधा। एक साथ सबने एक ही रास्ता ढूँढ निकाला। उन्होने अग्निदेव को सचेत किया। उनसे विनयपूर्वक कहा—'आप महाशक्तिशाली है। आप देवो के देव है। आपके सामने कोई भी रुक-टिक नही सकता। ठहर नही सकता। आपके छूने मात्र से सब कुछ भस्म हो जाता है। राख का ढेर हो जाता है। आप जाइए ! जरा पूछिए। जरूरत पडे तो भस्म कर दीजिए। विलम्ब मत कीजिए। हो सकता है यह विशाल आकृति हमारे लिए खतरा बनकर आई हो। कही यह हमारे विनाश का कारण न बन जाए, कृपया इसे रास्ते से हटा दे। भस्म कर दे। या फिर, यह है कौन इतना तो पूछे। इसका परिचय तो जाने। यदि भय की कोई बात न होगी, तब तो ठीक वरना स्वाहा !

अग्निदेव को सभी मान देते थे। इज्जत किया करते थे। उसे अपने से वरिष्ठ व शक्तिवान मानते थे। जब उसे पता चला कि उसकी आवश्यकता आन पडी है। उसके बिना शेष देवो की सकट की घडी टल नही सकती, उसने भी अपना भाव लगा दिया। नखरा करना आरम्भ कर दिया व मुँह मोडकर खडा हो गया।

एक देवता ने देखा। दूसरे ने देखा। भयभीत देवो ने आँखो-ही-आँखो मे सकेत किए। अग्निदेव को रिझाने की सोची। एक देव ने हिम्मत की। आगे आया, बोला—'हे देवो मे वरिष्ठ देव ! हे अनुभवी व तेजस्वी देव ! हे सर्वशक्तियो के जानकार देव ! आप तो जातवेदा है ! आप कविक्रतु है ! आपसे ऊपर कोई नही।'

इस प्रकार की प्रशसा सुनकर अग्निदेव कुछ प्रसन्न हुए। पिघले। मुखमुद्रा ठीक की। गर्दन को अपने पहले वाले स्थान तक घुमा लाए। ऑखो मे चमक आ गई। देवो को पूरी आशा लगी। काम बना कि बना—ऐसा सोचने लगे।

ढील न आ जाए, इसलिए एक अन्य देव ने करबद्ध हो कहा—'हे अग्निदेव ! आप तो हमारे पूजनीय हे। आप तो हमारे पुरोहित है। आप दूत के रूप मे हमारे सन्देश लेकर पहले भी जाते रहे है। आपने हमारे अनेक बिगडे काम सुधारे है। आज भी अपनी कृपा बनाए रखे। आप अवश्य जाएँ। इस शक्ति का, इस आकृति का पूण परिचय पाकर भविष्य की योजना बनाएँ। जैसा उचित समझे करे। पर हमारी रक्षा की कोशिश अवश्य करे। हमे अभयदान चाहिए। यह आप ही दे सकते है।'

इतना सुनकर अग्निदेव तत्पर हो गए, उस विशाल आकृति का परिचय पाने या फिर उसे राह से हटाने के लिए। यक्ष के करीब पहुँचे। अपनी ऑखे तरेरकर बोले—'आप कौन ?'

यक्ष ने सुनते ही उल्टा प्रश्न कर दिया—'मै तो बाद मे बताऊँगा, पहले आप ही बताएँ कि आप कौन है ?' इतना सुनते ही अग्निदेव की सिट्टी-पिट्टी बन्द हो गई। उन्हे ता अपने तेज का गरूर था। उन्हे देखकर राक्षस थर-थर कॉपा करते थे। डरकर बगले झॉकते थे। राक्षसो का सबसे बडा दुश्मन अग्निदेव ही था। उनका अधिकाधिक सहार अग्निदेव के हाथो ही हुआ था। देवता उन्हे रक्षोहा कहकर पुकारते थे। राक्षसो का नाश करने वाला मानते थे। उन्हे जन्म लेते ही सब विदित हो जाता था।'

जब यक्ष ने (सामने वाली विशाल कृति ने) उन्हे नही पहचाना तो उन्हे गरूर हो उठा। वह इतराते हुए बोले—'कमाल है ! आप मुझे नही जानते। मै देवो का देव, अग्निदेव हूँ। मेरे बाहर आग है। मेरे अन्दर आग है। मे आग-ही-आग हूँ। आप मुझे न पहचानकर मेरी तौहीन कर रहे है। इस दुनिया मे ऐसा कोई प्राणी नही जो मेरी महिमा से परिचित नही। मेरे बिना किसी का कोई कार्य पूरा नही हो सकता। जो जरा भी ऐठता है, मै उमे जलाकर राख कर देता हूँ। आप मेरा परिचय पूछ रहे है। हूँऽऽ हद कर दी आपने ! लगता है आप कोई महामूर्ख हे जो मेरे वर्चस्व को नही जानते। मेरे अस्तित्व को नही पहचानते। मेरी शक्तियो से अनभिज्ञ बने चले आ रहे है। मेरे तेज को सारा जगत् जानता है। आज मै साक्षात् सामने खडा हूँ। फिर भी मेरा परिचय जानने की आप धृष्टता कर बैठे है। बडा अचम्भा हो रहा है।'

'ओह ! क्षमा करना ! आप तो जातवेदा है। अग्निदेव है। महाशक्ति है। आपके क्या कहने ! आप क्या नही जानते ! सब कुछ तो जानते हे। पेदा होते ही

सब कुछ जान लेते है। मुझे ही देखे ! कुछ नही जानता। आपका नाम तक नही सुना था मेने। ठीक कहते हो अग्निदेव ! बिलकुल ठीक कहा आपने, मै मूर्ख हूँ। बल्कि महामूर्ख हूँ। आप तो विलक्षण है। मुझे अपनी कम बुद्धि व ज्ञानहीनता पर लज्जा आने लगी है।'

इस प्रकार यक्ष ने अग्निदेव को वरिष्ठ, महान् बताकर अपने आपको तुच्छ साबित कर दिया। जरा रुककर विनयपूर्वक कह दिया—'हे कार्वक्रतु ! आपकी शक्ति सब कुछ जलाने से प्रकट होती हे। आपके गुणो से सारा विश्व परिचित है। मै मानता हूँ। जरा प्रमाणस्वरूप आप सामने रखे इस तिनके को जलाकर भस्म कर दे। मै आपको मान जाऊँगा। सभी देवताओ मे श्रेष्ठ होने की पदवी दूँगा। केवल इस तिनके मात्र को जलाकर मेरी शका का निवारण करे।'

'तुम जो भी हो, मेरे सम्मुख तुच्छ हो। मै एक पल मे सारे ससार को जला सकता हूँ। तुम्हे भी भस्म करके राख कर सकता हूँ। तिनका तो कुछ भी नही।' अग्निदेव ने दम्भपूर्वक कह दिया तथा आगे बढे। घूरकर सूखे तिनके को देखा। मुँह से आग निकाली, तिनके को राख कर देने के लिए। मगर यह क्या तिनका तो जला नही। वह स्तब्ध रह गए। और अग्नि निकाली। तिनके को अग्नि ने ढक लिया। फिर भी तिनका ज्यो-का-त्यो पडा रहा। जला नही। अग्निदेव के होश उडने लगे। घमण्ड सिर से उतरा, नीचे आया। पॉव के रास्ते जमीन मे जा धॅसा। चेहरा देखो तो तेज गायब। लाली गायब। रग पीला पड गया। अब जातवेदा कहलाने वाला, कार्वक्रतु के रूप मे जाना जाने वाला, रक्षोहा के नाम से प्रसिद्ध अग्निदेव के चेहरे पर पसीने की बूँदे झलकने लगी। कमर से, बगलो से बॉहो से, हथेलियो पर पसीना-ही-पसीना। सारे वस्त्र भीग गए। अग्निदेव ने ऑखे नीची की। धीरे-धीरे पग भरे। यक्ष से दूर बैठे देवो के पास जा पहुँचे।

किसी ने अग्निदेव का स्वागत नही किया। बल्कि उसे लौटता देख सबने मुँह फेर लिया। अपमानित होकर लौटे अग्निदेव की देवो मे खूब अवहेलना हुई। देवमण्डली मे। अपनो मे। अपने ही घर मे। वह लज्जित होकर एक कोने मे जा बेठे। दुबके-दुबके। सारी दुनिया को पल मे राख करने वाले शूरवीर से एक सूखा तिनका तक न जल पाया। ऑखे जमीन पर जिस जगह गडी तो गडी ही रह गई। न किसी ने अग्निदेव की ओर देखा। न ही अग्निदेव ने किसी से ऑख मिलाने की सोची।

खेर ! आकृति तो सामने ज्यो-की त्यो खडी थी। विशाल आकृति ने अग्नि के घमण्ड को चूर किया था। वह मन्द-मन्द मुस्करा भी रहे थे। अपनी शानदार विजय तथा अग्निदेव की शमनाक पराजय ही उनका लक्ष्य था जो कि वह पूरा कर चुके थे। वह तो स्वय भगवान् विष्णु थे, यक्षदेव के रूप मे। उन्हे तो देवताओ का सीधी राह पर लाना था। यह प्रयत्न इसी दिशा मे था। उसकी दाहक शक्ति को

क्षीण कर दिया था। अग्निदेव एक सूखे तिनके का भी बाल बॉका न कर पाए। यही तो भगवान् चाहते थे। पूरा भी किया।

जब अग्निदेव ऑखे झुकाए, मुँह लटकाए लज्जित अवस्था मे लोट रहे थे तो सब देवताओ का भी मुँह उतर चुका था। मगर उनमे भी एक देव थे, जो बेहद खुश हो रहे थे। उनकी प्रसन्नता का कोई ठिकाना न था। यह थे वायुदेव, वह अपने आपको किसी से कम न मानते थे। अग्निदेव से तो वह उच्च है, श्रेष्ठ है, यह उनका पक्का इरादा था। पक्का निश्चय था। वह इस बारे मे पूरी तरह आश्वस्त थे।

अग्निदेव को लौटते देख, वायुदेव सोचने लगे—'अच्छा हुआ। बहुत अच्छा हुआ। अग्निदेव जिस अपमान के काबिल थे, उन्हे वही मिला है। अपने आपको बडा तीस मारखॉ समझते थे। लग गया न पता। इनकी जलाने की शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है, यदि मै, हवा, इनकी सहायता न करूँ। जो आग को अब तक प्राधान्य मिलता रहा है वह अकारण था। आज से खत्म। अग्नि का वर्चस्व समाप्त। मेरे बिना तो आग जल ही नही सकती, यह बात मै सदा कहता था। आज प्रमाणित हो गई। अब अग्नि को कोई अग्रणी नही मानेगा। बहुत अच्छा हुआ। मै जो चाहता था, वही हुआ। उसको अपमान मिला। मै प्रसन्न हूँ। अब मेरे सम्मान का समय आ गया है।'

अग्निदेव की शर्मनाक पराजय ने वायुदेव का उत्साह बढा दिया। उसे लगा कि अब उसके पौ-बारह होगे। उसका मन बल्लियो उछलने लगा। कई विचार आते। उसे खुशी देते। चले जाते। ओर विचार आते, वे पहले से भी ज्यादा खुशी देते। वायुदेव का तो सीना चौडा होने लगा। वह अपनी बारी की प्रतीक्षा करने लगा।

अन्धा क्या मॉगे ? दो ऑखे। ठीक यही हुआ वायुदेव के साथ। जिस घडी की प्रतीक्षा थी, वह घडी आ गई। देवताओ ने एक बार ग्लानि के साथ अग्निदेव पर नजर दोडाई और फिर आ पहुँचे वायुदेव के इद-गिद। घेर लिया उन्हे। करने लगे मिन्नते। उन्हे जाने को कहने लगे। पास ही खडी आकृति का परिचय लाने की प्रार्थना करने लगे। साथ ही कह दिया कि उसे उनकी ऑखो से दूर कर दो। वे ओर अधिक असमजस की स्थिति मे नही रहना चाहते। यह भयाक्रान्त माहौल उन्हे खाने को आ रहा है। वे असहज होते जा रहे हे। उन्हे इस सामने वाले महापुरुष से, ज्वाला से चमकते शरीर से छुटकारा मिलना ही चाहिए।

वायुदेव यही चाहता था। मौका हाथ आन लगा। मगर अब उसे भी नखरा करने का, ना-नुकर कहने का अवसर मिल गया। देवताओ को लगा कि उनकी आशाओ पर शीघ्र पानी फिरने वाला है। यदि वायुदेव सचमुच नही मानते तो क्या होगा ? उन सबको खतरा महसूस होने लगा।

एक और प्रयत्न किया गया। गम्भीर प्रयत्न। सबके चेहरे पर उदासी थी। शब्दो मे प्रार्थना थी। विनय भाव झलक रहा था। वायुदेव के मन से आवाज निकली—'अरे मान जा। मौका है। फिर हाथ नही आएगा। देवगण प्रार्थना कर रहे है। दिखा अपनी शक्ति। उडा दे हवा मे इस पुरुष को। इस आकृति के छक्के छुडा दे। इसकी अकड तोड दे। और फिर एकछत्र होकर राज्य कर। अग्नि से अधिक भाव मिलेगा। सारे देवता कहना मानेगे। पूजा करेगे। मत चूक मौके को।' इस प्रकार के भाव उठते ही वायुदेव तैयार हो गए। अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने तथा अग्निदेव को नीचा दिखाने का अटल निर्णय कर लिया।

सामने खडे यक्ष भी उनकी बाते सुन रहे थे। अनुनय-विनय को समझ रहे थे। वायुदेव के चेहरे पर आ गए घमण्ड को ताड रहे थे। भॉप रहे थे। अब उन्हे वायु के घमण्ड को चूर करना था। इसके लिए यक्ष पहले से ही तैयार खडे थे।

वायुदेव ने सब देवताओ की ओर देखा। अपने चेहरे पर हाथ फेरा। अपने कन्धो को उठाया। फिर नीचे गिराते हुए अभिमान भरी आवाज मे कहा—'आपका अग्निदेव तो चारो खाने चित्त पडा है। लज्जित होकर अपना सिर भी नही उठा सकता। आप जो उस पर इतना अधिक भरोसा कर, उसका गुणगान करते रहे, यही आपकी बडी भूल थी। खैर ! अब आपने अपना विश्वास मेरे पर व्यक्त किया है। करते भी क्यो नही। जब ओर कोई रास्ता न था तो लगे मेरे तलवे चाटने। मुझे भी देखो—यो गया, यो आया।' वायुदेव आत्मविश्वास और घमण्ड मे भरे हुए थे। यक्ष भी यह सब सुन रहे थे। देख रहे थे। भॉप रहे थे। निहार रहे थे। उसका भी वही हाल कर देना चाहते थे, जो अग्निदेव का किया था।

ज्यो ही बडे वेग के साथ वायुदेव यक्ष के पास पहुँचे, यक्ष ने ही पूछ लिया—'बडे तीव्र वेग से चले आ रहे हो। ठीक से पॉव भी नही टिका रहे। क्या बात है ? कौन है आप ?'

'कमाल का सवाल है यह ! वह भी मुझसे ! जिसे सारा विश्व जानता है। पूजता है। अराधना करता हे। कोई भी प्राणी मेरे बिना पल भर जीवित नही रह सकता। आप भी ! और फिर पूछ रहे है कि मै कौन हूँ।'

'मै समझा नही।' यक्ष ने बडे सरल भाव से यह कह दिया। अनभिज्ञता जाहिर की।

'मेरे बिना कोई प्राणी जीवित नही रह सकता। मै वायु हूँ। मै प्राण हूँ। मै सब कुछ हूँ। देवताओ मे अग्रणी स्थान है मेरा। मै पल भर मे पहाडो के पहाड उखाड सकता हूँ। हर वस्तु को गतिमान करने वाला मै ही हूँ। और आप पूछ रहे है कि मे कोन हूँ। बच्चा-बच्चा मुझे जानता है। मेरा गुणगान करता है। आप इतना बडा शरीर लेकर पूछ रहे है कि मै कौन हूँ ! यदि मै चाहूँ तो आपको एक सूखे

पत्ते की तरह यो उडा दूँ कि आपका नामोनिशान तक नहा। मि। ।।। जा आप मुझसे पूछ रहे हे कि मै कौन हूँ ।' कहते-कहते हवा ने अपना उग्र रूप धारण करना शुरू कर दिया।

यक्ष ने धीरे-से कहा—'यदि उडाने का बडा शोक़ है ता मझ भी -ा तना। मै कहॉ इनकार करता हूँ। मगर पहले सामने पड सूखे तिनके का ता उ ाकर दिखा दो। अग्नि तो इसे जला न पाया। हो सकता है वह अक्षम र ग हा।। आप ता बडी-बडी डीगे हॉक रहे है। लगता है कि कुछ कर भी दिखाएगे। चला स । दो, मै मान जाऊँगा आपकी ताकत को। आपके सामर्थ्य का। आपका क्षमता को। जल्दी करो, वायुदेव । देर मत करो।'

'आप जो भी हे, मेरे सामने खडे है। अपनी बाता स मेरा अपमान कर रहे है। कही यह अपमान आपको महँगा न पडे। आप मेरी शक्ति का खिल्ली उडान पर उतारू है और मै आपको उडा देने का मन बनाए खडा हूँ। शायद आप न ा जानते कि मै मातरिश्वा पवन हूँ, वायुदेव हूँ। सारा ससार मेरे प्रताप के सामने नतमस्तक होता है। मै पहाडो को उखाड फेकने की अथाह शक्ति रखता । ।गो तोडकर उठा फेकता हूँ। विशाल समुद्र भी ऑख झपकते पार कर जाता ह। ।ाप इतने शक्तिशाली देव को एक सूखा-सा तिनका उडाने की बात कह रहे । य मेरा तथा मेरे अस्तित्व का अपमान है।'

'नही, पवनदेव, बिलकुल भी नही। मे अदना-सा शरीर आपका म ा ा ा अपमान करने लगा । बस, आप इस तिनके को उडाकर दिखा । मा मे समझ जाऊँगा कि जगल हो या पहाड आपके सामने टिक नही सकता। ा ा का समझ ा का यह मेरा अपना तरीका है, अन्दाज हे। आप अविलम्ब ग ा ा । फेके। मै आपको देवो का सरताज मान लूँगा। बस करत ा ा ा। शा ा । मुझे भी जल्दी हे। जब आप इस कार्य को कर देगे, म ापक ा ा ा ा ा। आपको अपना सही-सही परिचय भी दे दूगा। आपकी ा ा ा ा ा ा ा करूँगा।'

'ठीक है। इस तिनके को बिना उडाए आप भी ा ा ा ा। ा ा ा ा तिनका।' कहते-कहते पवन ने हल्का सा प्रवाह छोडा। मगर ा ा ा ा ा थोडा ओर जोर लगाया वायुदेव ने। अब भी तिनका ा ा ा ा ा न बिगडा। पवनदेव तेजी पकडते गए। वेग बढाते गए। ा ा ा ा ा ा पवन ने अब तूफान का-सा रूप धार लिया। मगर स ा ा ा ा ा ा तूफान बेकार। पूरी शक्ति के साथ आया प्रभजन भी बेकार। ा ा ा ा ा वही पडा रहा। हिला भी नही, उडना तो दूर की बात।'

'शाबाश । थोडा जोर और' यक्ष ने कहा। इससे पव ा ा ा ा ा

आग लग गई। कटे पर नमक छिडकने वाली बात हो गई। 'जोर लगा के हैईशा ' कहा स्वय वायुदेव ने और खूब जोर लगा दिया। शरीर पसीने से तरबतर हो गया मगर तिनका महाराज बडे आराम के साथ पूर्व स्थिति मे पडे रहे। अपने स्थान पर अडिग।

अब वायुदेव की ऑखे खुली। उन्हे अपनी शून्य बराबर अपार शक्ति का आभाम हो गया। वह लाचार हो गए। लगे बगले झॉकने। अपनी झेप मिटाने। मगर झेप तो मिट ही न रही थी। लज्जा ने आ घेरा। खूब लज्जित हो उठे पवनदेव। उन्हे भी लौटना पडा अपने स्थान की ओर। हौले-हौले कदम रखे। धीरे-धीरे पग बढाए। चेहरा झुका-झुका। ऑखे तो जैसे जमीन मे धॅसी जा रही थी। क्या करते। जा बैठे एक पत्थर के ऊपर। सभी देवो ने उन्हे आते देखा। उन्हे लगा कि जैसे कोई मुर्दा धीरे-धीरे आ गया है। लौट आया है और जा बैठा है एक किनारे। न अब अकड थी, न वेग था। जोश तो था ही नही। किसी ने उस हारे हुए सिपाही की ओर ध्यान से भी न देखा। उन सबकी आशाओ पर पानी फिर चुका था। कोई रास्ता नजर न आ रहा था।

कमाल है ' जो जाता है। मुॅह की खाकर लौट आता है। यक्ष के विषय मे जानना, उसका परिचय पाना या उसे जलाकर, उडाकर दूर करना उनके बस की बात न थी। अब क्या करे। किसके पास जाएँ। किसे पुकारे, कुछ समझ नही आ रहा था देव-गण को। यह सब देखकर यक्ष मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुआ। जो सोचा था यक्ष ने (भगवान् विष्णु ने), वही होता जा रहा था। देवताओ को उनकी कीमत जतलानी थी। जतलाते जा रहे थे।

देवताओ ने अग्निदेव और पवनदेव की लज्जाजनक हार के बाद गहन विचार-विमर्श किया। सोच-समझकर अपनी बागडोर देवराज इन्द्र के सुपुर्द कर दी। उनके पास गए। उन्हे घेरकर खडे हो गए। सबके चेहरे पर बारह बजे थे। पूरी उदासी थी। निराशा ही निराशा। बडी हिम्मत के साथ इन्द्रदेव स अन्य देवता बोले—'हम तो बिना मतलब अग्नि और पवन को जाने के लिए कहते रहे। भेजा भी। औधे मुॅह गिरे दोनो। उन पर भरोसा करना ठीक न था। यह हमारी ही गलती थी। हमारी लाज तो आप ही बचा सकते है, और कोई नही। हमे कुछ नही चाहिए। इस आकृति का परिचय चाहिए। यदि यह हमारे लिए खतरा है तो इसे हमारी ऑखो से ओझल कर दे। इसका काम-तमाम कर दे। जहॉ से आया है, वही धकेल दे। यह काम आपके लिए आसान है। कठिन नही। इस सुगम कार्य को केवल आप ही करेगे।' कहते-कहते सभी देवताओ ने हाथ जोड दिए।

देवराज इन्द्र भी मान गए। उन्हे पता था कि वह अग्नि तथा पवन से अधिक पराक्रमी है। अत उनके लिए यह काम कठिन नही। यदि वह देवताओ

का यह कार्य कर देते है तो उनकी जय-जयकार होगी। प्रशसा होगी। श्रेष्ठता मान ली जाएगी। अत वह उठे। मन मे आत्मविश्वास बनाए आगे बढे। उन्हे पता था कि यह कार्य उनकी क्षमता से छोटा है। ऐसा करते ही वह देवताओ मे सर्वोपरि हो जाएँगे। इसीलिए पूरे भरोसे के साथ वह आगे बढे।

यक्ष सब सुन रहे थे। इन्द्रदेव के मन मे उठे विचारो को भी जान रहे थे। धीरे-से बोले–'चले आओ बेटा ! तुम भी चले आओ। तुम्हारी हालत भी वही होगी जो अन्य दो देवो की हुई है। बल्कि उनसे भी बुरी।'

कौन नही जानता कि इन्द्र महा अहकारी थे। घमण्डी थे। उनके साथ ऐसी पचासो कहानियाँ जुडी है जिनसे उनके अभिमानी होने का पता चलता है। यक्ष ने जब देखा कि इन्द्र करीब आने वाले है, वह स्वय अन्तर्धान हो गए। अलोप हो गए। अदृश्य हो गए। इन्द्र देखते रहे। उन्हे आसपास कुछ दिखाई न दे रहा था। वहाँ तो कोई था ही नही, जिससे बात करते। जिसका परिचय जानते। जिसे अपनी अपार शक्ति का परिचय देते। किससे पूछे ? क्या पूछे ? उन्हे कुछ समझ न आ रहा था। हक्का-बक्का से हो गए इन्द्रदेव !

इन्द्र अपनी माया से अनेक रूप धारण कर लिया करते थे। उन्हे अपनी इस माया वाली शक्ति पर भी बडा घमण्ड था। मगर आज उनसे भी बडा मायावी था यक्ष। यक्ष तो गायब हो गया। मगर इन्द्र कुछ न कर सका। उसे गायब होता भी न देख सका। न जान सका। अपना कोई रूप धारण कर, यक्ष का पीछा भी न कर सका। ठगा-ठगा-सा खडा था देवराज इन्द्र।

तभी, देखते-ही-देखते, आकाश-मार्ग से एक देवी उतरी। धीरे-धीरे इन्द्रदेव के करीब आई। उसे देख इन्द्रदेव जैसे सोए से जाग उठे। टकटकी लगाकर देखने लगे। मगर कुछ समझ न पाए। यक्ष का गुम हो जाना, देवी का सामने आ जाना, उनके पल्ले न पडा। वह कुछ भी न समझ सके।

इन्द्रदेव ने अपने दिमाग पर जोर दिया। कुछ समझने की कोशिश की। जिस देवी का आविभाव हुआ, उसे पहचानने की कोशिश की। कुछ-कुछ याद आने लगा। दिल ने कहा–'यह तो हिमाचल की बेटी है। यह तो स्वय उमा है। मै क्या देख रहा हूँ ! यह उमा यहाँ कैसे ? सोचते हुए देवराज थोडा आगे बढे। देवी को नमस्कार किया। और उनके वहाँ आने का कारण तो नही पूछा। हाँ, पूछ लिया–'माँ ! आप यहाँ ! और जो आपसे पहले यहाँ खडा था वह कौन था। हमारी तो कुछ समझ मे नही आ रहा।'

'ठीक कहते हो। आपने उन्हे नही समझा। आप उन्हे समझ भी नही सकते।'

'क्यो ?'

'क्योकि आप लोगो की बुद्धि पर पर्दा पडा हुआ है। अभिमान का पर्दा। दम्भी हो चुके है आप। भला आप कैसे समझ सकते हे कि वह कोन थे। मूर्खो ! अपने अभिमान से बाहर आओ। जिन्हे आप लोग देख रहे थे, जिन्हे पराजित करने की कोशिश कर रहे थे, वे और कोई नही, स्वय ब्रह्म थे। भगवान् थे। भगवान् विष्णु ! आप लोगो की ऑखो पर दम्भ का पर्दा जो हे। आप कैसे पहचानते उन्हे।

आप कहते हो कि असुरो को आपने हराया। अपनी शक्ति से हराया। अपने पराक्रम से पछाडा। मगर नही। वह शक्ति आपकी नही। भगवान् की थी। भला जो अग्निदेव एक तिनके को तो जला नही सकता, वह कैसे शक्तिवान हुआ। जो पवनदेव एक सूखे तिनके को उडा नही सका, भला वह क्या पहाड को उडाएगा ! जिसके कारण, जिसकी शक्ति के कारण, जिसकी कृपा के कारण आप लोगो ने असुरो पर विजय पाई, यह वही शक्ति थी। यह वही भगवान् थे। यक्ष का रूप धारकर आप लोगो को आपकी सीमाएँ बताने आए थे। आपकी औकात जतलाने आए थे। मगर आप उस अपार शक्ति को पहचान न सके। यह आपका गरूर था। अभिमान था। मूर्खता थी। अब तो वह क्षीर सागर को जा चुके है। लक्ष्मी जी के पास।'

थोडा रुककर उमा ने कहा—'तुम मान बेठे कि असुरो पर विजय तुमने प्राप्त की। अरे नही। वह तो भगवान् की मेहरबानी थी। तुमने अपने को कर्ता मान लिया। यही तुम्हारी गलती है। तुम तो मात्र निमित्त हो। यदि उसकी शक्ति तुम्हारे पास है तो तुम सब कुछ हो। वरना शून्य मात्र। यही तुम्हे समझाना चाहते थे भगवान्। समझा भी दिया। अग्निदेव तथा पवनदेव की दुर्दशा तो हुई है, हे इन्द्र ! तुम्हारी उनसे भी अधिक बुरी हालत हुई। तुम्हे अपनी ओर आता देख भगवान् अन्तधान हो गए। तुमसे बात करना भी उचित न समझा। इससे ज्यादा फजीहत और क्या होगी। इससे अधिक लज्जाजनक बात और क्या होगी। आप कैसे जान पाते कि यक्ष रूप मे आने वाले, आप लोगो की परीक्षा लेने वाले ओर कोई नही, बल्कि स्वय भगवान् थे। आप तो असुरो के दॉत खट्टे करने, उनके घुटने लगवाने का श्रेय स्वय लिये बैठे है। इसी मद मे, इसी अभिमान मे आप भगवान् तक को न पहचान सके, जिसने आकर आपकी सीमित शक्तियो का, आपको अहसास करवाया हे ? अपनी अहकार की प्रवृत्ति से ऊपर उठो और वास्तविकता को पहचानो। ईश्वर का हाथ आपके सिर पर है तो आप सक्षम है, अन्यथा अक्षम।

'हे इन्द्र ! अग्निदेव तथा पवनदेव से यक्ष रूप मे आए भगवान् ने कम-से-कम बात तो कर ही ली, तुम्हारे अभिमान को चकनाचूर करने के लिए उन्होने तुम्हे मुँह नही लगाया। कितनी लज्जा की बात है। अहकार किस बात का ? अभिमान

क्यो ? कर्ता तुम नही, स्वय भगवान् है ! तुम तो मात्र निमित्त हो। सभी के साथ ऐसा ही है। यह एक बडा दर्शन है। दर्शन का ज्ञान। सँभलो। इसे समझो। वास्तविकता मे आओ। मेरी तो यही राय है।' उमा ने इन्द्रदेव को सारा वृत्तान्त कह दिया।

देवताओ के सामने आरम्भ मे यही समस्या थी कि 'यक्ष' कौन है। इसे जान सके। भले ही 'अग्निदेव' तथा 'वायुदेव' इसे न जान सके मगर आमना-सामना तो हुआ। इस प्रकार से वे इन्द्रदेव से ऊपर हुए। मगर नही, विद्वान् कहते है कि असली समस्या का हल इन्द्रदेव निकाल पाए। उन्होने यह रहस्य जान लिया कि यक्ष ही भगवान् थे। और उन्होने साक्षात् उमा के दर्शन भी किए। वार्तालाप भी की। देवताओ की भूल को समझा। किस गलतफहमी के शिकार थे देवता, यह भी जाना। अत इन तीनो देवो मे इन्द्रदेव ही उच्च हुए। सभी देवताओ मे उनका स्थान सर्वोपरि है। उच्चतम हे। उन्होने रहस्य का उद्घाटन किया। हिमाचल की पुत्री के दर्शन किए। उनके द्वारा देवताओ के दम्भ को, अभिमान को जाना। कर्ता ओर निमित्त की बात समझी। इस सारी कथा मे, घटना मे जो यह रहस्य छिपा था, दर्शन था, ज्ञान था उसे जाना तथा सभी देवताओ तक पहुँचाया। इसीलिए देवगण मे इन्द्रदेव ही देव-राज है। सर्वोपरि है। श्रेष्ठ है। ऐसा विद्वान् मानते है।

अब सब देवता ईश्वर की, ब्रह्म की महिमा को जान गए। वे जान गए कि ब्रह्म की शक्ति सभी जगह है। सबमे है। हर वस्तु मे है। प्रत्येक जीव मे है। पृथ्वी पर आए हर प्राणी मे है। सर्वत्र उसी की सत्ता है। वही प्रेरक है। वही कर्ता है। बाकी सब उसके इशारो पर, उसकी कृपा पर कार्यरत है। उसी के निमित्त है। आमतौर पर हर कोई मानता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, स्वय ही कर रहा है। अपनी बुद्धि के कारण। अपनी शक्ति के कारण।

पर नही ! जो इच्छाएँ होती है। जो कार्य होते है। जो उपलब्धि होती है, यह सब उसी प्रभु के कारण, उसी ब्रह्म के कारण, उसी शक्ति के कारण। यह बात सभी देवता भी समझ गए। और आज तक इसी दर्शन को माना जा रहा है। माना जाता रहेगा।

जिस दर्शन पर यह 'उपनिषद्-कथा' आधारित है, उसकी विस्तार से चर्चा हो चुकी है। मगर इतना कहना भी नितान्त आवश्यक हो गया है कि आम आदमी की तरह, आज के कलियुग की तरह, उस समय भी एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव, आगे निकलने की होड, स्वय को सर्वोपरि जतलाना, स्वय को अत्यन्त शक्तिमान बताना, अपना वर्चस्व बनाना ऐसी अनेक भावनाएँ उन्हे घेरे हुए थी। देवतागण भी इसका अपवाद नही हो पाए। फिर आज का आदमी पीछे क्यो रहता !

ब्रह्म का प्रतिरूप

उपनिषदो मे मनुष्य को ब्रह्म का प्रतिरूप ही बताया गया है। जातियो की आवश्यकता क्यो पडी, इस पर भी रोशनी डाली गई है। उपनिषद् दर्शनशास्त्र है। इसमे सब कुछ निहित है। इसे ध्यान से पढने और समझने की जरूरत है। इसी ग्रन्थ मे हमे बताया गया है कि—'सोचना ही होना है। यही होने का प्रमाण है।' ब्रह्मवादी ऐसा ही सोचने थे। उन्हे यही ठीक लगता था। कभी भ्रम हो भी जाता कि वे गलत है, फिर गहन चिन्तन के बाद यह भ्रम टूट जाता। फिर वही परिणाम वही निचोड सामने आता, जो उन्होने पहले उद्घाटित कर रखा था।

विस्तृत साहित्य को यदि पढे तो हमारा ध्यान एक ऐसे विद्वान् पर रुक जाता है, जो मधुविद्या का खूब जानकार था। उसकी साच भी ऐसी ही थी। एकाएक वह सोचने लगा—'लोगो का मानना है कि जो ब्रह्मविद्या को जान लेगा, वह सब कुछ हो जाएगा।' तभी उसके मन मे एक प्रश्न उठा। प्रश्नचिह्न लेकर—'मगर उस ब्रह्म ने क्या जाना जो वह सब कुछ हो गया ?'

यह विकट प्रश्न था। कठिन प्रश्न था। इसका उत्तर चाहिए था उसे। फिर अचानक एक रोशनी-सी कौधी उसके मस्तिष्क मे। वह उसी दिशा मे सोचने लगा जो ठीक दिशा थी। उसका अपना मन कहने लगा—'आदिकाल मे, बहुत पूर्व काल मे, आरम्भ मे क्या था ब्रह्म ही तो था। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही। सृष्टि की शुरूआत मे ब्रह्म के सिवा और कुछ न था। इस बात को जिज्ञासु का मन खूब समझता था। यही बात फिर से उसके मानस पटल पर उभरी। तब ब्रह्म ही सब कुछ था। ज्ञाता भी। ज्ञेय भी, इसमे कोई सन्देह नही। जाने बिना तो कुछ हो ही नही सकता। अकेले ब्रह्म ने भी तो यही सोचा होगा। और फिर अपने आपको जानने की कोशिश की होगी। अपना ही अध्ययन किया होगा। अपने आपको समझा होगा।

उस समय जानने के नाम पर और कुछ तो था ही नही। हॉ, इतना जरूर सोचा, जाना जा सकता था कि 'मै ब्रह्म हूँ।' अथवा 'अह ब्रह्मास्मि'। बस इतना ही।

तब उस जिज्ञासु को एक और बात सूझी। यह निष्कर्ष ही था—'इस ब्रह्म को जिस किसी ने भी जाना, वह ही ब्रह्म-रूप हो गया। उसी का प्रतिरूप हो गया।

क्योकि जानना ही होना है। जेसा कि आरम्भ मे कहा है। ब्रह्विद ब्रह्म हो जाता हे। वही हम है।'

आइए ! अब बात करते है ऋषि वामदेव जी की। सबसे पहले इसी ऋषि ने घोषणा की अपने विचार रखे कि 'ब्रह्म ही हमारी आत्मा है।' इतना ही नही। उन्होने कहा था—'मै ही सूर्य था। मै ही मनु था।' यह सुनकर लोग चकित रह गए। ऋषि वामदेव के कहे शब्दो पर चिन्तन करने लगे। उन्हे इस ऋषि की बात मे सार लगा। उनकी यह घोषणा ठीक लगी। अच्छा लगा यह नया विचार। सही भी लगा। अपने आपको सूर्यवशी कहना अथवा मनुवशी बताना—ठीक भी हो सकता है। इस पर कोई आपत्ति करे भी तो क्यो ?

ब्रह्म का प्रतिरूप होना ब्रह्म की आत्मा होना परमात्मा ओर आत्मा का एक मानना आपत्तिजनक नही हो सकता। परमात्मा मे, ब्रह्म मे भी यही आत्मा हे, जो हममे हे। तभी तो हम उसका प्रतिरूप हुए। चूँकि ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति हे अत हम उसी का अश हे। जो इस सत्य को जानते ओर मानते हे, वे तो सब कुछ हो ही जाते है। यह एक दशन हे। इसे समझने का प्रयत्न करना ही चाहिए। कोशिश करने पर समझ भी आ जाता हे।

कहा गया हे कि—'जो इस तथ्य को नही जानते तथा यह मानते हे कि ब्रह्म उनसे भिन्न हे ता वे गलत हे। वे यदि ब्रह्म को अपने से भिन्न मानकर ही उसकी उपासना करते है तो वे देवताओ के पशु हे—(यथा पशु एव स दवानाम्)

इस बात को यो भी जाना जा सकता हे। इस दुनिया मे रहते हुए अनेक पशु मनुष्य के काम आते है। मनुष्यो का पालन-पोषण करते हे। वेसे ही ये देवताओ का पालन करते है।

एक ओर खास बात। एक विद्वान् का मत हे कि देवता नही चाहते कि आदमी ब्रह्मतत्त्व को ठीक से जान सके। यदि वह जान जाता है तो इसकी हानि देवताओ को होगी। देवता तो चाहते हे कि उनके पशु बने रहो, उनकी सेवा करो। उनका पोषण करो। अपने आपको मत जानो। ब्रह्मतत्त्व को मत समझो। उनका पशु बनकर उनका पोषण करते रहो। सेवा और स्तुति करते रहो।

एक और दर्शन की बात। जो लोग यह सोचते हे कि 'जन्म से कोई श्रेष्ठ ओर कोई अश्रेष्ठ होता हे, वे कुछ समझते ही नही।' कहा है न जानने से ही सब कुछ होता है। जो भी कोई अपने आपको ब्रह्म से अलग नही मानता, वही ब्राह्मण हे। ओर भी सूय ही ब्रह्म हे। जो अपने आपको सूर्य का हिस्सा मानता है, वह क्षत्रिय हे।

जो भी कोई यदि अपने आपको ब्रह्म अथवा सूय से भिन्न मानकर उनकी पूजा करता हे, स्तुति करता हे, वह उनका पशु है। पशु-समान। ऐसा व्यक्ति

ꣻताओ का तो पशु होता हे ओर मनुष्यो मे रहते हुए शूद्र। इससे अधिक कुछ भी हीं। भले ही वह अपनी जाति से कोई भी हो। अत हमे चाहिए कि अपन गपको ब्रह्म का हिस्सा माने। तभी ठीक रहेगा।

जेसा कि उपनिषद् सिखाते हे, पहले पहल, बिलकुल आरम्भ मे केवल ब्रह्म T तो था। ओर कुछ नही। इसके अतिरिक्त कुछ नही। चूँकि केवल ब्रह्म था अत ही सब कुछ था। सभी जातियॉ सभी वर्ण उसी मे थे। उसी मे निहित। सब एक से। जेसा ब्रह्म, वेसे सब। न तो जातियॉ थी, न ही उस समय इनकी सम्भावना। Tॉ यह मानना पडेगा कि उस अवस्था मे वेभव की कमी थी। वह पालन-पोषण करने म भी कठिनाई अनुभव कर रहा था। यह पालन का कार्य क्षत्रियोचित कम ा। जो ठीक से न हो रहा था।

तब ब्रह्म ने अपने रूप को फैलाया। क्षत्रवत बना। देवताओ का निर्माण कया। अनेक देवता बनाए, जो इस कार्य मे ब्रह्म की सहायता कर सकते थे। एस वता थे—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम मृत्यु आदि आदि। ये सब क्षत्रिय-देवता नान जाते हे। एसा करने से क्षत्रियोचित कर्म सुगमता स होने लगे। यह विभाजन अच्छा रहा। सफल रहा। चूँकि ये बडे-बडे देवता क्षत्रिय थे। जो उनकी उपासना कर, अपने आपका उन्ही का प्रारूप मानता वह भी इन्ही की भॉति उत्कृष्ट हो जाता। ब्राह्मण भी नही।

तभी तो राजसूय यज्ञ मे ब्राह्मण बराबर मे नही बिठाया जाता। वह नीच बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। पूजा करता है।

क्षत्रिय होकर यश पाता है। ओर भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म ही क्षत्रिय की योनि है। कारण ? इसी से तो क्षत्रिय की पैदाइश हुई हे।

इसी दशन मे आगे कहा गया है कि जो क्षत्रिय भूल से अथवा जानबूझकर ब्राह्मण का वध करता है, वह किसी ओर का नही, अपनी ही योनि का सर्वनाश करता हे। अपने आपको हानि पहुँचाता है। अपनी जाति का घातक बनता है।

ब्रह्म ने क्षत्रिय-देवता भी बना दिए। उन्हे कार्य भी सोप दिया। फिर भी कमी रह गई। सारे कार्य ठीक प्रकार से न हो रहे थे। इससे ब्रह्म की चिन्ता बढ गई। माना कि ब्रह्म का प्रशासन सुचारु हो गया। लोगो की सुरक्षा होने लगी। आना जाना या घर पर रहना, सब सुरक्षित हो गए। ऐसे कार्य ठीक से चल निकले। नगरो मे शान्ति बन गई। ग्रामीण क्षेत्र निश्चिन्त होकर, अपने आप मे सुखी रहने लगे। सुरक्षा व्यवस्था सर्वत्र ठीक हो गई। इस ओर से तो ब्रह्म निश्चिन्त हो गए, पर अनेक अन्य कठिनाइयॉ मुँह खोले खडी थी।

अब कारोबारी, खाद्य, जल-पान, औषधि सबके पेट पालन की भी ब्रह्म को चिन्ता थी। यह सब वाणिज्य से सम्भव था। अत व्यापार करने वाले, लोगो तक

अनाज पहुँचाने वाले, जरूरत की सभी चीजो का प्रबन्ध करने वाले भी जरूरी थे। ब्रह्म का ध्यान जब इस ओर गम्भीरता से गया तो उन्होने वेश्य जाति बनाई। वेश्य जाति के देवताओ का निर्माण किया। इन देवताओ को वाणिज्य आदि की जिम्मेवारी सोपी। वैश्य-देवताओ के नाम रखे—वसु, रुद्र आदित्य, विश्वदेव ओर मरुत आदि-आदि।

पेट पालने के लिए, घर-गृहस्थी चलाने के लिए वाणिज्य का प्रबन्ध तो जरूरी था। मगर इससे भी आवश्यक थी शान्ति। सुरक्षा और राजकता। ब्रह्म ने पहले क्षत्रिय देवता बनाए ताकि लोगो का आना जाना, रहना, सोना, चलना-फिरना पूरी तरह सुरक्षित हो। फिर वेश्य-देवता बनाए और उन्हे कार्यभार सौपकर कुछ चिन्तामुक्त हो पाए ब्रह्म जी।

शुरू-शुरू मे वाणिज्य का सामान तो दूर-दूर से लाया जाने लगा। गली-मोहल्लो तक पहुँचाया-बेचा जाने लगा। धीरे-धीरे दुकाने खुली। स्थानीय उत्पाद भी होने लगे। जरूरते आसपास मे पूरी होने लगी। लोगो की कठिनाई काफी कम हो गइ।

अभी भी सब कुछ सामान्य न हो पाया मजदूरो की जरूरत थी। कुशल कारीगर चाहिए थ। उनकी सहायता को अकुशल कारीगर भी जरूरी थे। मतलब यह कि क्षत्रिय ओर वेश्य के बाद शूद्रवर्ण की भी आवश्यकता थी जो माल को इधर-से-उधर ला-ले जा सके। कार्य मे शारीरिक परिश्रम वाला भाग सँभाल सके। इसीलिए बडे सोच-समझ के बाद शूद्र-वर्ण के देवता का निमाण हुआ। नाम रखा गया पूषा-देवता। जो कुछ भी हे, उसका पोषण यह पूषा ही करते हे, ऐसी व्यवस्था बना दी ब्रह्म ने।

उपनिषदो मे वणन मिलता है कि पूषा भी सूर्य का ही रूप हे। मगर यह पोषण का कार्य सँभाले हे। और देखिए, हमारी धरती भी पूषा मानी गई है, क्योकि यह भी सबका पालन करती हे। इतना ही नही, पशुओ को भी पूषा माना जाता हे। उनसे भी तो हमारा पालन-पोषण होता है। अत पूषा-देवता की जिम्मेवारी बहुत ज्यादा मानी जाती है। यदि ठीक से पोषण नही तो रोग पनपेगे। मृत्युदर बढती जाएगी। सृष्टि ठीक से नही चल पाएगी। अत पूषा का काय बहुत जिम्मेवारी वाला माना गया हे।

कोई भी राष्ट्र, कोई भी देश तभी सुखी होगा समृद्ध होगा, सुरक्षित होगा जब वहॉ के नागरिक आन्तरिक शान्ति से रह रहे होगे। उन्हे हर प्रकार से सुरक्षा मिल रही होगी। वे भाई-चारा के साथ रह रहे होगे। सत्य का पालन करने वाले होगे। किसी से धोखाधडी नही हो। उन्हे पूरा न्याय मिलता हो। यदि क्षत्रिय ईमानदारी स काय करे न्याय दे किसी के साथ ज्यादती न होने दे तभी देश समृद्ध होगा। लोगो मे शान्ति बनी रहेगी। वे अपने धर्म का ठीक से पालन कर सकेगे। राजा शक्तिशाली बना रहेगा। उसे अन्दर से अथवा बाहर से कोई भय नही होगा।

शत्रु भी डर से काँपेंगे।

इस प्रकार ब्रह्मा ने चार वर्णो का निर्माण किया। चार प्रकार के देवता बनाए। उन्हे अलग-अलग कार्य सौप दिए। सब कुछ सुचारु हो उठा। बन तो गए चार भिन्न-भिन्न वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य शूद्र। मगर इन सबमे एक ही ब्रह्म समाया हुआ हे।

ब्रह्म की महिमा अपरम्पार है। वही सब देवताओ मे हे। वही सब वर्णो मे है। वही सब प्राणियो मे है। वही अग्नि रूप से देवताओ मे ब्राह्मण है। मनुष्यो मे ब्राह्मण रूप मे ब्राह्मण। क्षत्रिय रूप मे क्षत्रिय। वैश्य रूप मे वेश्य और शूद्र रूप मे शूद्र। वह सर्वत्र ही व्यापक है।

इसी दर्शन का उल्लेख करते हुए उपनिषद् आगे समझाते है—'यदि मनुष्य किसी कर्मफल की इच्छा करता है तो वह देवताओ मे अग्नि तथा मनुष्यो मे ब्राह्मण से पा सकता है।' इतना ही नही, इसे स्पष्ट करते हुए एक और बात बताई गई है। कहा गया है कि—'अग्नि मे जो हव्य डाला जाता है, वह सीधे देवताओ तथा पितरो को प्राप्त हो जाता है। उन तक पहुँच जाता है। ब्राह्मण को दिया दान, दक्षिणा वस्त्र, भोजन कुछ भी वह भी देवताओ तथा पितरो तक पहुँच जाता है।'

इसी दशन मे आगे कहा गया है कि जो भी कोई व्यक्ति बिना आत्मसात् किए, बिना आत्मलोक के दर्शन किए, मृत्यु को प्राप्त होता है, उसमे शोक, मोह व्याप्त रहते है। वह इनसे छुटकारा नही पा सकता। इन्ही मे उलझा रहता है। उसका लोक और परलोक दोनो बिगड जाते हे।

आगे समझाया गया है कि मनुष्य को आत्मलोक की ही उपासना करनी चाहिए। अपने आपको पूरी तरह जानना चाहिए। वह उस दुनिया मे रहकर कोई भी, किसी भी प्रकार का कार्य करता रहे, मगर अपने आपको ब्रह्म का प्रतिरूप ही माने। यही सत्य है। इसी से कल्याण होगा।

मनुष्य ब्रह्म का हिस्सा है। वह परमात्मा है तो हम आत्मा। उसी का प्रतिरूप। यही आत्मा हर एक प्राणी मे निवास करती हे। सबमे एक-सी। कही छोटी-बडी नही। आदमी या अन्य प्राणी छोटे-बडे हो सकते है। मगर उनमे समायी आत्मा एक जैसी।

इसीलिए कहा गया हे कि हमे सबको अपने जैसा मानना चाहिए। सबके साथ प्यार करना चाहिए। किसी का मन नही दुखाना चाहिए। सभी के साथ मैत्री-भाव रखने से अपनी आत्मा भी प्रसन्न रहती है। सुखी रहती है। दूसरो की भी। यदि हम अन्य प्राणियो का भला सोचेगे, वे भी हमारे मगल की सोचेगे। तब सर्वत्र सुख होगा। कल्याण होगा। कुण्ठा बिलकुल भी नही।

शतरूपा को चैन कहाँ

ब्रह्मा जी की चिन्ता निरन्तर बढती जा रही थी। सृष्टि का विस्तार करना चाहते थे पर हो नही रहा था। इसी चिन्ता पर वह चिन्तन किया करते। करते भी कैसे न ! मरीचि आदि पुत्रो के सतत प्रयत्न भी काम न आए। सृष्टि का विस्तार न हो पा रहा था।

कहते है कि ब्रह्मा का चिन्तन इतना गहन हो गया कि अचानक उनके शरीर के दो भाग हो गए। एक ही शरीर के दो हिस्से। बराबर-बराबर विभक्त। स्वत ही। कोई रक्त नही। कोई तोड-फोड नही। जैसे चना दो भागो मे बॅटकर दाल का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही। सब कुछ एक-सा। एक समान। एक रूप।

शरीर का दायॉ भाग अब अलग से इकाइ था। यही पुरुष बना। बायॉ भाग अलग होकर स्त्री का रूप पा गया। पूर्ण शरीर तो अलिगी था। मगर अब 'पुरुष-लिग' तथा 'स्त्री-लिग' प्राप्त थे दोनो भागो को। अलग-अलग। पुरुष भाग स्वायम्भुव मनु कहलाए। स्त्री भाग का नाम पडा शतरूपा। यही बाद मे बने पति-पत्नी। सृष्टि का विस्तार करने मे सक्षम। मैथुन-धर्म को अपना लिया दोनो ने।

आइए ! इसी बात को किसी और छोर से पकडते है। कही और से चलते है। मान्यताऍ हे न ! मानते है इन्हे भी।

वेदान्ति सब जानते थे। क्या बीता। क्या बीत रहा है। आगे क्या बीतेगा। सब उन्हे पता था। वेदान्तियो ने अपने वेदो मे यह सब उद्‌घाटित कर रखा है। हॉ, इसे ध्यान से समझने और श्रद्धापूर्वक मानने की जरूरत हे। हमारी धरती पर अनेक ऐसी मर्यादाऍ बनी, जिन्हे दूसरे माने या नही, भारतवासी अवश्य मानते रहे है। यह विश्वास की बात है। श्रद्धा का विषय हे। इसे किसी भी वैज्ञानिक-कसौटी पर नही परखा जा सकता। बल्कि यो कहे कि इसकी परख करने की जरूरत भी नही। ब्रह्मचय का पालन यहॉ अति उत्तम माना जाता रहा है। शिक्षा से भी उच्च।

नारी के लिए अपना अस्तित्व बचाना सबसे बडी चिन्ता है। जिम्मेवारी हे। पहले भी थी। आदिकाल मे भी। अब भी। तभी तो शतरूपा को अपनी रक्षा करना, अपने शील को खण्डित होने से बचाना सबसे बडी फिक्र थी। इसी के लिए

शतरूपा ने अनेक प्रयत्न भी किए।

प्रथम पुरुष, आदि पुरुष ने अपने आसपास देखा। कोई न था। वह अकेला था। अकेला रहना आसान नही। एकाकी जीवन जीवन नही। उस प्रथम पुरुष ने (शतरूपा का अवतरण तो बाद की बात है) अपने सभी पापो को, सारे-के-सारे कर्मफलो को स्वाहा कर दिया। जला दिया। दग्ध कर दिया। उषित कर रखा था उसने। इसीलिए उसे 'पुरुष' नाम मिला। पुरुष कहलाया। उस परम पुरुष का, उस पृथ्वी पर पहुँची परम आत्मा को अपने सिवा कोई और नजर न आया। सारे भूमण्डल पर केवल वही एक प्राणी था। न तो अन्य पुरुष ओर न ही अन्य नारी। कोई अन्य जीव-जन्तु भी नही। पशु-पक्षी, कुछ भी नही। वृक्ष और झाड-झखाड भी नही। एक अकेला था वह आदि पुरुष। इसका उज्ज्वल पक्ष कोई ओर हो न हो, एक श्याम पक्ष भी था।

उस प्रथम पुरुष को जब अपने सिवाय कोई अन्य प्राणी, पशु-पक्षी, नभचर-जलचर दिखाई न दिए तो उसको अभिमान आ गया। उसका मन अहम् से भर उठा। तब उसके मुँह से जो पहला शब्दा निकला, वह था—'अहमस्मि' या फिर कहे 'अयमहम्'—अर्थात् 'मै हूँ।' ये शब्द ब्रह्मवाणी मे कहे गए थे। इसे ब्राह्मी मे उद्घोषित किया गया था। यही उस प्रथम पुरुष का नाम भी हो गया। उसका सक्षेप म नाम पडा—अहम्। उसी के मुँह से निकला प्रथम शब्द ही उम आदि पुरुष का नाम हो गया। मगर इससे उसके मन मे बैठे अभिमान की, अह की बू तो आती ही है।

उस समय पूर्ण सन्नाटा था। महाअन्धकार था। इसी मे यह शब्द उद्घोपित हुआ। उसे डर लगने लगा। सन्नाटा-ही-सन्नाटा जो था। कोई बात करने वाला न था। कोई कहने-सुनने वाला न था। आदि पुरुष तो जैसे घबरा ही गया। भयभीत हो उठा। वह डरा, अकेला था। आज भी, जब हम अकेले होते है। सुनसान जगह पर होते है। डर जाते है। वैसे ही, जैसे कभी आदि पुरुष डरा था।

कुछ देर भयभीत रहने के बाद, डरकर कॉपने के बाद उस आदि पुरुष ने सोचा—'अरे ! मै तो मूर्ख हूँ। बिना कारण डर रहा हूँ। कोई तो यहॉ है नही, जिससे मै डरूँ ? मेरे लिए कोई भय नही। कोई खतरा नही। मुझे कोई हानि क्यो होने लगी।

ऐसा सोचते ही उस आदि पुरुष का सारा भय भाग खडा हुआ। वह निश्चिन्त हो गया। चूँकि कोई अन्य न था। कोई दूसरा न था। अत अपना या पराया, यह द्वैत तो था ही नही। अपने-पराये का कोई भेद न था। सब कुछ वही तो था, अकेला।

प्रथम पुरुष के मुँह से निकले शब्द पर ही उसका नाम अहम् हो गया। ऐसा

क्रिश्चियन भी मानते हे। उनका बाइबिल इस बात का गवाह है। वह कहते हे कि आदि पुरुष के मुँह से जो भी शब्द किसी भी चीज के लिए निकला, वही उसका नाम हो गया। हमारी परम्परा हमारी सस्कृति, हमारा उपनिषद्काल तो अत्यन्त पुराना है। अत हमारी अपनी धारणा हे। हॉ, बाद मे अन्य लोगो ने भी इस नाम रखने वाली हमारी परम्परा को मान लिया।

प्रथम पुरुष को, इस आदि मानव को एकाकी रहना बेहद कठिन हो गया। बात करे, तो किससे। सुख-दु ख बताए तो किससे। प्रेम जताए तो किससे। यदि देह-सुख की कामना हो रमण करने की इच्छा हो तो किसके साथ करे। वह अकेला तो कुछ कर नही सकता था। जैसे आज भी अकेला चना भाड नही फोड सकता।

अब उस आदि पुरुष के मन मे साथी पाने की इच्छा जागी। इसी ओर विचार करने लगा। वह लगातार आत्ममन्थन किया करता। यह स्थिति आत्मनद्ध तक जा पहुँची। पर आराम नही। समय भी काटना कठिन। कहते है उस पुरुष का अकेलापन, उसकी विकलता सारी सीमाएँ लॉघ गइ। असहाय हो गइ। मन मे विचार उठे। अपने शरीर को ही चीर डाला। फाडकर दो हिस्सो मे कर दिया। यही घडी थी जब कुछ-न-कुछ गडबड होने लगी। कभी वह कर दिया करता। कभी स्वत हो जाती। पर खुराफात पर खुराफात होती ही गइ।

ये जो शरीर के दो भाग बने यही बाद के पति-पत्नी हुए। कुछ मत तो कहते हे कि यह प्रथम पुरुष या परम पुरुष ही आदम था। उसकी जॉघ से पसली से स्त्री का जन्म हुआ। हुव्वा कहलाइ। हम मानते हे कि हमारा ज्ञान बहुत पुराना है। हमारी परम्पराएँ ठोस हे। हमारी समझ के अनुसार परम पुरुष के पश्चात् जो परम स्त्री आई वह उसी के शरीर के चीरे जाने से बनी। आधे भाग से बनी। अर्धागिनी कहलाइ।

परम पुरुष का अपना कोइ लिग नही था। जब वह दो भागो मे विभक्त हुआ तो एक को 'पुरुष-लिग मिला। दूसरे को 'स्त्रीलिग'। पुरुष सर्जक बन गया। स्त्री उसी के शरीर से अलग हुई, जो गभ धारण करने मे सक्षम थी। सन्तान पेदा करने की विधि भी आज वाली—रमण द्वारा ही। दोनो एक ही क्रिया से, एक साथ हमारे लिए बने और इन्होने ही विस्तार भी किया।

मगर रमण करने, विस्तार पाने की स्थिति तो बाद की हे। पहले यह कह दे कि पुरुष-भाग का नाम 'मनु' पडा ओर स्त्री का नाम 'शतरूपा'। यह बात हमे ब्रह्मा के पुत्र याज्ञवल्क्य से विदित होती हे। वह यज्ञ के वल्का थे। यज्ञ के वक्ता थे। देवराति या ब्रह्मा क पुत्र। यह हम नही, याज्ञवल्क्य कह रहे हे कि आदमी का शरीर दाल की भॉति दो बराबर भागो मे विभक्त है। बॅटा ह। आप अर्धबृगल भी

कह सकते है। दोनो के सयोग से ही सन्तान पैदा होती है। सहशैया का परिणाम है गर्भवती होकर पुत्र-पुत्री को जन्म देना।

मगर नही। पुरुष के शरीर से, एक ही समय एक साथ बनी यह स्त्री गम्भीर थी। शतरूपा नही चाहती थी कि मनु उसके शरीर के साथ छेडछाड करे। उसे तग करे। उसका शील खण्डित करे। वह तो अपनी असमत बचाकर रखना चाहती थी। मगर अपने शरीर को फाडकर, दो हिस्सो मे बनाकर, साथ पाने के लिए जो कार्य परम पुरुष ने किया था, उसका प्रयोजन भी तो होना चाहिए था। जिस साथ के लिए, सहयोग के लिए शरीर का आनन्द लेने के लिए वह एक से दो बना, उसे तो उसको पाना ही था। इसलिए वह शतरूपा को अपने समपर्क मे, अपने निकट, अपनी बॉहो मे प्राना चाहता था। इसके लिए मनु बेचेन हो उठा। मगर, शतरूपा को अपने शील की रक्षा करनी थी। अपना बचाव करना था। वह लगी भागने यहॉ से वहॉ। इधर से उधर। बचाव मे। मगर मनु ने उसका पीछा नही छोडा।

शतरूपा के लिए यह समय बडा कडा था। कठिन था। अपनी रक्षा करना मुश्किल। करे तो क्या ? जाए तो कहॉ ? न घर थे। न मकान थे। न जगल थे। न कन्दराऍ थी। छिपने को तो कोई स्थान भी न था उसके पास। बचे तो कसे। यह उसकी समस्या थी।

उस समय भी, जब कोई देखने पूछने वाला न था शतरूपा अपने बचाव के लिए चिन्तित थी। उसे सामाजिक मर्यादा की शिष्टाचार की जननी भी कह सकते है। उसने पुरुषवर्ग से दूर रहने, अपने अस्तित्व की रक्षा करने, शील बचान की परम्परा आरम्भ की। मगर उसे अपने समय मे इस पुरुष से चेन न मिल रहा था। छुटकारा पाना, अकेले रहना शरीर बचाना उसे असम्भव लगा। पीछे भागते, छूते, दबोचते मनु से बचने की सभी तरकीबे बेकार होने लगी। वह भागते हुए सोचती—'अरे मनु ! तूने मुझे अपने शरीर से ही तो पैदा किया हे। मे तेरी ही देह का हिस्सा हूँ। फिर तू मेरे साथ समागम क्यो करना चाहता हे ? क्या तू इस काम के बिना इस रमण के बिना रह नही सकता ?' मन मे ये विचार उठे। फिर लप्त हो गए।

भागते भागते शतरूपा काफी आगे निकल गइ। मनु थोडा पीछे रह गाए। उसने अवसर का लाभ उठाया। अपने रूप को ही बदल डाला। अब वह शतरूपा न थी। बल्कि गाय के रूप मे आकर तिनके चुगने लगी। घास पर मुह मारने लगी। जब मनु पास पहुॅचे, उन्हे शतरूपा नजर न आई। इधर-उधर दखा। इस गाय के अतिरिक्त वहॉ कुछ और तो था ही नही।

मनु को यह समझने मे देर न लगी कि यह शतरूपा का ही परिवर्तित रूप

है। अब मनु पुरुष था। सामने गाय थी। रमण करना था। कैसे करता वह ? कैसे पाता देह सुख ? कैसे मिटाता अपने मन की प्यास। पर वह आश्वस्त था कि यह गाय ही उसके द्वारा निर्मित शतरूपा का बदला रूप है। उसने भी बिना विलम्ब किए अपना रूप बदल लिया। अब वहॉ पर न शतरूपा थी न ही मनु। गाय ओर बैल थे वे दोनो।

अब गाय क्या करती। कैसे बचती। बैल ने अपनी इच्छा-पूर्ति की। अपनी जरूरत पूरी की। रमण हुआ। गाय गर्भवती हो गई। बछडे और बछडियॉ पैदा होने लगी। मगर शतरूपा अपने मन से इस कार्य को पसन्द न करती थी। मनु को धोखा देने के लिए, गाय का रूप त्याग घोडी का रूप धारण कर लिया। सोचा कि शायद यह पहचान न सके। जान न सके। बैल ही बना रहेगा। स्वय बन गइ थी घोडी। जबकि मनु था बैल बना हुआ।

मगर शतरूपा की यह कोशिश भी बेकार गई। मनु झट जान गया कि उससे पीछा छुडाने के लिए गाय ने ही घोडी का रूप धारण किया हे। वह भी झट से घोडा बन गया। अब घोडी बनी शतरूपा कहॉ जाती। घोडा शक्तिशाली था। पकड लिया घोडी को। इसके बाद उन्होने जो किया, उसी का परिणाम था अश्वजाति का होना।

दो बार हारकर, अब शतरूपा ने गर्दभी का रूप पा लिया। इस उम्मीद मे कि मनु घोडे से गर्दभ बनना नही जानता होगा। या उसे पता ही न चलेगा। मगर कहॉ ! मनु तो उसके पीछे हाथ धोकर पडा था। उसे अपने तन से अलग न करना चाहता था। मन से निकालना न चाहता था। अत वह भी तुरन्त गर्दभ बन गया। फिर वही काम, जिससे शतरूपा बचना चाहती थी। शील रक्षा करना चाहती थी। गर्दभ और गर्दभी के सम्पर्क से उनकी, गधो की सन्ताने उत्पन्न होने लगी। इस प्रकार एक खुर वाले अनेक पशु पैदा हो गए। पृथ्वी पर जानवरो का आगमन, एक के बाद एक होता गया।

शतरूपा ने अपने तजुर्बे से कुछ न सीखा। अब भी बचने के लिए वह रूप बदलती गई। उसने बकरी रूप भी धारण कर लिया। मनु से कुछ भी छिपा न था। उसने बकरे का रूप पा लिया। फिर वही खेल। वही हरकत। वही तमाशा। और मेमने पैदा होते गए। अब, जब शतरूपा ने भेड का रूप धारण किया तो वह भेडा बन गया। भेड जाति के बच्चे पैदा होने लगे।

अब लगा कि शतरूपा का शील तो बचा ही नही था, न ही मनु उसके लिए कोई अलग था। वह एक के बाद एक, अनेक पशुओ, पक्षियो, कीडो-मकोडो का रूप इसलिए बदलती रही ताकि ये सारी जातियॉ पृथ्वी पर आ सके। भूमण्डल को इन सबकी आवश्यकता थी। अपनी-अपनी उपयोगिता थी। पैदा भी किए।



किसी को जरा-सा भी दु ख पहुँचे एसी वाणी कभी न कहे। (मनु 2/160/161)

(घ) इस कल्प मे महिलाओ का यज्ञापवीत नही होता। इसलिए केवल इनका विवाह वैदिक मन्त्रो से होता है। पति की सेवा ही इनका गुरुकुल का वास ओर घर की परिचर्या अग्निहोत्र माने जाते है। (मनु 2/67)

(ड) सन्ध्योपासन नित्यकम है। इसे तीनो समय अवश्य करना चाहिए। मनु जी ने कहा हे कि 'जो द्विज प्रात काल ओर सन्ध्याकाल की सन्ध्या नहीं करता उसका बहिष्कार कर देना चाहिए। (मनु 2/111)

जिन स्वायम्भुव मनु जी के कारण यह सृष्टि बनी उनकी ... कथा तो हमने पढी ही, उनकी कुछ शिक्षाओ को भी ऊपर देखा है। ... करने का प्रयत्न करना चाहिए।



येन-केन-प्रकारेण

ापति की पत्नी थी दिति। अति रूपवती ' दानो का जीवन सुखमय गुजर रहा । दोनो की आपस मे भी खूब पटती थी। प्रजापति अपनी इस पत्नी के कारण द प्रसन्न रहते। उनका समय बहुत अच्छी तरह कट रहा था। दिति की हर शिश होती कि उसका पति सुखपूर्वक समय काटे। पूजा-पाठ-ध्यान मे कोई ञ्चन न आए। उनकी आवश्यकताएँ भी समय-समय पर पूरी होती रहे। उनकी ा-शुश्रूषा मे तनिक भी विलम्ब न हो। लेशमात्र कमी न हो। इसी कारण दोनो गृहस्थी बडी आनन्दपूर्वक बीत रही थी। किसी को किसी से शिकायत भी न । ईश्वर आराधना भी नियमानुसार चल रही थी।

प्रजापति तथा दिति से अनेक सन्ताने हुई। सबकी सब बलवान शक्तिवान। नका जीवन भी ठीक प्रकार से कट रहा था। माता-पिता के सरक्षण मे उनकी व्रभाल मे कभी कोई कमी नही आई। इन्हे अच्छी शिक्षा देकर योग्य बनाने का नका सकल्प था। वह पूरा भी होता नजर आ रहा था। दिति की इन शक्तिशाली था छल-कपट न करने वाली सन्तानो को तब 'असुर' नाम से पुकारा जाता था। सुर प्रजापति की बडी सन्ताने थी तथा दिति के उदर से पैदा हुई। इन्हे ही दानव । असुर कहते।

पति-पत्नी तथा बच्चे। कोई चिन्ता न थी। कोई कमी न थी। ल्लास-ही-उल्लास था। बडो की आज्ञा का उल्लघन भी न था। बडो से छोटो को ाथाह प्यार मिलता था। घर मे हर प्रकार से शान्ति थी। कोई क्लेश नही। कोई ागडा नही। कोई कलह नही। पति-पत्नी के प्रेम मे भी कोई कमी नही आई।

मगर पता नही अचानक क्या हुआ। प्रजापति की एक और विवाह करने ी इच्छा हुई। लडकी भी नजरो मे थी। रिश्ता करना भी आसान था। दिति को ता चले तो भी कोई बात नही। न चले तो भी यह चोरी न गिनी जाएगी। उन्हे नपने प्यार पर भरोसा था। सम्बन्धो पर विश्वास था। पत्नी की आदत तथा उदारता, दोनो को करीब से जानते थे प्रजापति।

एक दिन ऐसा भी आ गया जब प्रजापति अपनी दूसरी पत्नी ले आए। पत्नी अति सुन्दर थी। प्रजापति के दिल पर राज करने मे सक्षम थी। पति को बस मे

करना आता था उसे। इस नई, अति मन-मोहक पत्नी का नाम था अदिति। कितनी भी उदार क्यो न होती दिति, आखिर सौतन को सहना उसके बस मे न रहा। पति भी हर समय अदिति के आसपास मॅडराने लगे। अब वह पहले वाली पत्नी को उतना प्यार न करते, उसके पास कम जाते, उसकी चिन्ता न करते। बडी पत्नी को यह सब अखरने लगा। सताने लगा। परेशानी बढती गई। धीरे-धीरे अदिति की चलने लगी। दिति को अनेक बार अवहेलना सहनी पडी। दिलो मे दरारे पडने लगी। शान्त वातावरण मे कोलाहल होने लगा। घर की शान्ति मे हलचल बढने लगी।

एक के बाद एक, अदिति के भी बच्चे होने लगे। वह अनेक बच्चो की मॉ बन गइ। बच्चो को पिता का पूरा प्यार मिले, इस बात का वह खास ध्यान रखती। जहॉ कमी आने लगती, तनकर खडी हो जाती। बच्चो को इन्माफ दिलाती। उनकी आवश्यकताएँ पूरी करवाती। पिता भी इन बच्चो की हठ के आगे तुरन्त झुक जाते। इससे अदिति का मन बल्लियो उछलने लगता। इन बच्चो को 'देवता' कहा जाने लगा। अब प्रजापति खुश थे। अदिति खुश थी। देवता खुश थे। उनके लिए हर कदम पर खुशी-ही-खुशी थी। दिति के पुत्र 'दानव कहलाए जबकि अदिति के पुत्र आदित्य (देवता) कहलाने लगे।

मगर दिति की खुशियॉ छिन चुकी थी। उसकी सन्तानो की, असुरो की प्रमन्नता मे कमी आ चुकी थी। पिता तो उनकी ओर ध्यान ही न देते। जब बडे भाइ (असुर) देखते कि छोटे भाइयो (देवताओ) की हर जरूरत पूरी हो जाती है तो उनका मन भी खराब होने लगता। जब उन्हे पहले जेसा प्यार न मिलता तो वे बगावत करने पर उतारू हो गए। मॉ दिति भी तो देख रही थी। भेदभाव सामने दिखाइ दे रहा था। उसके पुत्रो की एक भी न सुनी जा रही थी। न मानी जा रही थी। उसने भी बच्चो को समझाकर पिता के पास भजना आरम्भ कर दिया।

असुर जाते। देवताओ के विरुद्ध बाते कहते। उन पर हो रही लगातार कृपा की शिकायत करते। उनकी सुनी तो जाती, मगर कोइ रास्ता न निकलता। उनकी शिकायता का निवारण न होता। जब वे अपने आपको अकेला पाते तो उनके मन म बगावत उठती। बडे तो थे ही वे। मोका पाकर छाटो की पिटाई कर देते। असुर स दवता पिटने लगे। अब देवता इकट्ठे होकर प्रजापति-पिता के पास जाते। असुरो द्वारा की गइ पिटाई का जिक्र करते। शिकायत लगाते। अपने मन का गुबार निकालते। असुरो की प्रताडना करन को कहते। पिता उन्हे भी समझा-बुझाकर लाटा देते।

आज एक की शिकायत का समाधान होता तो कल दूसरी शिकायत खडी कर दी जाती। कही कुछ तो कभी कुछ। कलह बढती गई। दोनो मे फिर से प्रेम

होने के कोइ आसार नजर न आ रहे थे। असुरा तथा देवताओ मे दूरियाँ बढी कलह बढी। झगडे बढे। मरने-मारने तक की नौबत आन वनी।

दानो ओर से बच्चे नौजवान हा गए। असुर जरा बड थ। देवता छोटे। मगर थे सभी युवक। शक्तिशाली तथा अपने भले-बुरे का स्वय निर्णय करने की स्थिति मे। अब दोनो की माताएँ आयु म भी कुछ वडी हो चकी थी इसीलिए वेटो को कह दिया–'अब तुम बच्चे नही रहे। कव तक हमारी अगुली पकडकर चलोगे। अपने झगडे स्वय नबेडो। अपने भविष्य की स्वय चिन्ता करो। अपने भले-बुरे का स्वय फेसला करो। हमारे पास आने की जरूरत नही। हम भी तो वृद्धावस्था को पा रही हे। हमे चेन से रहने दो। शेष समय आराम स काटने दो। तुम दोनो ओर से भाई हो। एक ही पिता की सन्ताने हो। अपनी राह स्वय बनाओ। भविष्य मे हमे परेशान मत किया करना।'

इस प्रकार से कुछ मिलती-जुलती सलाह दी दोनो ने। दोनो माताओ से नए निर्देश पाकर, युवक हो चुके असुरो तथा देवताओ ने अपना भाग्य स्वय बनाने तथा एक दूसरे को नीचा दिखाने का निर्णय कर लिया। मरने-मारने का फेसला कर लिया। थे तो भाइ-भाई। प्रेम होता तो बहुत ज्यादा। शरीक थे एक-दूसरे के। एक ही पिता की सन्ताने। कुछ कर गुजरने पर उतारू।

कहानी के इस बिन्दु पर पहुँच जाने पर यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त जरूरी है कि असुर सीधे-सादे थ। शरीर से बेहद बलवान। उनकी बुद्धि बडी तीव्र न थी। बात को बडी गहराई से न देखते, न सोचते। मन मे अधिक छल-कपट भी न पालते। जो बात मन मे आती, वही होठो पर भी। सख्या म असुर अधिक थे। देवता कम।

मगर देवता सीधे न थे। टेढी बात करते। टेढा सोचते। मन मे भी टेढापन था उनके। शरीर से वे कमजोर थ। असुरो से कम ताकतवर। मगर अपना काम चालाकी से निकालना जानते थे। मौका पडने पर किसी की पीठ म छुरा भी घोपना पडे, तो भी घोप देते। मतलब यह कि वे अपना काम किसी-न-किसी प्रकार से निकाल लेते। बुद्धि से तीव्र होने के कारण हर-फेर करन का भी स्वभाव था देवताओ का।

देवता अक्सर रोते-चीखते ओर असुरो की शिकायत लगाते। वे तो आदत से ही शिकायती बन गए। असुरो मे कमियाँ ढूँढना उन्हे बहुत अच्छा लगता। जितनी सहायता की पुकार देवता करते, उतनी असुर नही। देवता दूसरो का सहारा पाने, सहयोग तथा सहानुभूति पाने के लिए पापड बेलते, जबकि असुर अपने दम पर जीना चाहते थे। उन्हे गिडगिडाना नही आता था। हाथ फैलाना उन्हे अच्छा नही लगता था। मदद की पुकार वे बहुत कम करते। अपने बाहुबल पर अपना

मतलब निकाल लिया करते। अपन झझटो से स्वय निपटना जानते थे। वे मानत थ कि प्राधीन मपन सुख नही हे। अत वे हिम्मत वाले थे।

देवता सदा सहायता की पुकार किया करते। उन पर प्रजापति का भी जल्दी तरम आ जाता। वह भी देवताआ का रक्षा के अनेक प्रयत्न करत। याजनाएँ बनात। उनका मरक्षण देत। यही स खीचातानी शुरू हो जाती। असुरो को प्रजापति द्वारा दवताआ की सहायता अखरती। बुरी लगती। व अपने आपको असहाय न दखना चाहत थे। अत अपनी सहायता आप करने के इरादे से लड-भिड जात। हाथ उठाते। हथियार चलाते। अपना बचाव करते। कई बार तो पिता प्रजापति भी दखते रह जाते।

दवताओ का स्वभाव शक्की था। शकालु बने रहते। चेहरे पर उदासी छाई रहती। जब भी उन्ह पता चलता कि असुर चहल-कदमी कर रहे हे। हँस-कूद रहे ह। शार-शराबा मचा रहे हे ना यह सब देवताओ से सहन न होता। बल्कि वे डर जाते। भयभीत हो उठते। उन्हे लगता कि असुर कही छलॉग न लगा दे। उन्हे घेर न ले। उन पर आक्रमण न कर दे। उनके सुख-वैभव को हथिया न ले। बस इसी सोच स चिन्ता से वे घबरा उठते। परेशान हो जाते। ओर तरह-तरह की योजनाएँ बनाने लगते। अपने बचाव की तरीकबे निकालते। असुरो से बचाव कर, फिर उन्हे किसी रणनीति के अन्तगत घेरकर उन्हे नीचा सिखाने की योजनाएँ बनाते। इसी मे उनका बहुत सारा समय व्यथ मे चला जाता। सच तो यह हे कि देवता सदा असुरक्षा की भावना मे ग्रस्त रहते ओर फिर अपने बचाव मे उलझे। इसी प्रकार उनका जीवन व्यतीत हो रहा था।

जबकि असुर ईर्ष्यालु न थे। शकालु न थे। मौज-मस्ती मे रहते। उनके मन मे असुरक्षा की भावना तो पनपती ही न थी। वे अधिक चिन्ता भी न करते। जैसा समय आता, उसी के अनुसार खडे हो जाते। मौका सँभालना आता था असुरो को। न अधिक डरते, न ही घबराते।

देवता अपने भाइयो, एक ही पिता की सन्तानो, असुरो से सदा क्षुब्ध रहते। खफा रहते। उनसे घृणा करते। उन्हे हीन-दीन मानते। उनको नीचा दिखाने के तरीके ढूँढते। उनको परास्त करने के लिए तरह-तरह के उपाय ढूँढते। इन उपायो मे यदि छल-कपट भी करना पडता तो वे जरा भी न झिझकते। यहॉ पर यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि अनेक बुराइयॉ तो देवताओ ने ही पैदा की। असुरो को नीचा दिखाने के लिए बहुत-सी बुराइयो को देवताओ ने जन्म दिया। ओर फिर असुरो की बारी होती। देवताओ द्वारा खडी की अनेक मुसीबतो का मुकाबला करने के लिए बहुत-सी बुराइयॉ उन्होने भी पैदा कर दी। जितनी बुराइयॉ देवताओ ने पेदा की, उतनी ही असुरो ने भी। आज जिन बुराइयो से हम घिरे है,

होने के कोई आसार नजर न आ रहे थ। असुरो तथा देवताओ मे दूरियाँ बढी कलह बढी। झगडे बढे। मरने-मारने तक की नोबत आन बनी।

दाना ओर स वच्चे नौजवान हो गए। असुर जरा बडे थ। देवता छोटे। मगर थ सभी युवक। शक्तिशाली तथा अपने भले बुरे का स्वय निर्णय करने की स्थिति मे। अब दोनो की माताएँ आयु मे भी कछ बडी हो चकी थी इसीलिए बेटो को कह दिया—'अब तुम बच्चे नही रहे। कब तक हमारी अगुली पकडकर चलोगे। अपने झगडे स्वय नबेडो। अपने भविष्य की स्वय चिन्ता करो। अपने भले बुरे का स्वय फेसला करो। हमारे पास आन की जरूरत नही। हम भी तो वृद्धावस्था को पा रही है। हमे चैन से रहने दो। शेष समय आराम स काटने दो। तुम दानो ओर से भाई हो। एक ही पिता की सन्ताने हो। अपनी राह स्वय बनाओ। भविष्य मे हमे परेशान मत किया करना।'

इस प्रकार से कुछ मिलती-जुलती सलाह दी दोनो ने। दोनो माताओ से नए निर्देश पाकर, युवक हो चुके असुरो तथा देवताओ ने अपना भाग्य स्वय बनाने तथा एक दूसरे को नीचा दिखाने का निर्णय कर लिया। मरने-मारने का फेसला कर लिया। थे तो भाई-भाई। प्रेम होता तो बहुत ज्यादा। शरीक थे एक-दूसरे के। एक ही पिता की सन्तान। कुछ कर गुजरने पर उतारू।

कहानी के इस बिन्दु पर पहुँच जाने पर यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त जरूरी है कि असुर सीधे-सादे थ। शरीर से बेहद बलवान। उनकी बुद्धि बडी तीव्र न थी। बात को बडी गहराई से न देखते, न सोचते। मन मे अधिक छल-कपट भी न पालते। जो बात मन मे आती, वही होठो पर भी। सख्या मे असुर अधिक थे। देवता कम।

मगर देवता सीधे न थे। टेढी बात करते। टेढा सोचते। मन मे भी टेढापन था उनके। शरीर से वे कमजोर थ। असुरो से कम ताकतवर। मगर अपना काम चालाकी से निकालना जानते थे। मौका पडने पर किसी की पीठ मे छुरा भी घोपना पडे, तो भी घोप देते। मतलब यह कि वे अपना काम किसी-न-किसी प्रकार से निकाल लेते। बुद्धि से तीव्र होने के कारण हेर-फेर करने का भी स्वभाव था देवताओ का।

देवता अक्सर रोते-चीखते और असुरो की शिकायत लगाते। वे तो आदत से ही शिकायती बन गए। असुरो मे कमियाँ ढूँढना उन्हे बहुत अच्छा लगता। जितनी सहायता की पुकार देवता करते, उतनी असुर नही। देवता दूसरो का सहारा पाने, सहयोग तथा सहानुभूति पाने के लिए पापड बेलते, जबकि असुर अपने दम पर जीना चाहते थे। उन्हे गिडगिडाना नही आता था। हाथ फैलाना उन्हे अच्छा नही लगता था। मदद की पुकार वे बहुत कम करते। अपने बाहुबल पर अपना

मतलब निकाल लिया करते। अपन झझटो से स्वय निपटना जानते थे। वे मानते थ कि प्राधीन सपन सुख नही है। अत वे हिम्मत वाले थे।

दवता सदा सहायता की पुकार किया करते। उन पर प्रजापति को भी जल्दी तरस आ जाना। वह भी देवताआ की रक्षा के अनेक प्रयत्न करते। योजनाएँ बनाते। उनको सरक्षण देते। यही स खीचातानी शुरू हो जाती। असुरो का प्रजापति द्वारा दवताआ की सहायता अखरती। बुरी लगती। वे अपने आपको असहाय न दखना चाहते थ। अत अपनी सहायता आप करने के इरादे स लड-भिड जाते। हाथ उठाते। हथियार चलाते। अपना बचाव करते। कई बार तो पिता प्रजापति भी दखते रह जाते।

दवताओ का स्वभाव शक्की था। शकालु बने रहते। चेहरे पर उदासी छाई रहती। जब भी उन्हे पता चलता कि असुर चहल-कदमी कर रहे हे। हॅस-कूद रहे ह। शोर-शराबा मचा रहे हे ता यह सब देवताओ से सहन न होता। बल्कि वे डर जाते। भयभीत हो उठते। उन्हे लगता कि असुर कही छलॉग न लगा दे। उन्हे घेर न ले। उन पर आक्रमण न कर दे। उनके सुख-वेभव को हथिया न ले। बस इसी सोच से चिन्ता से वे घबरा उठते। परेशान हो जाते। और तरह-तरह की योजनाएँ बनाने लगते। अपने बचाव की तरीकबे निकालते। असुरो से बचाव कर, फिर उन्हे किसी रणनीति के अन्तर्गत घेरकर, उन्हे नीचा सिखाने की योजनाएँ बनाते। इसी मे उनका बहुत सारा समय व्यर्थ मे चला जाता। सच तो यह है कि देवता सदा असुरक्षा की भावना मे ग्रस्त रहते और फिर अपने बचाव मे उलझे। इसी प्रकार उनका जीवन व्यतीत हो रहा था।

जबकि असुर ईर्ष्यालु न थे। शकालु न थे। मौज-मस्ती मे रहते। उनके मन मे असुरक्षा की भावना तो पनपती ही न थी। वे अधिक चिन्ता भी न करते। जैसा समय आता उसी के अनुसार खडे हो जाते। मौका सॅभालना आता था असुरो को। न अधिक डरते, न ही घबराते।

देवता अपने भाइयो, एक ही पिता की सन्तानो असुरो से सदा क्षुब्ध रहते। खफा रहते। उनसे घृणा करते। उन्हे हीन-दीन मानते। उनको नीचा दिखाने के तरीके ढूँढते। उनको परास्त करने के लिए तरह-तरह के उपाय ढूँढते। इन उपायो मे यदि छल-कपट भी करना पडता तो वे जरा भी न झिझकते। यहॉ पर यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि अनेक बुराइयॉ तो देवताओ ने ही पैदा की। असुरो को नीचा दिखाने के लिए बहुत-सी बुराइयो को देवताओ ने जन्म दिया। और फिर असुरो की बारी होती। देवताओ द्वारा खडी की अनेक मुसीबतो का मुकाबला करने के लिए बहुत-सी बुराइयॉ उन्होने भी पैदा कर दी। जितनी बुराइयॉ देवताओ ने पैदा की, उतनी ही असुरो ने भी। आज जिन बुराइयो से हम घिरे हे,

जिन बुराइयो के हम शिकार हे, ये सब प्रजापति की सन्तानो द्वारा दी गई है। कारण कुछ भी रहे हो, मगर बुराइयो को जन्म तो मिला ही।

वाणी तो सदा सत्य बोलने के लिए बनी है। मगर इन दोनो के झगडो ने वाणी से झूठ भी बुलवा दिया। कान सदा अच्छा-अच्छा सुनने के लिए बनाए गए थे मगर इन दोनो भाइयो के कारण कान बुरा भी सुनने लगे। ऑखो ने तो शुभ-शुभ ही देखना था, मगर एक पिता की इन दो प्रकार की सन्तानो ने उन्हे बुरा देखना ओर आनन्दित होना सिखा दिया। यह इन दानो की मेहरबानी का परिणाम है। इसमे भी विद्वानो का मत है कि पहल देवता करते, फिर असुर पीछे न रहते। इस प्रकार अनेक बुराइयॉ आ गई।

दिन-रात योजनाएँ बनती। देवता चाहते कि असुरो क दॉत खट्टे हो। वे लज्जाजनक स्थिति मे पहुॅच जाएँ। उनको नीचा दखना पडे। इस उद्देश्य को पाने के लिए तरकीबे सोची जाती। रास्ते निकाले जाते। ढग तलाशे जाते।

एक बार सभी देवता-भाई चिन्ता मे थे। उपाय ढूँढते। उन पर चिन्तन करते। लाभ-हानि की सोचते। जो अच्छा लगता, जो जॅच जाता, उसे अपना लेते। इसी क्रम मे उन्हे पता चला। योजना हाथ लगी। असुरो को पराजित करने का एक नवीन तरीका था यह। 'सामगान' से उन्हे हराया जा सकता था। 'उद्‌गीथ' स असुर पराजित हो सकते थे। बताने वाले ने यह विश्वास दिला दिया कि यह योजना कभी असफल नही हो सकती। आजमाकर देख ले।

कौन करे यह काम ? अब यह सोच थी। यह चिन्ता थी। चिन्ता के लिए हल भी नजर आ गया। यह कार्य वाणी कर सकती थी। इस बात का देवताओ को विश्वास हो गया। वे वाणी के पास गए। विनयपूर्वक अपनी समस्या बताई। और सहायता मॉगी। 'उद्‌गान' करने की प्रार्थना की। सब देवता-भाई इकट्ठे होकर आए थे। तरीके-सलीके के साथ बात कर रहे थे। अपनी समस्या बताकर सहायता की मॉग कर रहे थे। वाणी का मन पसीज गया। उनकी सहायता का निणय कर लिया। यत्नपूर्वक उनका कार्य सिद्ध करने की सोच ली। मगर वह जानती थी कि देवता सीधे लोग तो हे नही। कही-न-कही भेद रख लेते है। जब इनका स्वभाव ही ऐसा है तो क्यो न उनके साथ उसी प्रकार पेश आया जाए। वे रुष्ट भी न हो। उन्हे सब कुछ सुगमता से भी न मिले। अपनी भी रह जाए। उनकी भी।

इसी विचार ने वाणी को थोडी चालाकी से कार्य करने की प्रेरणा दी। वह भी अपने दिल की बात मानकर चालाकी करने पर उतारू हो आई। देवताआ की प्रार्थना पर वाणी ने उद्‌गीथ का गायन जरूर किया मगर वाणी ने जो वाणी का भोग था उसे देवताओ के लिए गाया और जो कल्याणकारी भाग था वह स्वय

अपने लिए गाया।

जो कुछ भी असुर करते उस पर देवताओ की पेनी नजर रहती। इसीलिए देवताओ की हर हरकत पर असुर भी नजर रखते। गौर से सोचते। देवता आहट भी करते तो असुर जान जाते। भला यह केसे हो सकता है कि देवता एक बडी योजना बनाकर, वाणी का सहारा लेकर, उस योजना को क्रियान्वित भी कर ले और उनके भाइयो को, असुरो का पता न चले। भनक भी न लगे। ऐसा तो हो ही नही सकता था। असुर जान गए। देवताओ के खेल को समझ गए। हो गए चुस्त। उनके किए पर पानी फेरने की सोच डाली। उनके प्रयत्नो को विफल करने का मन बना लिया।

यदि देवताओ ने असुरो को नीचा दिखाने के लिए वाणी का सहयोग लिया तो उन्हे भी ऐसा करने से कौन रोक सकता था। जैसे को तैसा करना जानते थे असुर। अत वे इकट्ठे हुए। अपने भाइयो द्वारा किए काम पर विचार किया। निणय लिया। फिर जा धमके वाणी के पास। अपना दु ख सुनाया। अपना दर्द बताया। एक पिता की सन्तान द्वारा उनके साथ खेली चालाकी का जिक्र किया। वाणी से नम्र भाव से कहा—'यदि आप देवताओ के लिए कुछ कर सकती हो तो हमारे लिए भी कुछ करा। उनका काम बना दिया। हमारा भी बनाओ। नही तो उनका बिगाड दो। तभी हम चैन आएगा।'

वाणी ने असुरो की बात बडे ध्यान के साथ सुनी। गोर किया। लगा कि असुरो के साथ अवश्य ज्यादती हुई है। पर जो होना था, वह तो हो ही चुका था।

जब अमुरो ने देखा कि वाणी उनकी बात ठीक से समझ तो रही है मगर कुछ खास करने को तैयार नही, तो उन्होने वाणी का पाप से अवलिप्त कर दिया। अब वाणी भी लाचार हो गइ। वाणी जो सत्य बोलती थी। जो सदा अच्छी बात कहती थी। जिसका धर्म ही सच बोलना था, वह पाप से अवलिप्त होकर, पापी-सी बन गई। झूठ बोलने लगी। असत्य का सहारा लेने लगी। वाणी ने असत्य भाषण कहने शुरू कर दिए। बिना सिर-पैर की डीगे मारनी शुरू कर दी। अब सत्य के लिए बनी वाणी असत्य को भी अपनाकर, बोलने वाले को भी पापी बनाती जा रही थी। देवताओ के प्रयत्न असफल हुए। असुरो का सिक्का चल गया। अब असुरो का पराजित करने का यह एक रास्ता भी बन्द हो गया। देवता बेहद निराश हो उठ। देवता सुना करते कि वाणी प्रतिकूल कथन भी करने लगी है। अत वे पूरी तरह लाचार हो उठे। असफल भी।

मगर ऐसा हो जाने पर, मौका हाथ से निकल जाने पर देवता चुप तो न बैठ सकते थे। जब उन्होने असुरो के घुटने टिकवाने का निर्णय ले ही लिया था तो आराम से कैसे बैठ सकते थे। हिम्मत हारना उन्होने सीखा न था। एक और प्रयत्न

किया देवताओ ने। इस बार उन्हे सफलता की पूरी आशा थी। वे असफलता को असुरो के सिर पर सजाना चाहते थे। अत इस बार का प्रयत्न उनके लिए बहुत अर्थ रखता था।

सारे देवता-भाई इकट्ठे हुए। विचार-विमर्श करने के पश्चात् व प्राण के पास पहुँचे। शालीनतापूर्वक बात की। अपनी समस्या बताइ। असुरा के बुरे कारनामो का जिक्र किया। उनकी निन्दा की। उनके साथ जुडी अनेक कहानियाँ सुनाइ, जिसस प्राण को कुछ क्रोध-सा आने लगा। असुर प्राणा की नजर से गिर गए। प्राण को असुर बुर लगने लगे। तभी देवताओ ने कह दिया—'आप हमसे सहमत हे। हम बहुत प्रसन्न हुए। हम आभारी रहेगे यदि आप हमारे लिए उद्‌गान करे। आपका यह हम पर अहसान होगा। इनकार मत करना, वरना हमारा दिल टूट जाएगा।'

प्राण ने सब सुना। विचार किया। हामी भर दी। उनकी सहायता के लिए उद्‌गान करना मान लिया। पर जैसा कि प्राण को पता था, देवता बिलकुल सीधे नही। अत वाणी की तरह प्राण ने भी चालाकी खेली। प्राण न भी जो भोग का अश था उसे देवताओ के लिए गाया और जो कल्याण का अश था उसे अपने लिए। जो जिसके बस मे होता है, उसे कर ही लेता है। प्राण ने भी यही किया। खैर। देवता प्रसन्न होकर अपने निवास को लौट गए। निश्चिन्त भाव से।

मगर असुरो के गुप्तचर भी तो हाथ-पर-हाथ रखकर न बेठे थे। उन्होने देवताओ की सब गतिविधियो पर नजर रखी हुई थी। देवताआ का प्राण के पास जाना, प्रार्थना करना, प्राण का सहायता करना असुरो के गुप्तचरो से छिपा न रहा। हर पल की खबर असुरो तक पहुँच रही थी। यह भी पहुँच गई। असुर जान गए कि प्राण ने उनके विरोधियो की सहायता की है। इस सहायता को पाकर देवता फूले न समा रहे थे। मगर यह उनकी भ्रान्ति थी। असुर भी इसके बदले कुछ करने का प्रण कर बैठे।

अब असुरो ने योजना बनाई। एकत्र हुए। प्राण से शिकायत भी की प्रार्थना भी। मदद माँगी। तर्क देकर प्राण को मना लिया। मगर अब प्राण अपने आप कुछ भी न कर सकता था। वह तो देवताओ के लिए उद्‌गान गा चुका था। गाता भी रहेगा। असुर इतने कमजोर तो न थे कि सब कुछ सहन करते जाएँ। उनमे अपनी प्रकार की क्षमता थी। कार्य बना न सकते थे तो बिगाड अवश्य सकते थे। और कर दिया उन्होने बिगाड। बना-बनाया काम खराब। वे प्राण के करीब गए। बिलकुल करीब। उसे भी वाणी की तरह पाप के साथ विद्ध कर दिया। अब प्राण अथवा वायु पाप-युक्त हो गया। स्वच्छ के साथ दूषित भी। तभी तो स्वच्छ वायु के साथ दुर्गन्ध भी पैदा हो गई। जो भी कोई इस दुगन्ध के सम्पर्क मे आता हे। वह भी पापी हो जाता है। इसी मे देवताओ की पराजय तथा असुरो की विजय

निहित हे।

देवताओ को पता चला। असुरो ने उनके इस दूसरे तथा पक्के प्रबन्ध को भा तोड डाला। दवता हाथ मलते रह गए। उन्होने लाख कोशिश की इतना जानने की कि यह रहस्य असुरो नक किस प्रकार पहुँचा। भेद केसे खुला। किसने बताया असुग का। मगर उन्हे इस भेद के खुलने का कुछ पता न चला।

निराश हुए कुछ देवता, अपने कमरो म जा छिपे। चारपाइयो पर जा लेटे। अब कुछ नही हा सकता। हम कुछ नही कर सकते। देवता इस प्रकार के निराशावादी विचारो मे घिरते चले गए। अचानक एक देवता को आशा की किरण दिखाई दी। उसका उत्साह बढ गया। वह उठा। नई रोशनी प्राप्त कर एक-एक दवता-भाइ के पास पहुँचा। उनको अपने मन की बात कही। उन्हे एक और प्रयत्न करने की सलाह दी। यदि वे दो बार असफल हो चुके है तो क्या, इस बार अवश्य कामयाब हागे। उसे पूरी उम्मीद थी। उसके कहने का सब भाइयो पर असर होता चला गया। सब देवता मिल बैठे। विचार किया। पहुँच गए चक्षु के पास। कुछ भूमिका बनाने, अपना दुखडा सुनाने के बाद उन्होने चक्षु को भी राजी कर लिया। उसे उद्गान गाने को कहा और उसने भी उनका कार्य कर, उन्हे प्रसन्नचित्त लौट जाने को कहा। वे भी फूला न समाए। खूब खुश हुए। अब असुर कुछ नही कर सकते। अब उन्हे पता नही चलेगा। यह रहस्य बना रहेगा। वे सोचते रहे।

देवता नही जानते थे कि वाणी तथा प्राण की भॉति चक्षु ने भी चालाकी से काम लिया था। उसने भोग अश को देवताओ के लिए देखा और कल्याण अश को अपने लिए।

देवता चाहे जितना मर्जी रहस्य बनाए रखते, असुरो को तो सब कुछ जानना ही था। जान भी गए। इस बार उन्हे देवताओ पर बहुत क्रोध आया और उन्हे जान से मारकर चेन लेने की भी सोच ली। पर नही उन्ही मे से किसी ने कहा—'यदि प्यार से काम निकलता हो तो खून-खराबा क्यो करना। चलो हम भी चलते हे चक्षु क पास। जब उसने देवताओ को अपकृत किया है तो हमे भी करेगा।' वे पहुँच गए चक्षु के पस। कुछ इधर-उधर की बाते की। मौका हाथ मे लगते ही उसे मलिन कर डाला। अब चक्षु मलिन थे। पापी थे। जो सम्पर्क मे आता वह भी पापी होता गया।

(चक्षु) ऑखो से सदा प्रिय दृश्य देखे जाते है। हमेशा पवित्र चीजो का नजारा लिया जाता है। ये बनी ही है अच्छा-अच्छा देखने और अनुभव करने के लिए। मगर असुरो के प्रयत्न से इन्होने अच्छे के साथ बुरे दृश्य भी देखने आरम्भ कर दिए। अब ऑखो से कुछ ऐसी भी वस्तुऍ देखी जाने लगी जो अदर्शनीय थी। जो भी कोई ऐसे दृश्य देखता है वह पाप का भागी बनता है। अत ऑखे वैसी

न रही, जेसी होनी चाहिए थी, अथवा जैसी देवताओ ने कामना की। एक बार फिर देवताओ की दाल न गली। असुर भारी पडने लगे।

देवता फिर उठे। एक और कोशिश करने का पक्का इरादा कर जा पहुँचे कानो के पास। उन्हे भी कहा कि वे देवताओ के लिए उद्‌गान करे। कान मान गए। देवता सफल हुए। इस बार कान ने भी बाकी तीनो की तरह भोग अश को देवताओ के लिए सुना तथा कल्याण अश को अपने लिए।

इसमे कोई शक नही कि देवता अपना हर कदम बडे ध्यान के साथ उठा रहे थे। मगर असुर भी उनके बडे भाई थे, बाप निकले। सब जान गए। कान को कुछ ऐसा किया कि वह अच्छी चीजो के साथ बुरी चीजे, बुरी बाते भी सुनने लगा। इसके कारण उसके विचार भी बुरे हो उठते है। अच्छी बात सुनकर अच्छे विचार आना, और बुरी बात सुनकर बुरे विचार आना शुरू हो गया। असुरो की पीठ लगाने का इरादा फिर धराशायी हो गया। देवता हाथ मलने लगे।

देवताओ का निश्चय था कि वे असुरो को पराजित करे। इसी विचार से यह चूहे-बिल्ली का खेल शुरू हुआ। देवता योजना बनाता। शरीर के कभी एक अग का सहारा लेता तो कभी दूसरे का। जबकि असुर इसके विपरीत चलकर, उनके प्रयत्न असफल कर देते। सब गुड गोबर हो गया। वास्तव मे कोशिश करते देवता। वही बुराई का कारण बनते। मगर बुराई मिलती रही असुरो को। देवता बचते रहे, जबकि असुर बदनाम होते रहे। शायद उनके भाग्य मे ही यही लिखा था। उनके लिए यह विडम्बना थी। असुर क्या करते ! अपने बचाव मे, अपनी रक्षा मे, अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए ही उन्हे शरीर के अनेक अगा को पापविद्ध करना पडा। अन्यथा देवता विजयी हो जाते। असुर पराजित।

देखिए ! यहाँ कुछ विशेष सामने आता है। एक दर्शन ! ले-देकर अपना काम निकालने का दर्शन। आज की राजनीति भी 'ले-दे' पर टिकी है। समझौतो पर निर्भर है। कहानीकार को असुर अच्छे नही लगे होगे। उनकी हर कदम पर बुराई करते गए। सारा दोष उनके सिर पर मढते गए। देवताओ का गुणगान कर लिया। उनकी प्रशसा ही प्रशसा। भला क्यो ?

रचनाकार के मन मे एक बात बैठ गई होगी। देवता ही प्रजापति को प्रिय है। उनकी सीधी पहुँच प्रजापति तक है। प्रजापति के बाद किस चीज की कमी है। जब देवता, प्रजापति के प्रिय पुत्र, किसी की सिफारिश करेगे तो वह सुनेगे ही। अवश्य कृपा करेगे। काम बन जाएगा उनका। जिनकी सिफारिश से काम बनना हो, यदि उनकी स्तुति कर ली जाए तो समझो पौ-बारह। काम बना कि बना। किस्मत चमकी कि चमकी। इसी विचार को लेकर लगता है तब के उपनिषद्‌काल के कहानीकार ने देवताओ से हाथ मिलाया। उनकी प्रशसा की। असुरो को

बुरा-भला कहने तथा उनके माथे कलक थोपने से देवता प्रसन्न होने ही थे। अत 'ले-दे' की नीति अपनाकर कवि ने, रचनाकार ने, लेखक ने या फिर कहानीकार ने देवताओ का पक्ष लिया। असुरो को बुरा कहा। इस प्रकार पक्षपात करने का आरोप लगाते है कुछ लोग।

अुसर नही चाहते थे कि उन्हे धोखे से पराजित करे। हेर-फेर करे। छल-कपट करे। शरीर के अगो के पास जाकर अपने लिए उद्गान का प्रबन्ध करे। यदि जीत-हार का मजा लेना ही है तो सीधे मैदान मे आएँ। आमने-सामने खडे हो। बाहुबल का प्रयोग करे। हराना है तो शारीरिक शक्ति दिखाकर हराएँ। मिली-भक्ती से नही। ले-देकर नही। इसीलिए छल के बदले छल करने का फैसला लिया असुरो ने। शरीर के अगो को पाप से मलिन करना पडा उन्हे। अन्यथा शरीर अपनी जगह बना रहता। अग अपना निर्धारित कार्य करते। अच्छा बोलते अच्छा सोचते, अच्छा सुनते, अच्छा देखते, इसमे असुरो को कोई परेशानी न थी। परेशानी तो तब हुइ जब वे देवताओ के झॉसे मे आकर, एकतरफा चल पडे और असुरो की पराजय का कारण बनने लगे।

जिसे आज रिश्वत कहकर पुकारा जाता है, इसकी नीव भी उसी जमाने मे रख दी गई थी। उपनिषद्काल मे। इसमे कोइ सन्देह नही होना चाहिए। हॉ लेखक ने इसे 'उपहार' शब्द दिया। उपहार देकर काम चलाना शुरू हुआ था उस काल मे। स्वय देवता भी अपने पिता प्रजापति को प्रसन्न करने के लिए सुगान के साथ 'उपहार' भेट करते। समय, असमय पर उपहार दिए-लिये जाने लगे। मन मे सहानुभूति पेदा हो जाती ओर सामने वाला 'साफ्ट' होकर, नर्म-हृदय बनकर कार्य कर देता। काम बना दता। आज यही 'रिश्वत' के रूप मे प्रयोग होती हे। न हो सकन वाले कार्य भी हो जाते हे। कलम की धार कुछ यो मोड दी जाती है कि न बनने वाला कार्य भी बन जाता हे।

उस समय उपहार नथा पूजा के नाम पर भेट चढाने का सिलसिला जारी हो गया था। अपन आपको शारीरिक रूप से असुरो से कमजोर मानकर देवता शरीर के विभिन्न अगो से जा मिला। उनकी स्तुति की। उनकी प्रशसा की। अपना काम निकाल लेना चाहा। तब के रचनाकार ने कहा है कि देवता क्या करते। 'आत्मरक्षा' मे ही उन्हे ऐसा करना पडा। मेरे भाइ । यह छूट देवताओ को तो दे दी मगर असुरो को नही दी। और फिर यहॉ आत्मरक्षा मे मिली-भगती, या लुकछिपकर शरीर के अगो से उद्गान को कहना तो जरूरी था ही नही। पराजित करना था असुरो को। जाते। पराजित करते। उनका मुँह तोडते। हाथ-पॉव फोडते। छाती चीरते। घुटने टिकवाते। पीठ लगवाते। कौन रोकने वाला था। मगर नही। अपने आपको असुरो के सामने कमजोर पाकर ही तो 'शरीर के अगो' का सहारा लिया। इसके लिए पहल भी तो

देवताओ ने की। यह चाल भी तो उन्होने चली। 'आत्मरक्षा' वाली बात तो उनके हक मे जाती ही नही। बल्कि जो कुछ भी असुरो ने किया, बाद मे किया। आत्मरक्षा मे किया। शरीर के अगो को मलिन कर दिया—यह था 'आत्मरक्षा' मे उठाया गया कदम। न कि उन्होने शुरूआत ही की। उन्होने तो पहल की ही न थी। पहल की देवताओ ने। और फिर हमे मिला मलिनता से भरा शरीर। पाप-युक्त। अन्यथा शरीर के अगो का ऐसा स्वभाव तो था ही नही।

बात यहॉ भी खत्म नही हुई। कभी न हार मानने वाले, और जीत की स्थिति मे न पहुँच पाने वाले देवता फिर कटिबद्ध हो गए कुछ और करने को तत्पर। फिर पहुँचे शरीर-देव के पास। मुख मे स्थित प्राण के पास। उससे फिर नम्र निवेदन कर दिया। अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन किया। असुरो को हराने की ललक का जिक्र किया। अपनी 'विजय' दखने की इच्छा प्रकट की। मुख मे स्थित प्राण से निवेदन किया कि वह उनके लिए उद्‌गान करे। प्राण के सम्मुख अनुरोध था। मीठे शब्दो मे कही मॉग थी। उसे भी सोचना पडा। सोचा नतीजा देवताओ के हक मे गया। मुखस्थ प्राण ने 'हॉ' कह दी। भर दी हामी। मान गया। और देवताओ की मनोकामना पूरी कर दी। लगा गुणगान करने। उद्‌गान करना आरम्भ हो गया।

असुरो को पहले तो कुछ पता ही न चला। मगर वातावरण मे कुछ परिवर्तन देखकर उनका माथा ठनका। उन्हे लगा कि देवताओ ने कोई और चाल चल दी है। कोई तीर चला दिया है। कही परस्पर समझौता कर लिया है। वे किसी से जा मिले है। इस विचार के मन मे आते ही असुरो की भाग-दौड आरम्भ हो गइ। कारण जानने के लिए वे बेचेन हो उठे। इधर-उधर गए। सबको मिले। गुप्तचरो द्वारा तैयार की रिपोर्ट का ध्यान से अध्ययन किया। और पहुँच गए सही स्थान पर।

सब कुछ जान लेने के बाद असुर भी मुख मे स्थित प्राण के पास पहुँचे सवाद हुआ। बहस हुआ। खूब चर्चा की। मगर जब असुरो को लगा कि सीधी अॅगुली से घी नही निकलने वाला तो उन्होने भी अगुली टेढी कर ली। घी तो निकालना ही था। अपना काम तो बनाना ही था। आत्मरक्षा की चिन्ता जो थी। उन्होने आव देखा न ताव, मुखस्थ प्राण को भी पाप से विद्ध कर दिया। कर डाला मलिन। इसके अतिरिक्त असुरो के पास और कोई चारा भी तो न था। मरते क्या न करते। अपनी पराजय को रोकने के लिए यह जरूरी था। किया भी। अब मुख मे स्थित प्राण भी पापयुक्त हो गया। असुरो ने ऐसा किया। लाचारी मे समझे।

चमडे का सिक्का एक आध बार ही चल सकता है अथवा एक-दो दिनो के लिए। काठ की हॅडिया मे दाल एक-दो बार ही पकाई जा सकती हे। भला आग पर इसे बार-बार चढाना कहॉ सम्भव होता है। यहॉ भी वही हुआ। असुरो ने

मुखम्थ प्राणा का पाप स मलिन जरूर किया, मगर यह चाल उलटी पडी। लाभ की जगह हानि झलनी पडी। ऐसा करने से असुर ध्वस्त हो गए। दवताओ की प्रसन्नता की कोइ सीमा न थी। यही तो वह चाहते थे। असुरो को इस बार मुखस्थ प्राण का पापयुक्त करना रास न आया और विजयश्री मिली देवताओ को। उनकी अभिलाषा पूण हो गइ। जीत अच्छे काय की होनी चाहिए। असुरो की कार्य-प्रणाली ठीक न थी। अत अन्त मे विजय देवताओ को मिली। कहानीकार ने अपने कहानी का यह सुखद अन्त दकर अच्छाई की जीत' की शिक्षा दी है।

विद्वानो का मानना हे कि उपनिषदो पर आधारित इस कहानी मे दर्शन छिपा हे। यह मीधी-सादी दो भाइया की कहानी नही। एक ही पिता के दो पुत्र-वर्गो की कथा नही। इसका हमारे शरीर से सीधा सम्बन्ध है। बिम्बो पर आधारित है यह उपनिषदो की कहानी। ऐसा विद्वानो का कहना हे।

प्रजापति ओर कोइ नही, हमारा अपना शरीर है। दिति और अदिति, दो रानियॉ ओर काइ नही, हमारे शरीर मे विद्यमान बुद्धि और आत्मा है—जो प्रजापति को अथात् हमारे शरीर को बहुत प्रिय है। जिन्हे असुर कहा गया है, वे और कोई नही, हमारे शरीर मे मनुष्य द्वारा पेदा की गइ जेव प्रवृत्तियॉ ही है। असुर बडे थे। अथात् ये प्रवृत्तियॉ अधिक प्राचीन तथा अधिक शक्तिवान थी। है भी। देवता जिन्हे कहा गया हे वे भी बिम्ब रूप मे दशाए गए है। यह अन्तश्चेतना माने। सद्प्रवृत्तियॉ माने। मन मे उठे अच्छे विचारो का प्रतीक माने। हृदय मे जगे पवित्र विचार ही देवता माने। यही उद्देश्य था उस समय के रचनाकार का। ऐसा सभी मानन लग हे। यदि यही ठीक मान ले तो पहले कही गई पक्षपात वाली बात भी अ्थहीन हा जाती हे।

माना जाना ह कि हमारे शरीर मे विद्यमान बुरे विचार, जैव-प्रवृत्तियॉ, असुर-रूपी चेतना हमारे लिए, हमारे उत्थान के लिए, हमारे शरीर के लिए बाधक हे। आत्मा का मलिन रखना चाहती हे। इसको बचाना, इसे शुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक हे। देवतारूप आत्मा मे निहित उच्च विचार, शुद्धिकरण की इच्छा इन बुराइओ का दबाने के लिए बार-बार प्रयत्न करते हे ओर अन्तत सफल हो जाते हे। बुर विचारो का अन्त होता हे। जीत अच्छाई की होती है। यही उद्देश्य हे इस कहानी का। यही दशन छिपा है इस उपनिषद् की कथा मे। बुरी असुरी, जैव प्रवृत्तियो का दमन करना ही यहॉ ज्ञान की बात है। उनको अनुशासित रखना ही कहानी का ध्येय हे। ऐसे अधम विचार नियन्त्रित रहकर, धीरे-धीरे समाप्त हो जाऍ, यही लक्ष्य हे कहानीकार का। कहानीकार का मानना है कि यदि बार-बार, निरन्तर प्रयत्न होते रहे तो बुराई ही अन्तत समाप्त होती है। अच्छाई ही विजयी होती हे।

मनुष्य अपने आत्मिक उत्थान के लिए सदा प्रयत्नशील रहे, कटिबद्ध बना रहे, बुराइयो का दमन करता चले, सयम से काम ले, हिम्मत न हारे, एक-न-एक दिन अवश्य सफल होगा। यही हमे प्रेरणा दी गई है। यही शिक्षा है इस कहानी मे। हॉ, यदि मनुष्य अच्छा न बनना चाह, सुधार के प्रयत्न न करे, बुरे विचारो के दमन की चिन्ता न करे तो मनुष्य पर बुराई भारी पडती है। हावी हो जाती है। अच्छाई को ही मुॅह की खानी पडती है, क्योकि अच्छाई की भावना प्रबल नही। प्रयत्नो मे कमी रह जाती है।

यह कथा आन्तरिक द्वन्द्व की ही होगी। यही मन को अच्छा लग रहा है। मनुष्य के दिल मे अच्छाई और बुराई—दोनो के द्वन्द्व। दोनो मे युद्ध। आन्तरिक लडाई। बुराई चाहती है मै विजयी रहूॅ, जबकि अच्छाई चाहती है—उसका वर्चस्व बने। बुरे विचार पराजित हो। अच्छे विचार उभरे। ऊपर आऍ। सफल हो। बुरी, जैवी प्रवृत्तियो का दमन हो, यही है द्वन्द्व।

मगर वाणी को ले, प्राण को ले, कान की बात करे, मुख का जिक्र करे, सभी ने देवताओ के लिए उद्गान तो किया, मगर एक तीसरी वस्तु को छिपा लिया। अपने कल्याण वाले भाग को सब अगो ने छिपाए रखा। सारी कहानी मे इसका वर्णन आता है। नैतिक विवेक और जैवी प्रवृत्तियो मे द्वन्द्व की बात तो समझ मे आ गई। मगर यह तीसरा काय, तीसरी वस्तु क्या थी जिसे सबने छिपा लिया। अपने लिए रखा। 'कल्याण' वाला भाग, तीसरा पक्ष क्या हुआ। यह है अब समस्या। इसे है जानना। हर बार तीन विभाग हुए। कल्याण वाला अपने पास। एक भाग उद्गान वाला देवताओ का बताया गया है तथा दूसरा पापयुक्त असुरो का।

एक विद्वान् का मानना है, यह और कुछ नही, हमारी हिन्दू सस्कृति मे तीन के अक की महत्ता को दर्शाया गया है। ग्रन्थ भी तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, त्रिदेवो की बात करते है। भारतीय मानस मे भी या तो तीन भागो मे बॉटना पढने को मिलता है या फिर तीन गुणा। इस अक को भाग्यशाली मानते हुए ही कहानीकार ने शरीर के हर अग को तीन भागो मे दर्शाया है। यही सम्भव लगता है। यही विचार सही प्रतीत होता है। त्रिदेव बताए गए है—तीन देव। तैतीस को भी पढा जाता है। तेतीस करोड का भी वर्णन मिलता है। तीन के अक की महानता। महत्ता। उपयोगिता व श्रेष्ठता यहॉ भी हे।

हो सकता हे कहानीकार यह बताना चाहता हो कि तीसरा—'कल्याणकारी भाग'—इन दोनो से उच्च हो। बढिया हो। श्रेयस्कर हो। देवता—एक। असुर—दो। मनुष्य—तीन। अर्थात् तीसरा अक जो है वह मनुष्य को दर्शाता हो जो सदा अपने कल्याण की बात करता हे। कल्याण चाहता है। कल्याण की इच्छा रखता है। यही मकसद, यही मशा, यही उद्देश्य भी हो सकता है इस उपनिषद् की कथा का।

कहानी तो पूरी हो गई है। मगर एक बात यह कि छोटे भाइ (देवता) बडे भाइ (असुरो) को क्यो पराजित करना चाहते थे। यहॉ हम बिम्बो की बात एक ओर रखकर सीधे प्रजापति के दो पत्नियो से हुए बेटो का जिक्र कर रहे है। असुर पहले थे—दिति स। देवता बाद मे थे—छोटी मॉ अदिति से। ऐसा पढने को मिलता हे। फिर छोटे भ्गइ अपने बडे भाइयो को क्यो पराजित करना चाहते थे। उनका सफाया क्यो करना चाहते थे। यह प्रश्न मन मे उठता है।

उत्तर मे बताते है कि आज की तरह उस समय मे भी छोटा बडे का लिहाज न करता था। उसकी परवाह न करता था। कहते हे अग्नि, वरुण, रुद्र ये सब बडे देवता थे। इन्द्र इ1 सबसे छोटा। मगर इन्द्र बेहद महत्त्वाकाक्षी था। वह बडो को बडा न मानकर अपने लिए बडा पद चाहता था। उसने ऐसा तिकडम लडाया कि 'देवराज' की कुर्सी पर जा बैठा। सर्वोपरि माना जाने लगा। देवताओ मे श्रेष्ठतम। इतना ही नही। इन्द्र से भी एक और तेज था उपेन्द्र—विष्णु। उसने तो कमाल ही कर दी। इन्द्रदेव को ही धता दे दिया। अपने बुद्धि-पराक्रम से विष्णु ने अपने से बडे इन्द्र को पीछे धकेल दिया। सोचा कि इसकी शक्तियो को सीमित कर, स्वय ही सारे विश्व को अधीन कर ले। विष्णु उपेन्द्र की यह इच्छा बलवती हो गई। उन्होने इन्द्र के मन मे ऐशोआराम के बीज बो दिए। उसे मोजमस्ती करने के लिए एफ़ ओर सरका दिया। उसे अलका का राज्य सौप दिया। यह एक छोटी नगरी के समान क्षेत्र था। सारे ससार का आधिपत्य स्वय विष्णु ने सँभाल लिया। इन्द्र मन मसोसक्र रह गया। इन्द्र ने इन्द्रपुरी मे रहकर सारे सुख पाने का मन बना लिया। स्त्री-सुख उसे सबसे प्रिय था। कही भी मिले, किसी की भी मिले। पा लिया करता। भले ही छल-कपट क्यो न करना पडे।

विष्णु द्वारा किया यह प्रयत्न, उसे सीमित क्षेत्र का सर्वेसर्वा बनाना, इन्द्र को अच्छा न लगा। अब वह हर कार्य को, हर पूजा को, हर पुजारी को, हर ऋषि-मुनि की तपस्या को शक की नजर से देखा करता। जहॉ उसे सन्देह होता कि इसकी आराधना सफल होकर उसके सिहासन के लिए खतरा बन सकती हे, तो वह विघ्न पैदा कर देता। रुकावटे खडी कर देता। क्यो न अपनी प्रिय अप्सरा मेनका को ही विश्वामित्र का तप भग करने को भेजना पडे। हर प्रकार का पग उठाकर वह अपनी कुर्सी से चिपका रहता, जैसा कि आज के राजनेता किया करते है। तब भी बडे-छोटे सगे-पराये का विचार नही किया जाता था, आज भी नही। बस इच्छा पूरी होनी चाहिए। कार्य की सिद्धि होनी चाहिए—येन-केन-प्रकारेण।

आत्मा क्या है ?

प्रजापति बहुत चिन्तित रह रहे थे। पिता थे न ! अपनी ही सन्तानो की चिन्ता थी उन्हे। अपनी औलादो का बिगडना उन्हे बहुत अखर रहा था। वे सब-के-सब अपनी मर्जी के हो चुके थे। जो मन मे आता करते। अच्छ ओर बुरे का उन्हे ज्ञान ही न था। यदि कुछ था भी तो उन्होने ऑखे बन्द कर रखी थी। दोनो कार्यो मे क्या अन्तर है यह जानने की उनकी इच्छा भी न थी।

प्रजापति पिता थे। एक माता का नाम दिति था तो दूसरी का नाम अदिति। पिता प्रजापति से, माना दिति से जिन बच्चो का जन्म हुआ वे थे—दानव असुर। सख्या मे अनेक। इसी पिता से, दूसरी माता अदिति से जो सन्ताने उत्पन्न हुई, उन्हे देवता कहा जाता था। ये सख्या मे भी कम थे। असुरो से छोटे थे। शरीर से कमजोर। उनका शरीर से कमजोर होना इस बात को जतलाता है कि वृद्धावस्था मे पहुॅचते-पहुॅचत, कमजोर वीय के कारण ये बच्चे भी कमजोर थे। कम ताकतवर। असुरो के मुकाबले कम बल वाले।

एक ओर असुर भाइयो का समूह तो दूसरी ओर देवता भाइया की मण्डली। दोनो सौतेले भाई हुए, क्योकि सातेली माताओ से उनका जन्म हुआ था। पहले तो दोनो माताऍ अपने बच्चो के लिए, उनकी आवश्यकताओ के लिए, उनके अधिकारो के लिए सघर्ष करती रही। अपने पति से सहयोग मॉगती रही। इन्हे भी अपने बचाव के लिए सिखाती-पढाती रही, मगर जैसे ही ये सब युवावस्था को प्राप्त हुए, उन दोनो ने हाथ खीच लिए। जेसे रहना है रहे। जो करना है करे। उन्हे क्या प्राप्त होता है, अथवा किससे वचित रहते है, इसका हिसाब-किताब वे स्वय करे, माताऍ नही। आरम्भ म तो पिता ने सोचा था कि बच्चे अपने अनुभव से सीखते है, सीखने दो। तब जनसख्या नही थी। नगर-गॉव नही बसे थे। स्कूल-पाठशालाऍ नही थी। अलग से अध्यापक भी नही थे। स्वय उन्होने अपने बच्चो को कुछ सिखाया नही। माताओ ने भी मुॅह फेर लिया था। वे अपने अनुभव से भी कुछ सीखना न चाहते थे। बच्चे बिगड गए तब प्रजापति को चिन्ता हुई। सोतेले भाई थे। एक-दूसरे को एक ऑख भी नही भाते थे। खूब झगडते। लडाई करते। हाथ-पॉव तोडते। सिर फोडते। रक्त बहता। प्रजापति तक शिकायते

जाती। उनका बेचैन होना, परेशान होना, बच्चो क प्रति चिन्तित होना दिनोदिन बढने लगा।

उनके बच्चे भोगवादी सस्कृति मे सलिप्त थे। उन्हे खाने-पीने, मौज करने, आज की सोचने, कल की चिन्ता करने मे ही आनन्द मिल रहा था। लोक का पूरा आनन्द उठाना चाहते थे। परलोक की कभी सोची नही। वे सब पथभ्रष्ट होकर चल रहे थे। जी रहे थे। यही प्रजापति को दुखी कर रहा था।

वह ऐसा समय था जब प्रजापति के इन पुत्रो को आत्मा की सोचनी चाहिए थी। आत्मा को बचाना चाहिए था, मगर वे शरीर की सोचते। शरीर को बनाने, बचाने मे लगे थे। गलत रास्ता अपना लिया था उन सब सौतेले भाइयो ने। असुरो ने भी। देवताओ ने भी। जो जानना चाहिए था, उसे तो जान ही न रहे थे। जो नही जानना चाहिए था उसी को जानने-समझने मे लगे थे। इसी कारण तो प्रजापति अब विचलित हो रहे थे। बच्चो की लम्बी रस्सी को समेटना चाहते थे। उनको सुधारना, सॅवारना चाहते थे।

प्रजापति जानते थे कि भोग की सस्कृति विनाशकारी है। यह मनुष्य को सवेदनहीन बना देती है। वह लूटना चाहता है। अधिक-से-अधिक पाना चाहता हे। दूसरो का माल हथियाना चाहता है। उसे छीनने मे मजा आता है। छिन जाना बुरा लगता है। यदि वह भोग-विलास से बाहर निकल आए तभी उसका बचाव सम्भव है। प्रजापति के बडे पुत्र असुर धमाचौकडी मचाना जानते थे। देवताओ का हिस्सा छीनकर खा जाते थे। देवता मुँह ताकते रह जाते थे। इस सबको देखते हुए प्रजापति ने अन्तिम निर्णय कर लिया कि वह इन्हे सुधारेग। इनकी लगाम कसेग। उन्होने बच्चो पर बोलियॉ कसनी शुरू कर दी। पहले धीरे-धीरे। फिर कठोरता से, ऊँची आवाज मे।

प्रजापति ने उपदेशनात्मक लहजे मे अपने दोनो बच्चो को कहा—'जानते ही नही कि यह शरीर नश्वर है। क्षणभगुर है। इसी को पालने मे लगे है। इसी की आभा बढाने का फिक्र है इन्हे। यह सुन्दर होना चाहिए, हृष्ट-पुष्ट होना चाहिए, ऐसा सोचते है। आत्मा अमर है। उसकी चिन्ता होनी चाहिए। वह सुन्दर हो। पवित्र हो। मैली न हो। इस दिशा मे तो ये जरा भी नही सोचते।

इन्हे जान लेना चाहिए कि यह आत्मा निष्पाप है। मृत्यु इसे मार नही सकती। यह अजर है। शोक इसका कुछ बिगाड नही सकता। आत्मा को न तो भूख लगती है, न ही प्यास। आत्मा सत्यकाम है। आत्मा सत्यसकल्प है। इसे तो जाने। इसकी चिन्ता करे। तभी लोक और परलोक सुधरेगे।

हम इस दुनिया मे आए है तो हमे परमात्मा और आत्मा की चिन्ता होनी चाहिए। आत्मा की तलाश करनी चाहिए। इसे जानना चाहिए। इसे खोजना

चाहिए। जो भी कोइ उस आत्मा को शास्त्र और गुरु की आज्ञानुसार खोजकर जान लेता है, जह सम्पूर्ण लोको और समस्त कामनाओ की सिद्धि से भी ऊपर उठ जाता है। वह जन समस्त लोको और समस्त कामनाओ को अपने भीतर जानकर उन्हे प्राप्त कर लेता हे।'

प्रजापति का यह उपदेश असुरो तथा देवताओ, दोनो ने सुना। पूरी तरह मनन किया। उन्हे ध्यान आया कि वे तो अब तक गलत ही थे। जो करना था किया नही। जो नही करना था उसके पीछे लगे रहे। भयकर भूल की उन्होने। उन्हे रहस्य जानने चाहिए थे। अमरता पाने के तरीके अपनाने चाहिए थे। शोक और जरा से बचने के ढग ढूँढने चाहिए थे। जिससे सभी कामनाएँ सिद्ध हो सके वे गहरी बाते पूछनी चाहिए थी। इन पर अमल करना चाहिए था।

पिता की चिन्ता अब इन बच्चो की भी चिन्ता बन गई थी। मिल बैठे। असुर इकट्ठे आपस मे। देवता एक ओर, आपस मे। दोनो सौतेले भाइयो ने ये सब काम की बाते जानने का मन बनाया। अलग-अलग चिन्तन किया।

देवताओ मे से किसी एक ने कह दिया—'हमे प्रजापति के पास जाना चाहिए। पिताश्री से सभी रहस्य जानने चाहिए। अमरता पाने के ढग पूछने चाहिए। शोक और जरा से मुक्ति की राह पूछनी चाहिए।' सब देवताओ ने स्वीकृति दे दी। निर्णय कर लिया कि उनमे मुखिया, उनका श्रेष्ठ देवता इन्द्र ही प्रजापति से मिले। सब देवताओ का प्रतिनिधित्व करे। और रहस्य जाने।'

ठीक उसी समय दूसरी ओर कही बैठे असुरो ने भी चिन्तन किया। मिल बैठ निर्णय लिया। प्रजापति के पास अपना प्रतिनिधि भेजने का फैसला किया। इस फैसले पर सभी असुरो ने मोहर लगा दी। हरी झण्डी दे दी। उनका प्रतिनिधि था विरोचन। उसे ही जाना था। अपनी गुहार करनी थी। असुरो के कल्याण के लिए, अमरता पाने के लिए रहस्य जानना था।

दोनो ओर से निर्णय एक साथ, एक ही समय पर तो लिया गया, मगर वे नही जानते थे कि दूसरा पक्ष भी वही करने जा रहा है, जो वह कर रहे हे। खैर, दोनो ओर से स्वतन्त्र कोशिशे होनी थी। शुरू भी हुई।

देवताओ का सरताज इन्द्र तेजी मे निकला। प्रजापति को मिलना था। उधर से असुरो का मुखिया विरोचन उठा। तेजी से जाने लगा। दोनो को एक ही स्थान पर पहुँचना था। मगर वे दूसरे पक्ष के इस इरादे को नही जान पाए। सोचने लगे कि हम मोर्चा मार ले। दूसरा पक्ष सोया रहे। पीछे रह जाए। पिछड जाए। कोशिशे अलग-अलग थी। एक जैसी थी। एक ही लक्ष्य को पाने की थी। कौन बाजी मारता है, यह समय ही बताएगा।

इन्द्र भी भागा। विरोचन भी भागा। निवास अलग-अलग थे। इसलिए रास्ते

भी अलग-अलग हो गए। भागते-भागते दोनो को ध्यान आया—'पिताश्री के पास जाना हे। प्रजापति को मिलना है। अपना कार्य सिद्ध करना है। खाली हाथ जा रहा हूँ। यह ठीक नही। अच्छा नही लगेगा। कुछ तो लेकर जाना चाहिए। भागते-भागते दोनो ने, अपनी-अपनी जगह, अपने-अपने तौर पर एक ही निर्णय ले लिया। पिताश्री जान सके कि हम कुछ सीखने को पहुँचे है। अच्छे कार्य के लिए आए है। आत्मा की अमरता चाहते है। अत इसके लिए भी यज्ञ, हवन, ठीक रहते है। यही हर धर्म के लिए उचित है। अत समिधा लेकर जाने से अच्छा प्रभाव पडेगा। सूखी लकडी यज्ञ के लिए ठीक रहती है।

जैसे अग्नि को समीप लाते ही सूखी लकडी जल उठती है, ऑच पकड लेती हे, उसी प्रकार हमारा मन ज्ञान की बात को सुनते ही ग्रहण कर लेगा। यही लगा हमारे हाथ मे लकडी का होना। इससे हमारे पिताश्री प्रभावित होकर तुरन्त ज्ञान दे देगे। अत वे भागते भी रहे। सूखी लकडियॉ चुनते भी रहे। अपने-अपने सौतेले भाइ से पहले पहुँचने की ठान रखी थी दोनो ने। अलग-अलग।

इसे भी सयोग ही कहेगे कि वे दोनो एक साथ ही पहुँचे प्रजापति के पास। रास्ते अलग-अलग थे। दूसरे के आने का ज्ञान भी नही था। आगे निकलने और पहले पहुँचने की तलब थी दोनो को। मगर, कुछ ऐसा हो गया कि वे इकट्ठे पहुँचे प्रजापति के पास। और दोनो के पास एक ही प्रकार की भेट थी—समिधा। सूखी लकडी। यज्ञ के काम मे आने वाली।

प्रजापति भी इस लकडी को, समिधा को देखकर समझ गए कि गुरु के ज्ञान को, उनके उपदेश का स्पर्श मात्र ही उनकी मेधा को ज्योतित कर देगा। उनको ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। यही अथ है हाथ मे मेधा लाने का। वास्तव मे दोनो सौतेले भाइ भी ऐसा ही सोचकर पहुँचे थे पिताश्री के पास।

उन्होने हाथ जोडकर पिताश्री को प्रणाम किया। नतमस्तक होकर बोले—'पिताजी ' आप ठीक है। हम ही गलत हे। हम ही राह भटक चुके हे। कल आप नाराज थे। उपदेश दे रहे थे। अच्छी-अच्छी बाते कह रहे थे। यह आपका आत्मालाप था। सही था। इसने हमे हिलाकर रख दिया है। अब हम सॅभले है। आपके पास आए है। कुछ जानना चाहते है। जिज्ञासु है। आत्मा क्या है। कहा था न आपने कि इसे जान लेने पर आदमी समस्त भोगो को प्राप्त कर लेता है। समस्त कामनाओ की सिद्धि कर लेता हे। समस्त लाको पर विजय प्राप्त कर लेता है। जो भी हम नही जानते, उसे बताऍ नथा समझाऍ। हमारा मार्ग-दर्शन करे। पिताश्री जो बीता, सो बीता।'

उपनिषदो की इस कहानी को आगे बढाने से पूर्व इससे जुडी कुछ और बाते भी स्पष्ट हो जाऍ तो अच्छा रहेगा।

कहते है कि दोनो सौतेले भाई, इन्द्र और विरोचन जब वहॉ पहुॅचे तो प्रजापति का 'मूड' ठीक न था। अत वे एकदम अपनी गुहार नही कर सके। मूड ठीक होने मे समय लगा। दोनो भाई ब्रह्मचर्यावास मे चले गए। यह समय बत्तीस वर्ष का था। दोनो ने बत्तीस वर्ष का समय बिताकर पिताश्री से अपने वहॉ पहुॅचने का कारण बताया व ज्ञान मॉगा।

कुछ अन्य विद्वान् कहते हे कि प्रजापति का मूड तो ठीक था। मगर इन दोनो को बात करने का तरीका-सलीका नही था। धूर्त किस्म के ये लोग, ठीक से अनुनय-विनय न कर पाए। पिताश्री ने कहा—'पहले अपने व्यवहार मे सुधार लाओ फिर बात करना।' इन्हे अपने व्यवहार को ठीक करने मे उपदेश पा सकने के लिए पात्र होने मे बत्तीस वर्षो का समय लग गया। ऐसा विद्वान् बताते है।

यहॉ एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए। जिन बत्तीस वर्षो की बात उठी हे, यह देवताओ के पचाग के अनुसार बत्तीस हजार साल का समय था। रहा होगा। कुछ कह नही सकते।

प्रजापति का क्रोधित होना, 'मूड' ठीक न होना, उन्हे आचार-व्यवहार को सुधारने को कहना, एकाएक उनकी प्रार्थना न सुनना, उन्हे कुछ मॉग सकने के लिए योग्य होना, उपदेश ग्रहण करने के लिए सुपात्र होना यह सब ठीक भी था। इतनी प्रतीक्षा यदि करवाई तो ठीक करवाई। पहुॅचते ही यदि वे उपदेश पा लेते तो मुफ्त के समान होता। केवल सूखी लकडियॉ लाना काफी न था। उन्हे प्रतीक्षा करने पर विवश होना पडा। इसी मे दिए जाने वाले ज्ञान का मूल्य बढ गया। लगा कि यह ज्ञान कठिनता से पाया है। इसका सम्मान होना चाहिए। इस लिहाज से प्रजापति ने उन्हे बत्तीस वर्षो के लिए ब्रह्मचर्य अवस्था मे भेजकर नीति-सगत बात की।

उपनिषद् की इस कथा मे इस प्रतीक्षा के बत्तीस वर्ष के समय को सक्षिप्त काल की सज्ञा दी गई है। मानते है। अब जब वे प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए तो उन्होने ही प्रश्न कर दिया—'क्या बात है ? क्या प्रयोजन है तुम्हारा ? क्यो बत्तीस वर्ष का ब्रह्मचर्य काल काटा ?' हर मन की, हर दिल की बात जानने वाले प्रजापति न ऐसे पूछा, जेसे सचमुच कुछ जानते ही न हो।

दोनो मे विरोध तो था। एक-दूसरे को बिलकुल पसन्द भी न करते थे। एक यदि गड्ढा खोदने की सोचता तो दूसरा उसके लिए कुऑ तैयार रखता। फिर भी, इस अवसर पर, न जाने केसे दोनो ने एक साथ कहा—'पिताश्री ! हमे खूब भूख लगती है। प्यास परेशान करती है। कभी शोक से गुजरते है तो कभी हष की प्राप्ति हो जाती है। यदा-कदा हम पाप भी कर बैठते है।

बुढापे का डर हमे अभी से परेशान करता है। मौत कब आ घेरे, ऐसा भी सोचने लगते हे। अनेक प्रकार का डर व्याप्त रहता है। पिताश्री ! हम इन सब

चीजो से छुटकारा पाना चाहते हे। इनके अतिरिक्त कुछ और भी पा लेना चाहते हे। हम अब सत्यकाम और सत्यसकल्प होकर आत्मा नाम की उस चीज का अनुसधान करने क इच्छुक है।'

प्रजापति को लगा कि ये बच्चे अब उनका उपदेश पाने के सुपात्र हो चुके है। इसीलिए उन्होने प्रसन्न मन से शिक्षा देनी चाही। बडे ही सरल व धीमे शब्दो मे पिताश्री अपने बच्चो से बोले—'पुत्रो ' यह जो ऑखो मे दिखाई देता हे, वही आत्मा हे। वही तो ब्रह्म हे। वही अमर है। वही अभय हे। यही बात पक्का सत्य हे।'

बच्चो का उत्साह बढा। अपने पिता से हर शका का निवारण कर लेना चाहते थे। इसी दिशा मे प्रश्न किया—'हम जल मे जहॉ भी देखते है वहॉ उसक भीतर, कुछ दिखाइ देता है। इसी से मिलता-जुलता कुछ दर्पण मे भी देख सकते हे। इन दोनो मे से आत्मा कौन है ? जरा हमे बताऍ।'

इसीलिए तो हमने दर्पण को स्वर्ग मे, असुर लोक मे पहॅुचने की अनुमति दे रखी है। कुछ ओर चीजे भी। इसलिए ताकि आवश्यकता पडने पर इसका उपयोग हो सके। खेर ' जो मैने कहा, उसे तुम लोग ठीक से ग्रहण नही कर पाए।

ऑखो मे निवास करने वाले जिस ब्रह्म की बात मेने समझाइ, वही तो है यह। यही सवत्र व्याप्त हे। सर्वत्र सुलभ है। यही अमर हे। यही अजर हे। जहॉ भी पानी या दर्पण मिले उसमे झॉककर देखो। तुम्हे सवत्र वही दिखाई देगा।'

'बच्चो ' अब मे पानी से भरे एक सकोरे (कटोरे) के माध्यम से आपको कुछ समझाता हूॅ। ध्यान से समझना।

इस पानी मे झॉको। ठीक से देखो। मुझे बताओ कि तुम्हं क्या दिखाई दे रहा हे।'

दोनो ने पानी से भरे इस सकोरे मे देखा। बडे ध्यान के साथ। दोनो सौतेले भाई। असल मे एक-दूसरे के विरोधी। मगर इस समय दोनो ने पिता की आज्ञा पर एक साथ झॉका। दोनो मे, पता नही एकता का भाव कहॉ से आ गए। उत्तर भी एक जेसा दिया। एक साथ। कहा—'इस जल मे हमे अपने रोवो और नाखूनो के साथ समग्र आत्मा दिखाई दे रही है।'

'उठो। जाओ। सज-सॅवरकर लौटो। फिर देखो इसी जल मे। और बताओ कि क्या दिखाई दे रहा है।'

उन्होने आज्ञा का पालन किया। फिर अपने पिताश्री को बताया—'जैसे कपडे हमने अपने शरीर पर धारण कर रखे है, वैसे ही हमारी आत्मा ने भी पहन रखे है। जेसे जेवर हमारे, वैसे ही आत्मा के। जैसी साज-सज्जा हमारी, वैसी ही आत्मा की। ऐसा हमने देखा है। इस जल मे यही दिख रहा है।'

'प्यारे बालको ' ठीक कहा तुमने। यही आत्मा है। यही अजर है। अमर है।

इसका कभी नाश नही होता।’

प्रजापति ने जो कहा, इसे ही इन्द्र तथा विरोचन ने सच मान लिया। जो समझाया, उसी को पल्ले बॉधा और चल दिए अपने स्थानो को। अपने भाइयो के पास। आत्मा क्या है, यह जान चुके थे।

चूँकि अपन पिता पर, अपने गुरु पर उन्हे अगाध विश्वास था, इसलिए प्रजापति द्वारा दिए गए गलत, झूठे उदाहरण को भी उन्होने सत्य मान लिया। जैसे-जैसे उपनिषद् की यह कहानी सामने आती है यह भी समझा दिया जाता है कि अपने गुरु पर भी ऑखे बन्द कर विश्वास न करे। परखे तब विश्वास करे। हो सकता है गुरु भी गलत हो।

अब यहॉ पर देवताओ और असुरो की कहानी अलग से चलती है। उपनिषद् की इस कहानी मे असुरो और देवताओ की सोच मे कुछ भिन्नता बताइ गई है। इन्द्र ओर विरोचन क्या सोचते है क्या करते है, उसका वर्णन है।

चूँकि विरोचन असुर था, बडा भाइ था, अत पहले विरोचन की बात कर लेते हे, उसने अपने गुरु पर पूर्ण विश्वास कर लिया। गुरु कभी गलत शिक्षा नही दे सकता। और जब गुरु ही पिता भी है, तब तो गलत पाठ पढाने का कोई मतलब ही नही। वह सीधा पहुँचा अपने अन्य असुर भाइयो के पास। जो देखा, जो सीखा, जो जाना, जो अनुसधान से भी सामने आया, जाकर उन्हे बतला दिया। उन सबने भी उस निचोड को अपने जीवन का निचोड मानकर, सत्य मान लिया। अपनाने का सकल्प किया।

विरोचन के अनुसार—‘मेरे भाइयो ! बडी आसान बात है। पिताश्री ने बताई हे। मुझे भी अच्छी लगी है। यह जो हमारा शरीर है, यही तो आत्मा हे। यही सत्य है। भौतिक जगत् ही आत्मा है। यही हमारे जीवन का आधार है। लक्ष्य है। जरूरत है। यही सब कुछ है। मानो ! इससे परे, इससे अलग कुछ भी नही। खाओ, पीयो, मौज-मस्ती करो। उपभोक्तावाद ही सब कुछ है। इसे ही अपनाओ। इसी की अपासना करो।

अपनी मौज-मस्ती के लिए, जरूरत के लिए चाहे जो कुछ करो, सब माफ हे। कोई पाप कर लो, कर सकते हो। अपनी सुविधा के लिए किसी पर जुल्म करना भी आपके अधिकार क्षेत्र मे आता है। इसकी भी आज्ञा है।

मेरे अनुजो ! मरने के पश्चात् सब कुछ राख बन जाएगा। खाक हो जाएगा। याद रखना, इसमे अगले जन्म का अथवा पाप-पुण्य का, हमारे भोग से विलासिता से, मौज-मस्ती से कोई ताल्लुक ही नही। कोई सम्बन्ध ही नही।

आगे सुनो, जो मे सीखकर आया हूँ। मान लो स्वर्ग भी है। नरक भी है। अरे जब हम इस लोक मे, इस जीवन मे मर-मरकर, पिट-पिटकर जीते रहे, वह नरक जैसी

यातनाएँ तो पहले ही सहन कर चुका होगा। अत उस कोइ कठिनाई नही आएगी। यदि उसे म्वग मिल भी गया तो रास नही आएगा। अच्छा नही लगेगा। मन को नही भाएगा। उसे सकून नही आएगा। भाग निकलना चाहेगा।'

सब भाइ बडे ध्यान से सुन रहे थे। प्रजापति से शिक्षा प्राप्त कर लौट विरोचन कहे जा रहा था—'स्वर्ग का असली आनन्द तो वह ले सकेगा, जिसने धरती पर रहकर स्वर्ग-सी मौज ली हो। पूरी सुख-सुविधाओ से गुजरा हो। जिस किसी ने भी अपना अपने शगीर का, अपने सुखो का ध्यान रखा, वही इस लोक मे भी सुखी रहेगा तथा उस लोक मे भी।

जो यहॉ रहते हुए शरीर का ध्यान नही रखेगा। इसकी उपेक्षा करेगा, अपने लिए भौतिक आवश्यकताएँ नही जुटाएगा, इनकी ओर ध्यान नही देगा, उसके लिए यह जीवन भी नरक हे। परलोक भी नरक हे। आगे भी नरक हे, पीछे भी नरक हे।

मेरी बात पर गोर करना। असुर उसे कहते है जो दान नही देता। दया नही करता, किसी मे श्रद्धा नही रखता, यज्ञ नही करता। यही हमारी जाति का, असुरो का मूल मन्त्र है। गूढ ज्ञान है। हमारा उपनिषद् हे। हम मृतक शरीर को भी सजा-सॅवार व जेवर आदि पहनाकर दफनाएँगे। मन मे यह बात धारण कर लो कि जितने दिन जीना है, खूब मोज-मस्ती करनी है। मरने पर भी हारसिहार से जाना हे।'

प्रजापति ने जब दोनो बेटो को, ऑख पानी और दर्पण का उदाहरण देकर कहा था कि यही आत्मा हे यही अजर अमर हे, विरोचन ने सब ठीक मानकर अपने भाइयो को समझा दिया। शरीर ही आत्मा है। भौतिकवाद ही सब कुछ है। मगर इस शिक्षा के पश्चात् इन्द्र सीधे अपने भाइयो के पास नही पहुँचे।

इन्द्रदेव के मन मे विचार उठा—'पिताश्री की शिक्षा ठीक नही। जरूर कही-न-कही कमी, गलती रह गई है। यदि आत्मा अजर अमर है। अक्षय है। मगर शरीर तो आत्मा नही हो सकता। शरीर सजने पर आत्मा भी सज गई। शरीर हृष्ट-पुष्ट होने पर आत्मा भी हृष्ट-पुष्ट हो गई। और जब शरीर रोगी होगा, तो आत्मा भी रोगी हो जाएगी। शरीर बूढा होगा तो आत्मा भी बूढी हो जाएगी। शरीर कटगा तो आत्मा भी कट जाएगी। इसी प्रकार शरीर मर जाएगा तो आत्मा भी मर जाएगी।

फिर कहॉ गई वह आत्मा की अजर अमर, अक्षय होने वाली बात ' मन मे नही माना यह ज्ञान। मन ने विरोध किआ। जरूर कही गडबड है, इन्द्र का मन कहने लगा।

इन्द्र सोचता रहा। कुछ तय न कर पा रहा था। प्रजापति तो पिता है। गलत

शिक्षा क्यो देगे ? पति ही गुरु बने है। भला गुरु अपने शिष्यो को गलत उपदेश क्यो देगे ? इस प्रकार के प्रश्न, ऐसी ही शकाएँ इन्द्रदेव के मन मे उठी। अन्दर घमासान चलने लगा। कभी मन मानता ता कभी इनकार कर देता। अपने पिता द्वारा दी शिक्षा तर्क पर खरी न उतर रही थी। इसीलिए फिर से लौट जाने की सोच ली। अपनी शकाआ का समाधान करना था इन्द्र को।

इन्द्र जगल म गए। सूखी समिधा इकट्ठी की। जा पहुँचे प्रजापति के पास। उसका अज्ञान अभी मिटा न था। प्रकाश मिला न था। या यो कहे कि प्रकाश से पहले ही समिधा राख हो गई। बुझ गई। जिज्ञासा लेकर अपने पिता के पास पहुँचा। प्रणाम किया। पिता ने आशीर्वाद तो दिया। साथ मे पूछ भी लिया—'इन्द्र ! आने का कारण ताओ ? तुम दोनो को मैने सन्तुष्ट करके भेजा था। मेरा काम खत्म हो गया था। फिर से क्यो आए मेरे पास ? विरोचन भी तो तुम्हारे साथ था। वह तो नही लौटा। तुम्ही क्यो ?'

'प्रभु ! आपने जो उपदेश दिया, वह मेरे गले से नीचे नही उतर रहा। यदि शरीर ही आत्मा है। यदि शरीर की छाया ही आत्मा है, यह वस्त्र धारण करने पर वस्त्र पहनती है। शरीर के सजने पर आत्मा भी सज जाती हे। यदि शरीर अन्धा हो जाए तो क्या आत्मा भी अन्धी हो जाएगी ? शरीर टूटने पर आत्मा भी टूट जाएगी क्या ? शरीर के नष्ट होने पर आत्मा को भी नष्ट हो जाना है क्या ? फिर वह अजर, अमर, अजीर्ण वाली बात कहाँ ? इस रहस्य को जानने के लिए ही मै आया हूँ।

जब मै ही आश्वस्त नही। मै ही सन्तुष्ट नही। फिर मै अपने अन्य भाइयो को क्या बता पाऊँगा। मेरी शका का समाधान कर, मेरे मन को सन्तोष प्रदान करे।'

'तुम्हारी शका उचित है। मगर मेरे भी कुछ नियम है। तुम्हे यह व्याख्या पाने के लिए फिर मे बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यावास करना पडेगा। बोलो, मजूर है ?'

'क्या नही। मुझे आपका आदेश स्वीकार है। और वह वही, प्रजापति के पास रह गया। जब इन्द्र ने इस अवस्था मे बत्तीस वर्ष की अवधि पूरी कर ली, प्रजापति ने उसके मन को हल्का करने का निर्णय किया। बोले—'बेटा ! हमारे सोने के बाद स्वप्नावस्था मे जो विचरता हुआ नाना क्रियाएँ करता रहता है, वही आत्मा है। यही अमर हे। यही अजर है। यही अभय है। यही ब्रह्म है।'

उत्तर सुना। पिता ने बताया था। इसलिए गलत नही हो सकता। ठीक मानकर इन्द्र लौट पडे। आधा रास्ता भी तय नही किया होगा कि फिर मन की शका ने सिर उठाया। मन ने कहा—'अरे इन्द्र ! फिर बन गए मूर्ख। प्रजापति द्वारा दिया उपदेश अब भी ठीक नही लगता। क्या बताओगे अपने भाइयो को ? जो तुम्हे नही जँचा उसे पहले सोचो। अपनी शका का निवारण करो। माना कि हमारे शरीर की जो दशा हो जाती है, उसका तो इस स्वप्नदर्शी पर प्रभाव नही

पडता। शरीर की व्याधि, दु ख, जरा की अवस्थाओ से यह स्वतन्त्र हे। पर इसे स्वप्न मे भय हाता है। यह रोता भी है। जब आत्मा अभय हे तो उसकी यह अवस्था कैसे होने लगेगी। जरूर कुछ कमी हे इस उपदेश मे।'

उपनिषदो की यह कहानी, ऊपर दी घटना के अनुसार आगे बढती है इन्द्र का लोटना रास्ते मे ममिधा उठाना प्रजापति के पास जाना उन्हे अपनी शका बताना उन्होने उसकी शका का दुविधा का स्पष्टीकरण देने का वचन देना इन्द्र को फिर से बत्तीस वर्षो तक ब्रह्मचयावस्था मे रहने को कहना उसका मान जाना ऐसा ही करना प्रतीक्षा करना बत्तीस वष बीत जाना आदि सब घटनाएँ घटी।

समय पूरा हो जाने पर प्रजापति ने अपने देवता पुत्र इन्द्र से कहा— बेटा ! अबकी बार पूरे ध्यान से सुनो। आत्मा क्या हे इसे बता रहा हूँ। निद्रा की जिस अवस्था मे स्वप्न तक नही दिखाइ देते, वही आत्मा है। बेटे, यह न मरता हे न डरता हे न टूटता हे, न कटता हे। यही ब्रह्म हे। इसे ही पूर्ण सत्य मानो।'

सच्ची बात कह दे तो प्रजापति ने अब भी सत्य न कहा था। भेद रखा था। अपने पुत्र अपने शिष्य को गलत पाठ पढाया था। पता नही क्यो ? पिता हो चाहे गुरु उस पर तो पूरा विश्वास होता हे। यदि वह ही भेद रख झूठ का सहारा ले तो मन शकायुक्त हो जाता है। पता नही प्रजापति ऐसा बार-बार क्यो कर रहे थे।

एक बार वही हुआ। इन्द्र चले गए। रास्ते मे थे कि शका उठी। उत्तर ठीक न लगा। अब उन्हे लगा कि स्वप्नहीन निद्रा अवस्था मे तो किसी चीज का बोध होता ही नही। इतना भी बोध नही रहता कि मे हूँ। जब नीद है। स्वप्न नही है। बोध नही है। यह बोध तो आत्मा के लिए आवश्यक है। इसके साथ ही बाह्य जगत् का भोतिक ससार का भी बोध नही रह जाता।

यह तो मृत्यु हुई। मृत्यु की-सी अवस्था। प्रजापति ने ठीक नही किया। ठीक समाधान नही किया। ठीक उत्तर नही दिया। फिर से सशय। फिर से सन्देह। फिर से दुविधा।' एक बार फिर समिधा इकट्ठी की और जाकर रख दी। प्रजापति के चरणो मे। ओर पूछने पर अपनी दुविधा सुना दी।

स्वय प्रजापति ने कहा—'तुम ठीक कहते हो। मैने तुम्हे बहकाया था। तुम बहककर चले गए। मे भी चुप रहा। आए हो शका तो दूर करनी ही है। मगर इस बार पॉच वर्ष तक ब्रह्मचर्यावस्था मे रखा गया इन्द्र को।

समय पूरा होने पर प्रजापति ने कहा—'इस बार मै तुम्हे असली ज्ञान देने जा रहा हूँ। इन चार चक्करो मे जो तुम्हारे एक सौ एक वर्ष खराब हुए है, मुझे उसका भी खेद हे। मे नही चाहता कि तुम किसी दुविधा मे और देर तक फॅसे रहो।

पुत्र इन्द्र ! यह शरीर आत्मा नही है। यह तो आत्मा का निवास मात्र है।

जब यह अपने को इस शरीर से अभिन्न मान लेता है तभी इसे दु ख और सुख परेशान करते है। इसे तब यह डर बना रहता है कि उसकी मृत्यु हो सकती है।

शरीर तो नश्वर है। यह अमर नही। अभय नही। इसे तो अपने ओर अपने प्रियजनो के दु ख-सुख महसूस होगे ही। शरीर से निकल जाने पर ही इसे कोई नही छू सकता। इन्द्र ! तुम वायु, अभ्र, मेघध्वनि और विद्युत को देखो। इनका कोई निश्चित रूप नही है।

क्या ये सब शरीर वाले है ? शरीर से मुक्त है। इसीलिए ये आकाश से उठकर सूर्यलोक को पहुँच जाते है। और फिर जब चाहा प्रकट भी हो जाते है। वैसे ही यह आत्मा है। वायु आदि की भाँति, हमारे शरीर से निकलकर, सूर्यलोक को जा पहुँचती है। यह उसी का अग हो जाती है। उस समय उसे न तो सासारिक भोगो का सुख मिलता है, न ही किसी अभाव से कष्ट होता है। कुछ भी अच्छा-बुरा महसूस नही होता। वह इस प्रकार के सभी कष्टो से मुक्त हो जाता है।

जब तक आत्मा शरीर मे विद्यमान है, तब तक यह स्वतन्त्र नही। घोडे को गाडी से जोतना या आत्मा को शरीर मे रखे रखना, एक जैसे है। गाडी से अलग हाने पर घोडे को राहत मिलती है। ठीक इसी प्रकार, शरीर से निकल जाने पर, मुक्त हो जाने पर, आत्मा दुखी नही होती, बल्कि राहत महसूस करती है। यही स्थिति सुखद भी हे।'

प्रजापति ने आज हर बात ठीक-ठीक समझाने का मन बनाकर इन्द्र से आगे कहा—'जिस प्रकार हमारी ऑखो के सामने जो कुछ है, उसे देखने के लिए ही नेत्र हे। हमारे चक्षु है। ठीक इसी तरह, जो सोचता है कि मै गन्ध को सूँघूँ वह भी आत्मा हे। इसके लिए इन्द्रिय के रूप मे उसे नासिका प्राप्त है।

जो कोई सोचता हे कि वह कुछ कहे। जिसके ऐसा सोचने से वाणी निकलती हे, वह आत्मा है। हमारा उच्चारण तन्त्र इसकी वागेन्द्रिय है। जिसमे सुनने का विचार पैदा होता है, वह भी आत्मा है। इस क्रिया को करने के लिए मनुष्य को कान मिले है।

यह जो सोचता हे कि वह मनन करे, सोचे, वह आत्मा है। ऐसे मे, मन इसका दिव्य नेत्र हे।

हे इन्द्र ! इस ब्रह्मलोक मे, देवता इसी आत्मा की उपासना करते है। इसीलिए उन्हे समस्त लोक और समस्त वस्तुऍ प्राप्त हो जाया करती है। जो इस आत्मतत्त्व को जान लेता है, वह समस्त लोको और भोगो को प्राप्त कर लेता है।' प्रजापति ने यह विस्तृत ज्ञान देकर मोन धारण कर लिया। समाधिस्थ हो गए।

इन्द्र भी उठे। अब मन मे न शका थी, न ही कोई दुविधा। सीधे अपने भाइयो के पास पहुँचे ओर उन्हे 'आत्मा क्या है', यह ज्ञान दिया।

ब्रह्म-दर्शन-कथा-1

मिथिला नरेश राजा जनक को गाये रखने पालने का बहुत शोक था। गगा ओर नारायणी के कछार मे बडी-बडी घास की चरागाह थी राजा के पास। इन गायो का भरण-पोषण सुगमता से हो रहा था।

जब भी राजा जनक के पास गायो की संख्या अधिक हो जाती ओर लगता कि अब चरागाहे कम पड सकती है, घास की परेशानी हा सकती है तो वह अपने राज्य से कुछ गायो को अन्यत्र भेज देते थे दूसरे राज्यो मे। राजा स्वय बडे शक्तिशाली थे। उनकी सेना भी काफी थी। चाहते तो किसी भी पडोसी राजा पर आक्रमण कर, अपना क्षेत्र बढा लेते। मगर नही। राजा जनक एक शान्तिप्रिय तथा धर्मपालक राजा थे। उन्ह आक्रमण करना और पडोसी राज्य पर अपना नियन्त्रण करना अच्छा न लगता था। अत अपने राज्य से गायो को कम करना ही एक मात्र हल था समस्या का।

राजा जनक ने अपने राज्य से दूसरे राज्यो मे गायो को देने की भेजने की, एक निराली विधि निकाली। वह नही चाहते थे कि गाये भूखी रहे। वह नही चाहते थे कि गायो का वध हो। वह नही चाहते थे उनके राजमहल से, राजधानी से भेजी गइ गाये फिर से राज्य मे किसी अन्य गॉव अथवा नगर मे पहुॅचे। ऐसा करने से ही देश मे चरागाहो की कमी को पूरा किया जा सकता था।

क्या थी निराली विधि। वह दूर-दूर के राज्यो के पण्डितो को, विद्वानो को बुलाते। उनसे कुछ प्रश्न पूछते। सन्तुष्ट होकर उन्हे हजार, दो हजार गाये भेट मे दिया करते। प्रश्न करते समय इस बात का ध्यान रखते कि उत्तर जरूर मिले और उन्हे भेट मे इनाम मे गाये अवश्य दी जा सके।

बहुत बाद मे लोगो को पता चला कि राजा जनक अपने देश की चरागाहो की समस्या को नियन्त्रण मे रखने के लिए ही ऐसा कर रहे है। अब वे समझ गए कि पारितोषिक मे गायो को देना राजा जनक की विवशता है। उन्होने भी नखरे करने आरम्भ कर दिए। कहने लगे—'राजन्! आप अपने इस गोचक्र-प्रवर्तन से विश्व-विजय की ओर बढ रहे है। अब तक जो हुआ सो हुआ, भविष्य मे हर गाय के साथ दस तोले सोना मिलेगा, तभी उपहार स्वीकार करेगे। अन्यथा नही।' राजा जनक के राज्य मे सोने की भी कोई कमी न थी।

गगा के माग से सुदूर देशो से जो व्यापार होता था, उससे राज्य मे सोना काफी आता था। राजा ने उनकी शर्त मान ली। भविष्य मे दान या उपहार के समय दी जाने वाली हर गाय के सीग के साथ दस तोले सोना बॉध देने के आदेश दे दिए राजा जनक ने।

इस बार के इस आयोजन मे राजा ने कुरु ओर पाचाल देश के विद्वानो को आमन्त्रित किया हुआ था। राजा कभी टेढा प्रश्न न करते। वह नही चाहते थे कि गलत उत्तर मिलने पर उनकी हजार-दो हजार गाये फिर से उन्ही के पास रह जाएँ।

राजा ने इस बार प्रश्न पूछने मे भी चालाकी की। ऐसा प्रश्न कर दिया, जिससे उत्तर भी आना था। गायो को भी जाना था। राजा ने कहा—'विद्वान् बन्धुओ ' आप सबमे जो सबसे बडा ब्रह्मिष्ठ हे वह इन गायो को सहर्ष ले जा सकता हे। मुझे कोई आपत्ति नही।'

कुरु और पाचाल से आए ब्राह्मणो-विद्वानो म से किसी की हिम्मत न हुई। कोइ भी अपने आपको अन्य सबसे अधिक ब्रह्मिष्ठ नही मानता था। अत गाये ज्यो-की-त्यो खडी रह गई।

वहॉ राजा जनक का एक विद्वान् मन्त्रीतुल्य याज्ञवल्क्य भी बेठा था। उसने अपन एक शिष्य सोमश्रवा को आदेश दिया कि वह जाए और गायो को खोल ले। अब ये गाये हमारी हुई।

आपत्ति—इतना सुनते ही वहॉ शोर आरम्भ हो गया। लोग क्रोध मे आ गए। आवाज उठी—'कोन है यह ? यह केसे कहता है कि यही हम सबसे अधिक ब्रह्मिष्ठ है ? यह गाये नही ले जा सकता।'

राजा को याज्ञवल्क्य का ऐसा करना अच्छा न लगा। वह सोचते—'गाये राजा के अधीन रहे अथवा इसके पास। रहेगी तो हमारे ही देश मे। इससे चरागाहो की समस्या तो ज्यो-की-त्यो बनी रहेगी। उनकी चिन्ता बढ गई। शोर इतना हो रहा था कि लोगो को चुप कराना भी एक समस्या बन गई। राजा के चेहरे पर आए भाव स्पष्ट बता रहे थे कि उन्हे याज्ञवल्क्य की घोषणा अच्छी नही लगी।

राजा के मनोभावो को समझ रहे थे सब लोग। उन्ही के एक होता अश्वल ने याज्ञवल्क्य को लताडना-झाडना शुरू कर दिया। पद-मर्यादा की भी चिन्ता न की। वह चीखकर बोला—'याज्ञवल्क्य ' कौन कहता है कि तुम ही हम सबमे सबसे बडे ब्रह्मिष्ठ हो ?'

राजा की उपस्थिति मे अश्वल ने यह कहा था। याज्ञवल्क्य का राजा जनक के दरबार मे सम्मान देखकर कई दरबारी उससे खुन्नस रखा करते। आज मोका मिला इसे निकालने का। अश्वल ने इस कार्य की बागडोर सॅभाल ली थी। याज्ञवल्क्य ने बडे ही साधारण शब्दो मे उत्तर दे दिया—'सबसे बडा ब्रह्मिष्ठ कोन

हे हम नही जानते। हमारे मन में इन गायो को ले जाने की प्रबल इच्छा थी। उसे ही पूरा कर रहे है हम।

'पहले अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करो। तभी ले जा सकोगे इन गायो को।

कोइ उत्तर न आया।

अश्वल ने अब प्रश्न किया—'तुम्हे पता हे न कि यहाँ जो कुछ भी है वह मृत्यु से व्याप्त हैं। हर पल हर क्षण परिवर्तन आ रहा हे। किसी-न-किसी प्रकार से हर चीज क्षण-प्रति-क्षण नष्ट हो रही हे। परिवर्तित हो रही हे। परिवर्तन मृत्यु का रूप हे। यजमान उस मृत्यु का किस साधन से अतिक्रमण करे ?'

उत्तर आया—'पहले तो यह जानो कि वास्तविक यज्ञ है क्या ? फिर समझ मे आएगा कि सच्चा यजमान कोन है। विजय ओर अतिक्रमण बाद मे। यज्ञ आग जलाकर, उसमे हवन सामग्री डालकर नही होता। जो मानस यज्ञ कर सके वही ठीक। यजमान ऋत्विक रूपी अग्नि और वाणी के द्वारा उस मृत्यु का अतिक्रमण करता हे। यह वाणी ही यज्ञ है। वही अग्नि हे। वही यज्ञ का होता है। वही मुक्ति हे। वही अति-मुक्ति है।'

अश्वल ने उत्तर सुना। स्वय भी ठीक स न जानता था। अत उत्तर को ठीक मानकर अगला प्रश्न किया—'बताओ, ससार मे जो कुछ है वह दिन और रात से व्याप्त है। रात ओर दिन के अधीन। यजमान दिन और रात का अतिक्रमण किस साधन से कर सकता हे ?'

उसने उत्तर दिया—'अर्ध्वयु ऋत्विक ओर चक्षु रूपी आदित्य के द्वारा। यज्ञ का अर्ध्वयु है चक्षु। यह चक्षु ही आदित्य है। वही मुक्ति है। वही अति मुक्ति।

प्रश्न अच्छा ! बताओ तो। सब कुछ पूर्व पक्ष और अपर पक्ष से भी व्याप्त हे। पूव पक्ष ओर अपर पक्ष के वश मे। यजमान इनसे कैसे मुक्त हो सकता है ?

उत्तर उद्गाता ऋत्विक से और वायु रूप प्राण से। कारण उद्गाता यज्ञ का प्राण है। प्राण ही वायु है वही उद्गाता, मुक्ति और अतिमुक्ति भी है।

प्रश्न अन्तरिक्ष निरालम्ब हे। वहाँ पहुँचने का कोई रास्ता नही है। फिर यजमान स्वर्गलोक मे चढता केसे है ?

उत्तर ब्रह्मा ऋत्विक के द्वारा। मनरूपी चन्द्रमा से। यह जो मन है वह स्वय चन्द्रमा है। वही ब्रह्मा भी हे। वह मुक्ति और अतिमुक्ति भी है।

प्रश्न आज के यज्ञ मे होता कितनी ऋचाओ से शस्त्र-शसन करेगा ?

उत्तर तीन से।

प्रश्न नाम बताओ ?

उत्तर पुरोनुवाक्या या यज्ञ से पहले पढी जाने वाली ऋचाएँ याज्या या याग के समय प्रयुक्त होने वाली ऋचाएँ और शस्या या शस्य कर्म के लिए प्रयुक्त ऋचाएँ।'

प्रश्न इनसे यजमान किन-किन को जीत लेता है ?

उत्तर समस्त प्राणी समुदाय को।

प्रश्न आज इस यज्ञ मे अर्ध्वयु कितनी आहुतियॉ होम करेगा ?

उत्तर तीन।

प्रश्न कोन-सी तीन ?

उत्तर एक वह जो होम के बाद प्रज्वलित होती है, दूसरी जो होम करने पर आवाज करती है। तीसरी वह जो होम करने पर पृथ्वी मे लीन हो जाती है।

प्रश्न इनके द्वारा यजमान किसको जीतता है ?

उत्तर जो हवन करने के बाद प्रकाश देती हे उससे स्वर्गलोक को, क्योकि स्वर्ग प्रकाशमान है। होम करते समय जो आवाज करती है, उससे पितृलोक को क्योकि उसमे शोर बहुत अधिक हे। जो होम करने के बाद धरती मे लीन हो जाती है, उससे मनुष्य लोक को, क्योकि मर्त्यलोक इन तीनो मे सबसे नीचे है।

प्रश्न ब्रह्मा यज्ञ मे दक्षिण की ओर बैठकर कितने देवताओ द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है ?

उत्तर एक के द्वारा।

प्रश्न वह कौन हे ?

उत्तर मन। हमारे मन का उसी तरह कोई अन्त नही है जैसे देव समाज का कोई अन्त नही। अत मन से यजमान अनन्त लोको को जीत लेता है।

प्रश्न आज इस यज्ञ मे उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओ का स्तवन करेगा ?

उत्तर तीन का।

प्रश्न कौन-सी तीन ?

उत्तर पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या।

प्रश्न इनका परिचय क्या है ?

उत्तर प्राण पुरोनुवाक्य है अपान याज्य है और व्यान शक्या।

प्रश्न इनसे यजमान किनको जीतता है ?

उत्तर पुरोनुवाक्या से मर्त्यलोक को, याज्या से अन्तरिक्ष लोक को और शस्या से द्युलोक को।

चूँकि उपनिषद् की यह कहानी बहुत लम्बी है। इसका विस्तार बचाने के लिए ही हमने इसे प्रश्न-उत्तर के रूप मे ऊपर दिया है। जहॉ-जहॉ आवश्यकता पडेगी, इसी प्रश्न-उत्तर की योजना को अपनाया जाएगा, अन्यथा बहुत खिचती चली जाएगी यह उपनिषद् की गाथा।

अश्वल के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने तुरन्त दिया। हाजिर जवाबी का यह बेजोड नमूना था। उसके उत्तर सुन-सुनकर अश्वल ने अपनी पराजय

स्वीकार कर ली। वह मन से पराजित हो चुका था।

प्रश्न-उत्तर के इस अवसर पर अश्वल सोच रहा था—काश कि मेरा तीर ठीक बेठे। मने यज्ञविधान के अनेक प्रश्न उठाए याज्ञवल्क्य ने इनका उत्तर ब्रह्मवादी यज्ञ के रूप मे दिया हे। काश कि कर्मकाडीय यज्ञ का आसरा लेकर वह उत्तर देता। बस काबू आ जाता। मेरा तीर ठीक निशाने पर बेठता। मगर ऐसा तो हुआ ही नही। यह मानना पडेगा कि उस समय के सभी ब्रह्मवादी (जिनमे याज्ञवल्क्य का नाम विशेष है) अध्यात्म के बल पर सबको अपने पीछ लगाना जानते थे। कभी कोई मोका न चूकते थे।

उस समय यह धारणा बलवती हो चुकी थी कि किसी भी आकाक्षा से यज्ञ आर अनुष्ठान करन से यदि मनुष्य को कुछ मिला भी तो स्वर्ग मिल सकता है। इसस बार-बार जन्म लेने और फिर मर जाने को मुक्ति मिलना असम्भव हे। उस समय के इस दशन के अनुसार—ऐसा करने से अमरता नही मिल सकती।

हॉ उस समय के ब्रह्मवादी उन लोगो की दुर्बलताओ को भी खूब जानते-समझते थ। उनके लिए धम, यज्ञ, पूजा तब ही कोई अर्थ रखती है, जब इससे कोई सीधा लाभ होने वाला हो। इसीलिए वे इन्हे इसी ओर प्रेरित करते थे। आकर्षित करते थे। उनकी भावनाओ का लाभ उठाते थे। उन्हे विश्वास दिलाते थे कि उन्हे तीनो लोको की खुशियॉ प्राप्त हो सकती है। यह एक प्रलोभन था। उन्हे मिल जाना था। प्रलोभन देने वाले भी खुश। प्रलोभन पाने वाले भी खुश।

हॉ, यह भी स्वीकार करना पडेगा कि उन्होने यज्ञ को आत्मिक बनाने का प्रयत्न किया। मानस यज्ञ की स्तुति की। इसे ही सब यज्ञो मे उत्तम बताया। इसी मे यह पुरोहितो के वर्चस्व से छूट गया। बाहर आ गया। उन्होन यज्ञ को सभी वर्णो तथा समुदायो क लिए उपयुक्त घोषित किया। साध्य बना दिया। यह उस समय की सबसे अच्छी बात थी, जो सामने आई।

अश्वल की नाराजगी ओर याज्ञवल्क्य का अपने आपको ब्रह्मिष्ठ घोषित करना, हर प्रश्न का उत्तर देकर, गायो पर अपना अधिकार जतलाना, यह प्रसग अभी समाप्त नही होता। ठीक है, अश्वल ने याज्ञवल्क्य की ब्रह्मविद्या की जानकारी यज्ञ-धम की जानकारी को उत्कृष्ट मान लिया। स्वय तो लगभग घुटने टक दिए, फिर भी वह नही चाहता था कि याज्ञवल्क्य को हजारो गायो की प्राप्ति हो जाए। वह भी हर गाय के साथ दस-दस तोले सोना। अनेक दरबारी याज्ञवल्क्य के साथ खार खाते थे। राजा जनक के तेवर पहचानकर अश्वल ने प्रश्नो की बोछार लगा दी। प्रश्न पूरा होते ही उत्तर आ जाता। इसी कहानी को अगले भाग मे भी जारी रखगे। पूरी कहानी पूरा दर्शन एक साथ समझना और मन मे बिठाना कठिन हे। अत इसे विभक्त करना आवश्यक समझा गया है।

ब्रह्म-दर्शन-कथा-2

राजा जनक का गाय-प्रेम विश्व विख्यात है। अपने पास आवश्यकता से अधिक गायो के हो जाने पर वह अपने देश से बाहर रहने वाले विद्वानो को बुलाकर हजार, दो हजार गाय देना उत्तम समझते थे। अपने पास चरागाहे सीमित होने के कारण ही वह अपनी आवश्यकता से अधिक गायो को दूसरे देशो मे, एक सुनियोजित व चातुर्यपूर्ण ढग से भेज देते थे। भेट मे दे देते थे। पारितोषिक के रूप मे।

मगर एक बार उन्होने वहा पहुँचे कुरु व पाचाल देश के ब्राह्मणो से ऐसा सवाल कर दिया जिसके उत्तर मे आत्मविश्वास न होने के कारण वे चुप रहे। इस अवसर का लाभ उठाया उन्ही के दरबार मे मन्त्री-पद के समान सम्मान पानेवाले विद्वान् याज्ञवल्क्य ने। उसने अपने एक अनुयायी से कह दिया कि वह सारी गायो को अपने अधीन ले ले। उसका यह प्रयत्न राजा को अच्छा न लगा। उनके चेहरे के भाव भॉपकर एक अन्य दरबारी अश्वल ने मौका सॅभाला। वह पहले से ही याज्ञवल्क्य से खुन्दक खाता था। अब इसे नीचा दिखाने का अवसर जानकर उसने यज्ञ-धम के विषय मे यज्ञ-विधान के बारे मे अनेक प्रश्न दागे। और कह दिया कि यदि वह उत्तर से उन्हे सन्तुष्ट न कर सका तो वह गायो को ले जाने का अधिकारी नही रहेगा।

पहले भाग मे हमने बताया है कि अश्वल के सभी प्रश्नो का उत्तर उसने तुरन्त दिया ओर ठीक दिया। राजा जनक की उपस्थिति मे प्रश्न-उत्तर होना एक बडी बात है। और कोई तो कम जानकार हो सकता है, पर मिथिला-नरेश राजा जनक महान् विद्वान् थे। उन्होने भी याज्ञवल्क्य के किसी भी उत्तर पर कोई शका नही जताइ। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्तर ठीक थे। इस प्रकार अश्वल ने तो घुटने टेक दिए। मगर वहॉ बैठे अन्य विद्वान् याज्ञवल्क्य को अपने से योग्य नही मानते थे। अत अब अन्य विद्वानो ने विद्रोह का परचम उठा याज्ञवल्क्य पर प्रश्न करने आरम्भ कर दिए। आइए, उपनिषद् की इस कहानी के अगले भाग को देखते है।

राजा जनक विराजमान थे। जब प्रश्न पूछने की जिम्मेवारी अश्वल ने अपने ऊपर ले ली तो वहॉ सभा मे बेठे अन्य अनेक विद्वान् चुप हो गए। जब तक वह

प्रश्न पूछते रहे, वहॉ पूर्ण शान्ति बनी रही। किसी अन्य ने कोइ हस्तक्षेप न किया। न ही प्रश्न पूछा। भले ही उनके मन मे अनेक प्रश्न उछल रहे थे, मगर वे शान्त बेठे रहे। हॉ जिसे प्रश्न पूछने की बेहद उत्सुकता थी, वह थे आर्तभाग। वह जरूर सोच रहे थे कि कब अश्वल बैठे ओर उसे प्रश्न पूछने का अवसर मिले। आखिर मौका मिल ही गया।

आर्तभाग, अश्वल के प्रश्न पूछने पर सन्तुष्ट नही था। वह सोचता—'इसे न तो ब्रह्म ज्योतिर्विज्ञान की पूरी जानकारी है, और न ही अति भोतिकी की। यज्ञ विज्ञान की जानकारी भी सन्तोषजनक नही हे। जब मेरी बारी आएगी तो मै याज्ञवल्क्य के छक्के छुडा दूँगा।'

कुछ हद तक आर्त भाग ठीक भी था। देखिए न, उस समय के ब्रह्मवादियो ने अपना सिक्का चला डाला। उन्होने यज्ञ, यजन, यजमान और मृत्विको की परिभाषा ही बदल डाली थी। उन्होने दीन और दुनिया की पुरानी धारणा को बदल दिया था। ऐसा चुपचाप किया हो या ब्रह्मचर्चा से, मगर किया जरूर।

उस समय के ब्रह्मवादियो के लिए 'मृत्यु' का अर्थ 'मृत्यु' था ही नही। उनकी परिभाषा के अनुसार जीवन ओर जगत् के प्रति अज्ञान जनित आसक्ति ही तो मृत्यु थी। मरना फिर परम ब्रह्म मे विलीन हो जाना, यही 'अमरता' मानते। इसीलिए तो आर्त भाग ने उन मुद्दो को लेकर प्रश्न पूछने चाहे जिनकी समझ शायद अश्वल को तो थी ही नही। जब ऐसी समझ थी ही नही, तो पूछता कैसे ?

आर्तभाग का पहला प्रश्न था—'क्या तुम्हे पता है कि ग्रहो की सख्या कितनी है ? अतिग्रह कितने ?'

इस प्रश्न ने, भले ही यह गम्भीर था याज्ञवल्क्य को जरा भी विचलित नही किया क्योकि उसके पास इसका माकूल उत्तर जो था। वह बोला—'ग्रहो की सख्या आठ है तथा अतिग्रहो की सख्या भी इतनी ही।'

जेसा लग रहा था, आर्तभाग ने अब उन ग्रहो के नाम ही पूछ लिए। याज्ञवल्क्य ने बडी सरलता से कहना शुरू किया—'पहला ग्रह प्राण है। यह ग्रह अपान रूपी अतिग्रह से गृहीत है कयोकि अपान से ही गन्ध को सूँघा जाता है। कहो ठीक ?'

'हॉ, बिलकुल ठीक। आगे चलो।'

'तो सुनो। दूसरा ग्रह वाक् है। इसी ग्रह के कारण हम नामो से पुकारते है। उच्चारते है। इस ग्रह का अतिग्रह है नाम-रूप। हमारी वाणी भी इसी से अतिग्रहीत है। लो तो तीसरे ग्रह का नाम सुनो। यह हे जिह्वा। इसी जिह्वा से हम समस्त रसो को प्राप्त करते है। ग्रहण करते है। इसीलिए रस ही इसका अतिग्रह है।'

'अब तक तो ठीक कहा तुमने। अब आगे चलो।'

आर्तभाग से हरी झण्डी पाकर, याज्ञवल्क्य ने चौथे ग्रह का नाम 'चक्षु' बताया। इसी से हम देख सकते है। रूप पाते है। किसी के रूप को ग्रहण करते है। अत रूप ही इसका अतिग्रह है। इसी से यह ग्रहीत है। और, मेरे भाई आर्तभाग, सुन। पॉचवॉ ग्रह कान है। इसी से आवाज सुनते है। पुकार सुनते है। नाद सुनते है। नाद या शब्द ही इसका अतिग्रह है जिससे यह ग्रहीत है। तुम चुप हो। लगता है, मै अब तक ठीक हूॅ। अब छठे ग्रह की बात करता हूॅ। यह है हमारा मन। इसी से हम कामना किया करते है। अत कामना इसका अतिग्रह है, जिससे यह ग्रहीत रहता है।'

याज्ञवल्क्य जरा रुका लेकिन सोचने की मुद्रा मे नही। याद करने के लिए भी नही। बस, उसने गला साफ किया और आगे कहा—'छ ग्रह बता चुका हूॅ। सातवॉ ग्रह है हाथ। इसी से काम किया जाता है। कर्म इसका अतिग्रह है। इसी से यह ग्रहीत रहता है। ओर आठवॉ ग्रह है हमारी त्वचा। इस त्वचा का अतिग्रह 'स्पर्श' है।'

राजा जनक को भी ये उत्तर भा गए। ऐसा उनकी मुखमुद्रा से लग रहा था।

आर्तभाग के प्रश्न का उत्तर सही था। उसने अगला प्रश्न किया—'ससार मे जो कुछ है, सब मृत्यु का आहार है। उस देवता का नाम बताओ जो मृत्यु को खा सकता है ? जिसका खाद्य ही यह मृत्यु है ?

उत्तर आया—'देखिए आर्तभाग जी ! अग्नि ही मृत्यु है। अग्नि हर वस्तु के अन्दर यो छिपकर बैठी है जैसे कोई चिडिया अपने ही घोसले मे दुबककर बैठी हो। भीतर रहते हुए, वह उन्हे जलाती रहती है। मगर इसका आभास सुगमता से नही होता। यदि कोई भी वस्तु 'तापहीन' हालत मे रखे, तो इसमे कोई परिवर्तन नही आएगा। भले ही वह सैकडो वर्ष क्यो न पडी रहे। लाखो वर्ष तापहीनता की अवस्था मे रखने से भी उस वस्तु के आकार मे कोई विकार नही आएगा। रूप परिवर्तित नही होगा।

'अब आगे सुनिए। जल ही आग को खा सकता है। शीतलता, ठण्डक ही आग को बुझा पाती है। अत मृत्यु जल का आहार हुआ। वह आग को निगल जाता हे। बुझा डालता हे।

'मगर जल क्या है ? यह तो स्वय ही ब्रह्म हे। रस ही तो है जल। जो इतनी बात ठीक से जान ले, वह मर भी नही सकता।'

याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग के अब तक पूछे दर्शन-युक्त प्रश्नो का ठीक उत्तर दे दिया। उसे पूरी तरह सन्तुष्ट कर दिया। मगर जब तक उसके जेहन मे उठे सवाल समाप्त नही हो जात, वह पूछता रहेगा। अबकी बार पूछा—'जिस वक्त कोई प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है, उस समय उसके प्राण ऊपर जाते है, या नही

जाते ?'

'बन्धु ! याद रखना। यहॉ से कुछ नही जाता। सब कुछ यही रहता हे। लीन हो जाता है। प्राण जब शरीर को छोडते है तो इसमे वायु का प्रवेश हो जाता है। वायु के प्रवेश से मृतक का शरीर फूल जाता है। इसीलिए वह जहॉ है, वही पडा रहता है।'

आर्तभाग ने सुना। याज्ञवल्क्य के विचार निडरतापूर्वक, पूरी तरह स्पष्ट थे। उसे अच्छे लगे। उसने एक और प्रश्न कर दिया—'अच्छा ! अब बताओ कि मरने के बाद पुरुष को क्या नही छोडता ?'

'उतर स्पष्ट है। पुरुष का नाम उसे नही छोडता—मर जाने के बाद भी। चाहे वह न रहे, मगर उसका नाम तब भी बना रहेगा। मनुष्य मर जाता है मगर नाम जीवित रहता है। यह कभी समाप्त नही होता। नाम ही अनन्त है। जैसे विश्व देवो का अन्त नही। वे अनन्त है। उनकी अनन्तता बनी रहती है। जिसे इस अनन्तता का बोध हो जाए, वह इसके द्वारा ही अनन्त लोक को जीत लेता है।'

हर प्रश्न का उत्तर ठीक मिल रहा था तथा बिना विलम्ब किए। इसमे किन्तु की कोइ गुजाइश न थी। आर्तभाग भी मन-ही-मन चकित हो रहा था। अब उसे लग रहा था कि अश्वल भी बुद्धिमान् था। उसके प्रश्न भी अच्छे थे। यह तो स्वय याज्ञवल्क्य ही बुद्धिमान हे, इसीलिए हर प्रश्न का उत्तर हाजिर जवाबी की तरह आ रहा था। फिर भी, आर्तभाग विश्राम से बैठना नही चाहता था। एकाध प्रश्न और पूछा उसने, इस उम्मीद के साथ कि शायद याज्ञवल्क्य अपने हाथ खडे कर दे।

नया प्रश्न था—'जिस समय मृतक का वाक् अग्नि मे लीन हो जाता है, प्राण वायु मे लुप्त चक्षु आदित्य मे, मन चन्द्रमा मे, श्रोत्र दिशा मे शरीर पृथ्वी मे हृदयाकाश भोतिक आकाश मे, लोम औषधियो मे, केश वनस्पतियो मे, लोहित और वीर्य जल मे लीन हो जाते हे, उस समय यह पुरुष कहॉ रहता है ?'

अपनी ओर से आर्तभाग ने एक कठिन, उलझा हुआ, टेढा-सा प्रश्न पूछ लिया। उसने तो सोचा था कि इसका उत्तर याज्ञवल्क्य के पास नही होगा। मगर यह उसकी भूल थी। वह इसका उत्तर जानता था। फिर भी उसने आर्तभाग को लिया तथा एक कोने मे चले गए। वह नही चाहता था कि भरी सभा मे इसके उत्तर पर चर्चा हो।

याज्ञवल्क्य ने कहा—'मेरे भाई आतभाग ! ऐसे प्रश्न कभी भी भरी सभा मे नही करने चाहिए। मान लो इनका उत्तर न बन पडे तो सभी ऋषि बदनाम होगे। आम आदमी तो मान लेगा कि ऋषियो का ज्ञान सीमित है। आओ, मिलकर सोचे। सुलझाऍ इसे।'

थोडी देर तक विचार-विमश चलता रहा। दोनो मिलकर उत्तर की तलाश

आर्तभाग से हरी झण्डी पाकर, याज्ञवल्क्य ने चौथे ग्रह का नाम 'चक्षु' बताया। इसी से हम देख सकते है। रूप पाते है। किसी के रूप को ग्रहण करते है। अत रूप ही इसका अतिग्रह है। इसी से यह ग्रहीत है। और, मेरे भाई आर्तभाग, सुन। पॉचवॉ ग्रह कान है। इसी से आवाज सुनते है। पुकार सुनते है। नाद सुनते है। नाद या शब्द ही इसका अतिग्रह है जिससे यह ग्रहीत है। तुम चुप हो। लगता है, मै अब तक ठीक हूँ। अब छठे ग्रह की बात करता हूँ। यह है हमारा मन। इसी से हम कामना किया करते है। अत कामना इसका अतिग्रह है, जिससे यह ग्रहीत रहता है।'

याज्ञवल्क्य जरा रुका लेकिन सोचने की मुद्रा मे नही। याद करने के लिए भी नही। बस, उसने गला साफ किया और आगे कहा—'छ ग्रह बता चुका हूँ। सातवॉ ग्रह है हाथ। इसी से काम किया जाता है। कर्म इसका अतिग्रह है। इसी से यह ग्रहीत रहता हे। और आठवॉ ग्रह है हमारी त्वचा। इस त्वचा का अतिग्रह 'स्पर्श' है।'

राजा जनक को भी ये उत्तर भा गए। ऐसा उनकी मुखमुद्रा से लग रहा था।

आर्तभाग के प्रश्न का उत्तर सही था। उसने अ'ाला प्रश्न किया—'ससार मे जो कुछ है, सब मृत्यु का आहार है। उस देवता का नाम बताओ जो मृत्यु को खा सकता है ? जिसका खाद्य ही यह मृत्यु है ?'

उत्तर आया—'देखिए आर्तभाग जी ! अग्नि ही मृत्यु है। अग्नि हर वस्तु के अन्दर यो छिपकर बैठी है जैसे कोई चिडिया अपने ही घोसले मे दुबककर बैठी हो। भीतर रहते हुए वह उन्हे जलाती रहती है। मगर इसका आभास सुगमता से नही होता। यदि कोई भी वस्तु 'तापहीन' हालत मे रखे, तो इसमे कोई परिवर्तन नही आएगा। भले ही वह सैकडो वर्ष क्यो न पडी रहे। लाखो वर्ष तापहीनता की अवस्था मे रखने से भी उस वस्तु के आकार मे कोई विकार नही आएगा। रूप परिवर्तित नही होगा।

'अब आगे सुनिए। जल ही आग को खा सकता है। शीतलता, ठण्डक ही आग को बुझा पाती है। अत मृत्यु जल का आहार हुआ। वह आग को निगल जाता है। बुझा डालता है।

'मगर जल क्या है ? यह तो स्वय ही ब्रह्म है। रस ही तो है जल। जो इतनी बात ठीक से जान ले, वह मर भी नही सकता।'

याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग के अब तक पूछे दर्शन-युक्त प्रश्नो का ठीक उत्तर दे दिया। उसे पूरी तरह सन्तुष्ट कर दिया। मगर जब तक उसके जेहन मे उठे सवाल समाप्त नही हो जात, वह पूछता रहेगा। अबकी बार पूछा—'जिस वक्त कोई प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता हे, उस समय उसके प्राण ऊपर जाते है, या नही

जाते ?'

'बन्धु ! याद रखना। यहॉ से कुछ नही जाता। सब कुछ यही रहता हे। लीन हो जाता है। प्राण जब शरीर को छोडते है तो इसमे वायु का प्रवेश हो जाता हे। वायु के प्रवेश से मृतक का शरीर फूल जाता है। इसीलिए वह जहॉ है, वही पडा रहता है।'

आर्तभाग ने सुना। याज्ञवल्क्य के विचार निडरतापूर्वक, पूरी तरह स्पष्ट थे। उसे अच्छे लगे। उसने एक और प्रश्न कर दिया—'अच्छा ! अब बताओ कि मरने के बाद पुरुष को क्या नही छोडता ?'

'उतर स्पष्ट है। पुरुष का नाम उसे नही छोडता—मर जाने के बाद भी। चाहे वह न रहे, मगर उसका नाम तब भी बना रहेगा। मनुष्य मर जाता है मगर नाम जीवित रहता है। यह कभी समाप्त नही होता। नाम ही अनन्त है। जैसे विश्व देवो का अन्त नही। वे अनन्त है। उनकी अनन्तता बनी रहती है। जिसे इस अनन्तता का बोध हो जाए, वह इसके द्वारा ही अनन्त लोक को जीत लेता है।'

हर प्रश्न का उत्तर ठीक मिल रहा था तथा बिना विलम्ब किए। इसमे किन्तु की कोई गुजाइश न थी। आर्तभाग भी मन-ही-मन चकित हो रहा था। अब उसे लग रहा था कि अश्वल भी बुद्धिमान् था। उसके प्रश्न भी अच्छे थे। यह तो स्वय याज्ञवल्क्य ही बुद्धिमान हे, इसीलिए हर प्रश्न का उत्तर हाजिर जवाबी की तरह आ रहा था। फिर भी, आर्तभाग विश्राम से बैठना नही चाहता था। एकाध प्रश्न और पूछा उसने इस उम्मीद के साथ कि शायद याज्ञवल्क्य अपने हाथ खडे कर दे।

नया प्रश्न था—'जिस समय मृतक का वाक् अग्नि मे लीन हो जाता है, प्राण वायु मे तुप्त चक्षु आदित्य मे, मन चन्द्रमा मे, श्रोत्र दिशा मे, शरीर पृथ्वी मे, हृदयाकाश भातिक आकाश मे, लोम औषधियो मे, केश वनस्पतियो मे, लोहित ओर वीर्य जल मे लीन हो जाते है, उस समय यह पुरुष कहॉ रहता है ?'

अपनी ओर से आतभाग ने एक कठिन, उलझा हुआ, टेढा-सा प्रश्न पूछ लिया। उसने तो सोचा था कि इसका उत्तर याज्ञवल्क्य के पास नही होगा। मगर यह उसकी भूल थी। वह इसका उत्तर जानता था। फिर भी उसने आर्तभाग को लिया तथा एक कोने मे चले गए। वह नही चाहता था कि भरी सभा मे इसके उत्तर पर चर्चा हो।

याज्ञवल्क्य ने कहा—'मेरे भाइ आतभाग ! ऐसे प्रश्न कभी भी भरी सभा मे नही करने चाहिए। मान लो इनका उत्तर न बन पडे तो सभी ऋषि बदनाम होगे। आम आदमी तो मान लेगा कि ऋाषेयो का ज्ञान सीमित है। आओ, मिलकर सोचे। सुलझाएँ इसे।'

थोडी देर तक विचार-विमर्श चलता रहा। दोनो मिलकर उत्तर की तलाश

आर्तभाग से हरी झण्डी पाकर, याज्ञवल्क्य ने चौथे ग्रह का नाम 'चक्षु' बताया। इसी से हम देख सकते है। रूप पाते है। किसी के रूप को ग्रहण करते है। अत रूप ही इसका अतिग्रह है। इसी से यह ग्रहीत है। और मेरे भाई आर्तभाग सुन। पॉचवॉ ग्रह कान है। इसी से आवाज सुनते है। पुकार सुनते है। नाद सुनते है। नाद या शब्द ही इसका अतिग्रह है जिससे यह ग्रहीत है। तुम चुप हो। लगता है, मै अब तक ठीक हूॅ। अब छठे ग्रह की बात करता हूॅ। यह है हमारा मन। इसी से हम कामना किया करते है। अत कामना इसका अतिग्रह है, जिससे यह ग्रहीत रहता है।'

याज्ञवल्क्य जरा रुका लेकिन सोचने की मुद्रा मे नही। याद करने के लिए भी नही। बस, उसने गला साफ किया और आगे कहा—'छ ग्रह बता चुका हूॅ। सातवॉ ग्रह है हाथ। इसी से काम किया जाता है। कर्म इसका अतिग्रह है। इसी से यह ग्रहीत रहता है। और आठवॉ ग्रह है हमारी त्वचा। इस त्वचा का अतिग्रह 'स्पर्श' है।'

राजा जनक को भी ये उत्तर भा गए। ऐसा उनकी मुखमुद्रा से लग रहा था।

आर्तभाग के प्रश्न का उत्तर सही था। उसने अगला प्रश्न किया—'ससार मे जो कुछ है सब मृत्यु का आहार है। उस देवता का नाम बताओ जो मृत्यु को खा सकता है ? जिसका खाद्य ही यह मृत्यु है ?'

उत्तर आया—'देखिए आर्तभाग जी ! अग्नि ही मृत्यु है। अग्नि हर वस्तु के अन्दर यो छिपकर बैठी है जैसे कोई चिडिया अपने ही घोसले मे दुबककर बैठी हो। भीतर रहते हुए, वह उन्हे जलाती रहती है। मगर इसका आभास सुगमता से नही होता। यदि कोई भी वस्तु 'तापहीन' हालत मे रखे, तो इसमे कोई परिवर्तन नही आएगा। भले ही वह सैकडो वर्ष क्यो न पडी रहे। लाखो वर्ष तापहीनता की अवस्था मे रखने से भी उस वस्तु के आकार मे कोई विकार नही आएगा। रूप परिवर्तित नही होगा।

'अब आगे सुनिए। जल ही आग को खा सकता है। शीतलता, ठण्डक ही आग को बुझा पाती है। अत मृत्यु जल का आहार हुआ। वह आग को निगल जाता है। बुझा डालता है।

'मगर जल क्या है ? यह तो स्वय ही ब्रह्म है। रस ही तो हे जल। जो इतनी बात ठीक से जान ले, वह मर भी नही सकता।'

याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग के अब तक पूछे दर्शन-युक्त प्रश्नो का ठीक उत्तर दे दिया। उसे पूरी तरह सन्तुष्ट कर दिया। मगर जब तक उसके जेहन मे उठे सवाल समाप्त नही हो जाते, वह पूछता रहेगा। अबकी बार पूछा—'जिस वक्त कोई प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है, उस समय उसके प्राण ऊपर जाते है, या नही

जाते ?'

'बन्धु ! याद रखना। यहाँ से कुछ नही जाता। सब कुछ यही रहता है। लीन हो जाता है। प्राण जब शरीर को छोडते है तो इसमे वायु का प्रवेश हो जाता है। वायु के प्रवेश से मृतक का शरीर फूल जाता है। इसीलिए वह जहाँ है, वही पडा रहता है।'

आर्तभाग ने सुना। याज्ञवल्क्य के विचार निडरतापूर्वक, पूरी तरह स्पष्ट थे। उसे अच्छे लगे। उसने एक और प्रश्न कर दिया—'अच्छा ! अब बताओ कि मरने के बाद पुरुष को क्या नही छोडता ?'

'उत्तर स्पष्ट है। पुरुष का नाम उसे नही छोडता—मर जाने के बाद भी। चाहे वह न रहे, मगर उसका नाम तब भी बना रहेगा। मनुष्य मर जाता है मगर नाम जीवित रहता है। यह कभी समाप्त नही होता। नाम ही अनन्त है। जैसे विश्व देवो का अन्त नही। वे अनन्त है। उनकी अनन्तता बनी रहती है। जिसे इस अनन्तता का बोध हो जाए वह इसके द्वारा ही अनन्त लोक को जीत लेता है।'

हर प्रश्न का उत्तर ठीक मिल रहा था तथा बिना विलम्ब किए। इसमे किन्तु की कोई गुजाइश न थी। आर्तभाग भी मन-ही-मन चकित हो रहा था। अब उसे लग रहा था कि अश्वल भी बुद्धिमान् था। उसके प्रश्न भी अच्छे थे। यह तो स्वय याज्ञवल्क्य ही बुद्धिमान हे, इसीलिए हर प्रश्न का उत्तर हाजिर जवाबी की तरह आ रहा था। फिर भी, आर्तभाग विश्राम से बैठना नही चाहता था। एकाध प्रश्न और पूछा उसने, इस उम्मीद के साथ कि शायद याज्ञवल्क्य अपने हाथ खडे कर दे।

नया प्रश्न था—'जिस समय मृतक का वाक् अग्नि मे लीन हो जाता है प्राण वायु मे लुप्त, चक्षु आदित्य मे, मन चन्द्रमा मे, श्रोत्र दिशा मे, शरीर पृथ्वी मे, हृदयाकाश भौतिक आकाश मे, लोम औषधियो मे, केश वनस्पतियो मे, लोहित और वीर्य जल मे लीन हो जाते है, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है ?'

अपनी ओर से आर्तभाग ने एक कठिन, उलझा हुआ, टेढा-सा प्रश्न पूछ लिया। उसने तो सोचा था कि इसका उत्तर याज्ञवल्क्य के पास नही होगा। मगर यह उसकी भूल थी। वह इसका उत्तर जानता था। फिर भी उसने आर्तभाग को लिया तथा एक कोने मे चले गए। वह नही चाहता था कि भरी सभा मे इसके उत्तर पर चर्चा हो।

याज्ञवल्क्य ने कहा—'मेरे भाई आर्तभाग ! ऐसे प्रश्न कभी भी भरी सभा मे नही करने चाहिए। मान लो इनका उत्तर न बन पडे तो सभी ऋषि बदनाम होगे। आम आदमी तो मान लेगा कि ऋषियो का ज्ञान सीमित है। आओ, मिलकर सोचे। सुलझाएँ इसे।'

थोडी देर तक विचार-विमर्श चलता रहा। दोनो मिलकर उत्तर की तलाश

करते रहे। वास्तव मे प्रश्न करने वाले ने तो कर दिया इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर उसके पास भी न था। सोच-विचार का निष्कर्ष निकला—'मर जाने के बाद, सब कुछ लीन हो जाने के बाद आदमी का कर्म बचा रहता है। जो कुछ भी वे शुभ, अशुभ करते है, उसका प्रभाव बना रहता है। समाप्त नही होता। इसी से पाप ओर पुण्य का निर्णय होता है। इसी से मनुष्य दोबारा जन्म लेता है। जेसे कर्म, वेसी दह।'

इस उत्तर पर दोनो ने सहमति जतलाई। श्रोताओ को भी यह उत्तर पसन्द आया। ठीक लगा।

अश्वल और आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य के ज्ञान को अपने से श्रेष्ठ मान लिया। मगर वहाँ अन्य विद्वान् भी बैठे थे। वे भी प्रश्न करने के लिए आतुर थे। उपनिषद् की इस कथा के तीसरे भाग को अ ाले अध्याय मे देखते है। इस अध्याय को यही विराम देते है।



ब्रह्म-दर्शन-कथा-3

राजा जनक ने सभा बुलाई थी। एक पव का आयोजन किया था। अपने देश से कुरु तथा पाचाल देश मे हजारो गायो को भेजना था। वह चाहते थे कि इन गायो को पट भर घास मिले। पानी मिले। वातावरण मिले। मगर यदि वह यो ही, मुफ्त मे अकारण किसी को गाये दे तो वह न लेगा। इन गायो की कदर न होगी। सेवा न हागी। इनसे उपयुक्त लाभ न उठाया जाएगा। इसीलिए बडी चतुराई से, प्रश्नो के उत्तर पाकर, ज्ञान की कुछ परख करके गायो को देना स्वीकाय होता। पारिनाषिक माना जाता।

याज्ञवल्क्य ने इन गायो पर अपना अधिकार तो जतला दिया था, मगर आसानी से कोन मानता। जो उनसे जलते थे, वे तो बिलकुल बागी हो गए। माने ही नही। उसे प्रश्ना का उत्तर देकर ब्रह्मिष्ठ सिद्ध करना था, तभी रख सकता था वह इन हजारो गायो को।

अश्वल ने पहल की। बहुत-से प्रश्न पूछे। स्वय पराजित होकर बैठ गया। अब आर्तभाग ने भी प्रश्न पूछे। हराने मे कोई कसर न रखी। मगर स्वय हारना पडा। अब भी याज्ञवल्क्य विजयी रहा। आर्तभाग पराजित।

प्रश्न पूछने वालो की कतार लगी थी। तीसरे विद्वान् का नाम था भुज्यु। भुज्यु के दादाश्री का नाम था लह्य। उसी के नाम को उजागर किया हुआ था भुज्यु ने। जितना ज्ञान, जितना रहस्य, किसी बडे विद्वान् को, आचार्य को, गुरु को प्राप्त नही हो सकता उतना ज्ञान भुज्यु का पहले ही प्राप्त हो चुका था। कहते हे कि जो ज्ञान मृत्यु के बाद प्राप्त होता है, उसका ज्ञान भी था भुज्यु के पास। वह इतना अधिक ज्ञान युक्त था कि दूसरे दग रह जाते। भुज्यु को तो दिव्यज्ञान की प्राप्ति भी हो चुकी थी। इसीलिए उसने याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता को मानने से इनकार कर दिया। कुछ प्रश्न पूछकर तसल्ली करनी चाही। यदि वह उसके प्रश्नो का सही उत्तर दे देता है, तभी वह राजा की हजारो गायो को ले जा सकता है।

लह्य के पोते भुज्यु को प्रश्न पूछना था। याज्ञवल्क्य को प्रश्नो के उत्तर देने थे। दोनो ओर विद्वान् खडे थे। न कोई उन्नीस था, न ही कोई इक्कीस। फिर भी मुकाबला हो रहा था।

ब्रह्म-दर्शन-कथा-3

ा जनक ने सभा बुलाई थी। एक पर्व का आयोजन किया था। अपने देश से तथा पाचाल देश मे हजारो गायो को भेजना था। वह चाहते थे कि इन गायो पेट भर घास मिले। पानी मिले। वातावरण मिले। मगर यदि वह यो ही, मुफ्त अकारण किसी को गाये दे तो वह न लेगा। इन गायो की कदर न होगी। सेवा ोगी। इनसे उपयुक्त लाभ न उठाया जाएगा। इसीलिए बडी चतुराई से, प्रश्नो उत्तर पाकर ज्ञान की कुछ परख करके, गायो को देना स्वीकाय होता। ोषिक माना जाता।

याज्ञवल्क्य ने इन गायो पर अपना अधिकार ता जतला दिया था मगर ानी स कोन मानता। जो उनसे जलते थे, वे तो बिलकुल बागी हो गए। माने नही। उसे प्रश्नो का उत्तर देकर ब्रह्मिष्ठ सिद्ध करना था तभी रख सकता था इन हजारो गायो को।

अश्वल ने पहल की। बहुत-से प्रश्न पूछे। स्वय पराजित होकर बैठ गया। आर्तभाग ने भी प्रश्न पूछे। हराने मे कोई कसर न रखी। मगर स्वय हारना । अब भी याज्ञवल्क्य विजयी रहा। आतभाग पराजित।

प्रश्न पूछने वालो की कतार लगी थी। तीसरे विद्वान् का नाम था भुज्यु। ु के दादाश्री का नाम था लह्य। उसी के नाम को उजागर किया हुआ था भुज्यु जितना ज्ञान, जितना रहस्य, किसी बडे विद्वान् को, आचार्य को, गुरु को प्राप्त हो सकता उतना ज्ञान भुज्यु का पहले ही प्राप्त हो चुका था। कहते है कि जो ा मृत्यु के बाद प्राप्त होता है, उसका ज्ञान भी था भुज्यु के पास। वह इतना ाक ज्ञान युक्त था कि दूसरे दग रह जाते। भुज्यु को तो दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो चुकी थी। इसीलिए उसने याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता को मानने से इनकार कर ा। कुछ प्रश्न पूछकर तसल्ली करनी चाही। यदि वह उसके प्रश्नो का सही र दे देता है तभी वह राजा की हजारो गायो को ले जा सकता है।

लह्य के पोते भुज्यु को प्रश्न पूछना था। याज्ञवल्क्य को प्रश्नो के उत्तर देने दोनो ओर विद्वान् खडे थे। न कोई उन्नीस था, न ही कोई इक्कीस। फिर भी ाबला हो रहा था।

आइए, बात कर ले याज्ञवल्क्य की। उससे बडा ज्ञानी ससार मे दूसरा था ही नही। जिस बात को अन्य कोई जान ही नही सकता था, उसे वह जान सकता था। अलौकिक ज्ञान भी उसे प्राप्त था। यदि कोई ज्ञान, किसी को, विचित्र परिस्थितियो मे प्राप्त था, तो भी यह याज्ञवल्क्य से छिपा न था। वह शास्त्र-दृष्टि से निपुण था। आत्म-दृष्टि से सम्पन्न। दिव्य-दृष्टि से भी सम्पन्न। याज्ञवल्क्य जानता था कि दूर देश मे भी किसने किसे, क्या कहा। उससे कुछ भी छिपा न था।

इस समय भुज्यु और याज्ञवल्क्य आमने-सामने थे। भुज्यु के प्रश्न। याज्ञवक्ल्य के उत्तर।

प्रश्न-उत्तर से पूर्व भुज्यु ने एक घटना का वर्णन किया। ऑखो देखी अपनी उपस्थिति की घटना। यो थी घटना

मद्रदेश की बात।

भुज्यु भी वहॉ गया हुआ था। बस घूमने, विचरने के विचार से। कोई विशेष प्रयोजन न था भुज्यु का। किसी सबब से किसी कारण से भुज्यु जा पहॅुचा कपि गोत्रोत्पन्न पतजल के निवास पर।

उसे पता चला कि उनकी पुत्री को किसी का आवेश होता है। बाद मे यह भी स्पष्ट हो चुका था कि यह गन्धर्व का आवेश था। लडकी सुन्दर थी। युवा थी। विवाह योग्य आयु पा चुकी थी। मगर किसी कारण ठीक रिश्ता न मिल रहा था। योग्य वर की तलाश थी। बहुत भाग-दौड भी चल रही थी।

जब भी कभी वह घर से निकलती थी तो उसको गन्धर्व झपट लेता। उस पर सवार हो जाता। उसे उसका आवेश परेशान करता। कोई कहता भूत है। कोई कहता गन्धर्व है। कोई किसी अन्य की खोट बताता। काफी यत्न करके, टोना-टोटका करके, झाड-फूॅककर गन्धर्व का प्रभाव उतारा जाता।

इसी समय लोग बाते भी किया करते। कोइ कहता सयानी हो गई है तभी। कोई कहता गन्धर्व बहुत पापी होते है। इन्हे किसी का लिहाज नही होता। जहॉ सुन्दर लडकी देखी, उससे चिपक गए। युवतियो को तो गन्धर्वो की निगाह से बचकर रहना चाहिए।

कोई अन्य कहता—'अब भी वक्त है। जैसा लडका मिले, उसी से इसके हाथ पीले कर दे। तभी ठीक रहेगा।' आदि-आदि।

जिस समय उस तरुणी पर गन्धर्व का आवेश था, और झाड-फूॅक चल रही थी। तभी सुन्दरी के बाल पकडकर पूछा गया—'बता, तू कौन है ? अपना नाम बता। वरना तेरा यही सफाया कर देगे। तेरे से भी बडे-बडे बैठे है। हमारे अधीन है। बोल तू कौन हे ?'

'बताता हूँ। बाल ढीले छोडो।'

झाड-फूँक वाले ने बाल ढीले करने से इनकार कर दिया। जब तक बताएगा वह और कठोरता करता जाएगा। बालो को पूरी ताकत के साथ पकड, अपने टे से दो-तीन टिका दी युवती को। मगर इसकी पीडा उसको हो रही थी, का आवेश था।

वह झट बोला—'पापी ! मत मार ! सुन मेरा नाम। मै सुधन्वा आगरिस हूँ।'

'सच बोल।'

'यही सच हे। मे सुधन्वा आगरिस हूँ।'

यह सुनकर, लोगो ने सुधन्वा आगरिस से अनेक प्रश्न पूछे। उसने सबका दिया। उसने पूछने पर अनेक मर चुके लोगो के विषय मे भी पूछा। मरने के कौन कहाँ पहुँचा, कहाँ है, किस अवस्था मे है, सब कुछ बताता गया वह। मरने वालो का अगला ठिकाना, किसकी गति हुई या नही, नाम के साथ बता। जिसके बारे मे पूछा, उसी का पता बताता गया वह।'

भुज्यु भी वहाँ था। सब देख-सुन रहा था। मगर कोइ हस्तक्षेप नही किया। गोत्रोत्पन्न पतजल की बेटी के साथ कठोरता होती भी देखता रहा। महसूस ा रहा कि उस पर सचमुच गन्धर्व का साया हे। आवेश है। ओर सुनता रहा के अजीबोगरीब प्रश्न उसके उत्तर भी।

भुज्यु को भी जिज्ञासा हुई। कुछ पूछने का मन हुआ। पूछ लिया—'जरा ओ तो, परीक्षित के पुत्र जनमेजय अब कहाँ है ?'

भुज्यु को इसका उत्तर भी मिल गया। उस सुन्दरी के शरीर मे आवेश रूप ाए सुधन्वा आगरिस ने ठीक-ठीक बता दिया।

ऊपर दी इस घटना को भुज्यु ने ही, अपने मुँह से, सामने खडे याज्ञवल्क्य ुना दी। उसने भी बडे ध्यान से सुनी। फिर पूछ लिया—'माना यह सब हुआ। रे सामने हुआ। मगर मुझे क्यो सुना रहे हो इसे।'

'प्रश्न पूछना है। तुम्हे उत्तर देना है। इसलिए।'

'ठीक हे। तो पूछो प्रश्न।'

'मेरे प्रश्न के उत्तर मे गन्धर्व ने जो कुछ कहा—क्या वह बता सकते हो ?'

'क्यो नही। गन्धर्व का उत्तर था—परीक्षित वहाँ गए, जहाँ अश्वमेध करने जाते है।' इतना सुनते ही भुज्यु चकित हो गया। कमाल है। तुम तो वहाँ थे ही। फिर भी वही शब्द, बिलकुल वही कह दिए जो गन्धर्व ने कहे थे।'

'आपकी जिज्ञासा थी। आप मेरी परीक्षा ले रहे थे। इसीलिए वही शब्द ाने पडे।' याज्ञवल्क्य ने बडे ही साधारण शब्दो मे कह दिया। कोई अभिमान कोइ अकड नही। सरल भाव मे कहा था उसने यह सब।

तब भुज्यु ने पूछा—'अच्छा बता ! अश्वमेध-यज्ञ करने वाले कहाँ जाते है ?'

याज्ञवल्क्य से कुछ छिपा न था। उसने थोडा हिसाब लगाकर उत्तर दिया—'भा भुज्यु ! अश्वमेध यज्ञ करने वाले बत्तीस देवरथाह्नो के समान है वह लोक, जहॉ व मृत्यु के बाद पहॅुचते है। निवास करते हे।'

उत्तर पूरी तरह ठीक था।

यहॉ यह कहना भी अत्यन्त आवश्यक है कि याज्ञवल्क्य ज्योतिष गणित भी जानते थे। इसी के सहारे उन्होने अपना उत्तर निकाला। खूब गणना की, मग तुरन्त। यदि उन्हे उस लोक के भुवनकोष का परिमाण बताना था तो ज्योतिष गणित मे पारगत होना भी अनिवार्य था। सूर्य का रथ ही देवरथ माना जाता है यही सूर्य का रथ एक दिन मे कितनी दूरी तय करता है, इसे ज्ञानी देवरथाह्न क नाम देते है। यह भी तो पक्की बात है कि वेद ही हमारा पुरातन और सारयुक्त ज्ञान है। उपनिषदो मे वह सब निहित है, जिसे आज हम जानते है। इनमे वह भी निहित है, जिसे हम अभी नही जान पाए।

जिस लोक मे अश्वमेध यज्ञ करने वाले पहॅुचते हे, उस लोक के भूगोल औ खगोल से भी याज्ञवल्क्य पूरी तरह परिचित थे। इतना विशाल ज्ञान था उनका कोई भी 'दर्शन' उनसे छिपा न था। वह जानते थे कि उस लोक मे, किस रूप मे वे रहते थे। हमारे से वहॉ पर उनकी काया कितनी भिन्न थी, इसका ज्ञान भी थ याज्ञवल्क्य को।

विद्वान् बताते है कि वह लोक पृथ्वी के बीच होते हुए भी पृथ्वी से ही था। उस लोक की पृथ्वी को, चारो ओर से दोगुणी पृथ्वी घेरे हुए है। इस प्रकार के सभी रहस्य याज्ञवल्क्य को विदित थे। हो सकता है कि उस लोक वे चारो ओर समुद्र-ही-समुद्र हो, ऐसा सब निश्चित तौर पर उन्हे पता था।

याज्ञवल्क्य तो इतना भी जानते थे कि सभी लोक पिडाकार है। गोल है तब कुछ लोग मानते थे कि पृथ्वी चपटी है। मगर याज्ञवल्क्य तो तब भी कह करते कि यह चपटी नजर आती है। मगर चपटी है नही। यह पूरी तरह गोल है ऐसा उनका तब भी मानना था।

और याज्ञवल्क्य का यह भी कहना था कि पृथ्वी किसी की पीठ पर नहीं टिकी हुई। तब हमारे धार्मिक ग्रन्थ भी कहते कि यह किसी के सीग पर है। को कहता—किसी की पीठ पर हे। कोई बताता—शेषनाग के फन पर है। कोई अन्य विचित्र प्राणियो पर इसे टिका हुआ बताते। मगर याज्ञवल्क्य उस समय भी, उनस सहमत न थे। इतना विशाल ज्ञान था उनका।

विद्वान् अश्वमेध यज्ञ करने वालो की यो महिमा गाते है—'इससे यजमा अनेकानेक लोको पर विजय पा लेता है। उसके सभी पाप धुल जाते है। उसे पुण्य की प्राप्ति होती है। इतना होने पर भी, पाप धुल जाने पर भी, अनेक पुण्य उसवे

पास अलग से रह जाते है। सग्रहीत रहते हे। इनका उपयोग वह जब चाहे, जहॉ चाहे कर सकता हे। बाद मे भी। वर्षो बाद तक।'

कहा जाता है कि—'ऐस लोक एक नही, दो नही, बहुत ज्यादा है जहॉ अश्वमेध यज्ञ करने वाले वास करते है। उन्हे अलग-अलग लोक की सुगमता से प्राप्ति हो जाती हे। सभी लोक पास-पास है, भले ही विशाल हो। लोको के मध्य कोइ दूरी नही होती। पर स्वतन्त्र होते है। इनक बीच की दूरी—केवल हवा समझे। पख की मोटाइ के समान।'

'जो यह कहते हे कि इन्द्र ऐसे रथ मे बेठता है, जिसे हजार घोडे हॉका करते हैं। खीचा करते हैं। वे भ्रान्ति मे हे। यह तो चित्य अग्नि बताई गई हे इसी का नाम इन्द्र बताते हे। (शायद यही ठीक हो)।'

उपनिषदो मे आगे बताया गया है—'उस लोक मे मनुष्यो का शरीर ऐसा नही होता जेसा यहॉ धरती पर है। बल्कि वह वैराज शरीर से विराजता माना गया है। जैसे कर्म, वेसा फल। इसी को भोगने के लिए वहॉ जाना पडता है।'

देखिए ! याज्ञवल्क्य की जानकारी विशाल थी। विस्तृत थी। इतनी अधिक कि जितनी किसी अन्य की न हो। वह यह भी जानता था कि उस गन्धर्व ने भुज्यु को क्या उत्तर दिया। जबकि वह तो वहॉ था नही। कोइ अखबार नही। कोई दूरभाष नही। कही लिखित भी नही। तब भी उसे उसी के शब्दो का पता था। इसका ज्ञान था। पूरी जानकारी थी। जो कुछ याज्ञवल्क्य ने भुज्यु को उस लोक के बारे मे बताया, यही तो गन्धर्व ने उन्हे बताया था मद्रदेश मे विचरते हुए।

विद्वान् बताते है कि उस गन्धर्व ने भी वहॉ अश्वमेध यज्ञ करने वालो को ले जाने मे वायु का ही वर्णन किया था। तभी तो कहते हे कि वायु ही व्यष्टि हे तथा वायु ही समष्टि। जो इस सत्य से परिचित है उमे एक बार ता मरना ही होगा। तभी वह मुक्त हो सकेगा इस जन्म से। जो इस रहस्य को जानकर मृत्यु को पाता हे, वह दोबारा जन्म नही लेता। वह मुक्ति पा लेता है।

याज्ञवल्क्य की प्रखर बुद्धि व प्राप्ति की जितनी प्रशसा की जाए, उतनी कम हे। उनके विशाल ज्ञान का इससे बडा प्रमाण और कोई नही हो सकता कि हजारो-लाखो मील की दूरी पर, किसी विशेष परिस्थिति मे, किसी एक को बताए गन्धर्व के अपने शब्द, उससे प्राप्त ज्ञान को ज्यो-का-त्यो याज्ञवल्क्य द्वारा दोहरा देना, जबकि वह स्वय वहॉ था ही नही, सचमुच अद्भुत बात लगती है। ऐसा लगा जेसे उस अवसर पर वह भी भुज्यु के साथ थे। प्रत्यक्षदर्शी थे। वह दृश्य अपनी ऑखो से देखा था। अपने कानो से सुना था। केवल ऐसा लगा। ऐसा हुआ नही।

कहा है न, जो इस सारे रहस्य को जान सके, वही जन्म-मरण से मुक्त हो

सकता है। पर ऐसा कौन हो ? कहाँ से आए ? हम तो है नही। अत मुक्ति हमारे भाग्य मे नही है।

विशाल ज्ञान है यह। बहुत बारीक दर्शन हे यह। आम आदमी समझ नही सकता। आम की छोडिए, विद्वान् के बस मे भी नही। फिर भी प्रयत्न होते रहे है। होते रहेगे।

इन्द्र को पक्षी रूप बताना। अश्वमेध यज्ञ करने वालो क्रो दूरस्थ लोक तक पहुँचाना। इसके लिए वायु का सहयोग लेना। शरीर भी मनुष्य के शरीर जैसा न होकर वैराज शरीर मे विराजना। बहुत गूढ रहस्य है उपनिषदो मे। इसी पर आधारित है ये कथाएँ भी।

विद्वानो का मानना है कि याज्ञवल्क्य ने कभी आर्तभाग से प्राणतत्त्व या वायुतत्त्व की जो बात कही थी, उसी को अन्य रूप मे भुज्यु से बता रहे है। समरूपता है। वर्णन का ढग दूसरा है। हो सकता है यह बात ठीक भी हो।

इन्द्रदेव पक्षी बनकर, वायु का सहयोग लेकर अश्वमेध यज्ञ करने वालो को उनके लिए उपयुक्त लोको मे पहुँचा दिया करते है। ऐसा पढने को मिलता है। उस लोक के भूगोल को बार बार समझने के बाद भी ठीक से नही समझा जा सका। गूढ रहस्य छिपा है हर बात मे। कौन अग्नि है। कौन अग्नि का रूप है। क्या इन्द्र भी अग्नि ही है। भुज्यु कोन है। क्या वह भी तो अग्नि ही नही। अग्नि मे जो कुछ डाले, यह खा जाता है। इसे हुतभुक का नाम दिया जाता है। शायद भुज्यु भी कहा जाता है। एक के बाद एक रहस्य भरी बाते है उपनिषदो मे। एक से एक दर्शन छिपा है इनमे। इसे समझ पाना बहुत कठिन है। फिर भी कोशिश तो होनी ही चाहिए।

अब फिर से बात करे याज्ञवल्क्य की। कौन था यह ? रहस्य ही रहस्य छिपा है हर बात मे। हर नाम मे। हर काम मे। देखे न नाम है याज्ञवल्क्य। मगर आलोचना करता है यज्ञ की। यह कौन है जो पूरे उपनिषदो मे विद्यमान रहता है। शरीर से। मन से। आत्मा से। उसकी आत्मा पूरे उपनिषदिक चिन्तन और आन्दोलन को गहराई के साथ प्रभावित करती है। याज्ञवल्क्य ने अपने काल के राजाओ को यज्ञ करने के लिए कभी उत्साहित नही किया। है न इसमे भी रहस्य ! उस काल के राजाओ को आत्मिक उत्थान की नई दिशा देता रहा यह याज्ञवल्क्य। इस महान् तत्त्वदर्शी को ठीक से जान पाना बहुत कठिन है।

युज्यु द्वारा पूछे प्रश्न का विस्तार से ऐसा उत्तर दिया याज्ञवल्क्य ने जैसे किसी फिल्म का 'रिपले' हो रहा हो। अत भुज्यु को पूर्णत सन्तुष्ट होना पडा। याज्ञवल्क्य का सिक्का मानना पडा। अपनी ओर 'क्लीयरेस चिट' देनी पडी। अगले अध्याय मे देखते है कथा का शेष भाग।

ब्रह्म-दर्शन-कथा-4

याज्ञवल्क्य ने तो एक बखेडा ही खडा कर दिया था। यदि वह अपने शिष्य सोमश्रवा को गाये खोलने को न कहते, तब राजा जनक चुप रहते। कोई और प्रश्न पूछते या अपनी बातो से उत्साहित करते। कुरु या पाचाल देश का कोई-न-कोई विद्वान् अवश्य खडा हो जाता। वह सारी गायो को ले जाने को तेयार हो जाता। मिथिला देश की घास की, चरागाहो की समस्या हल हो जाती। मगर उनके बगले झॉकने, उत्तर न देने, आत्मविश्वास न होने, अपने आपको सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ट न बतला सकने का लाभ उठाया था याज्ञवल्क्य ने। अपने शिष्यो को हजारो गायो को खदेड ले जाने का आदेश दे दिया।

विरोध मे सबसे पहले अश्वल आया। उसकी पीठ लगी। वह बेठ गया। फिर आया आर्तभाग। उसने भी खूब जोर लगाया। सवाद हुआ। प्रश्न-उत्तर हुए। आखिर उसके भी दॉत खट्टे हो गए। वह भी वही जा बैठा, जहॉ से उठा था। राजा के चेहरे पर निराशा साफ झलक रही थी। अब भुज्यु आया। उसने भी टेढे-मेढे प्रश्न पूछे। अजीब से सवाल किए। मगर याज्ञवल्क्य के पास इन प्रश्नो के बिलकुल सही उत्तर थे। उसे भी याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता माननी पडी।

सभा मे जितने लोग बैठे थे। जो भी सभा की कार्यवाही को देख-सुन रहे थे, याज्ञवल्क्य के उत्तरो से खूब प्रभावित हुए। उन्हे ही श्रेष्ठ ब्रह्मिष्ट मानने लगे। प्रशसा करने लगे। हजारो गायो, और गाय के साथ दस तोला सोना पर उसी का अधिकार स्वीकार करने लगे। मगर नही ! अब भी कुछ लोग थे जो और सुनना चाहते थे। पूछना भी चाहते थे। कुछ ऐसे थे जो सारी शकाओ का निवारण चाहते थे। कुछ दर्शन की बाते अछूती रह गई थी, उन्हे समझना चाहते थे।

यह एक सुनहरी अवसर था। महाज्ञानी, तीनो लोको के रहस्य को जानने वाला उपस्थित था। क्यो न दर्शन की हर बात पूरी तरह समझ ले। इसी विचार से उन्होने भी प्रश्न पूछने का मन बनाया। एक समय मे एक ही पूछ सकता था। इसीलिए इस बार खडे हुए उषस्त। नए प्रश्नो के साथ। राजा ने प्रश्न पूछने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

उषस्त ! अपने वक्त के जाने-पहचाने विद्वान्। उनके पिता का नाम था

चक्र। वह समादृत विद्वानो मे से एक थे। उनके शब्द, वाणी बहुत मधुर थी। सब साथ सदा सोहार्दपूर्ण तरीके से पेश आते।

उन्होने ही याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—'मै जानना चाहता हूँ कि जो साक्षा अपरोक्ष ब्रह्म और सभी के अन्दर मौजूद आत्मा है, वह क्या है ? कृपया स्पष्ट करे

सबने सोचा उषस्त कोई टेढा प्रश्न पूछेगे। मगर यह प्रश्न तो सीधा था। प था गम्भीर। रहस्य युक्त। टेढे उत्तर वाला। पूछने वाले ने कहा था कि वह ब्रह्म साक्षात् या इन्द्रियगोचर स्वरूप को समझाएँ। बात छोटी भी है। सीधी भी है। मग उतनी ही गहरी भी। आत्मा, जो सबके अन्दर है, इसी का निरूपण करना था अ याज्ञवल्क्य को।

याज्ञवल्क्य की एक यह भी खूबी थी कि उन्हे किसी भी प्रश्न के उत्तर के लि अपने दिमाग पर बोझ नही डालना पडता था। उन्हे कुछ भी सोचने की आवश्यक न थी। हर प्रश्न का स्पष्ट उत्तर था उनके पास। हर बात को सरलतापूर्वक कह आता था उन्हे। जिज्ञासु की जिज्ञासा का निवारण कर सकते थे वह। और जो न चाहते थे कि हजारो गायो को वह ले जाएँ, उनके भी हर प्रश्न का उत्तर देकर अप वचस्व को बनाना जानते थे वह। यही प्रक्रिया चल रही थी इस समय।

याज्ञवल्क्य ने चक्र के पुत्र विद्वान् उषस्त को उत्तर मे कहा—'ठीक से जा लो, यह तुम्हारी अपनी आत्मा ही सर्वव्यापी हे। सबके भीतर विद्यमान है। इस बा मे कोई सन्देह नही। यह जो 'स्व' तथा 'पर' (स्वय तथा पराये) का भेद है य मात्र आभासिक है। इससे अधिक कुछ नही। इस बात को मन मे बिठा लो

उषस्त तो उत्तर को भलीभॉति समझ गया। मगर यह विशाल सभा थी यहॉ राजा बैठे थे। मन्त्री बैठे थे। दरबारी बेठे थे। कुरु तथा पाचाल से पहुँ पण्डित-विद्वान् बैठे थे। मिथिला नगरी के अनेक श्रोता बैठे थे। उषस्त की इच्छ हुई कि उत्तर को और स्पष्ट जाना जाए, ताकि सभी लोग, तीव्र व मन्द बुद्धि, दो इसे ठीक से जान सके। इसीलिए उषस्त ने कह दिया— याज्ञवल्क्य महोदय ! य तो मान लिया कि मेरी आत्मा ही सर्वान्तर है। पर जानना चाहता हूँ कि मे कौन-सी आत्मा ? आप किसकी बात कर रहे है ? उसका जो लक्षण हो, उ समझा दे तो बडी कृपा होगी। हम उस आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहते है।'

स्वय अपने प्रश्न का उत्तर समझ लने के बाद भी उषस्त ने सबव जानकारी के लिए पिटारी खोलकर रख दी। धागे का गोला उधेडकर रख दिया अब वह इसे याज्ञवल्क्य के माध्यम से सब तक पहुँचाना चाहते थे। उषस्त का य उप-प्रश्न अब मुख्य प्रश्न का रूप ले बैठा। इसको समझाना जरूरी हो गया।

तब विद्वान्, दूरदर्शी याज्ञवल्क्य ने कहा—'उषस्त जी ! मै उस आत्मा व बात कर रहा हूँ जिसके कारण तुम्हारे शरीर मे श्वसन-उछ्वसन हुआ करता है

जिसके कारण अपान, उदान और व्यान, ये तीनो क्रियाएँ होती है। यही प्राणवायु है। यही ब्रह्म है। यही आत्मा है। यही सर्वान्तर भी है। यही तो उसका प्रत्यक्ष और अपरोक्ष बोध मानो। यही तो हमारे शरीरो को बाहर से घेरे हुए है। यही अन्दर-बाहर विद्यमान है। उसी मे रहकर हम अपने शरीर के, अस्तित्व के मिटने के बाद उसी मे विलीन हो जाते है। यही सत्य जानो।'

बात केवल उषस्त को स्पष्ट नही हुई, बल्कि वहाँ उपस्थित सभी सभासदो को भी पूरी तरह स्पष्ट हो गई। याज्ञवल्क्य ने जो दशन की बात की, जो वास्तविक स्थिति समझाई, इसे सबने ग्रहण किया। समझा। जाना और अपने-अपने मन मे बिठाया भी।

उषस्त ही खडा था। वही प्रश्न-उत्तर कर रहा था। बाकी सब बैठे थे। चुपचाप सुन रहे थे। अत सारी जिम्मेवारी उसी पर थी कि समस्या को हर पहलू से समझ-समझा सके। हर कोण से बात स्पष्ट हो। किसी के मन मे इन प्रश्नो के प्रति जरा भी शका न हो। अपनी जिम्मेवारी का अहसास करते हुए उषस्त ने विनयपूर्वक कह दिया—'मान्यवर ' बात स्पष्ट तो हुई। पर पूरी तरह स्पष्ट नही हो सकी। आपने तो समझाने मे कोई कसर नही उठा रखी। मगर हम ही पूरी तरह नही जान पाए। कोइ ऐसा उदाहरण देकर समझाएँ कि इसे बालक भी समझ सके।'

थोडा रुककर, इससे पहले कि याज्ञवल्क्य कुछ कहते, उषस्त ने ही कह दिया—'दखिए ' हमे उस तरह समझाएँ, बताएँ, जैसे लोग किसी बैल या घोडे को पकडकर सामने खडा कर देते है। दिखाते हे। दोनो को अलग-अलग खडा करके कहते है—यह बैल है सीगो वाला। यह घोडा है बिना सीगो वाला। ठीक से देख लो। कुछ इसी प्रकार समझाएँ ताकि प्रत्यक्ष बोध कर सके। कोई शका की गुजाइश ही न रहे।'

यह बात बडी मुश्किल थी। उदाहरण ठीक न था। अब याज्ञवल्क्य को सोचना पडा। क्या करे। क्या कहे। फिर भी, वह कसौटी पर खरा उतरने के लिए खडे थे। जद्दोजहद कर रहे थे। सघर्ष से गुजर रहे थे। यदि कह देते है कि ऐसा मै नही कर सक्ता। या कहते है कि मुझे समझाना नही आता, तब तो वह बाजी हार जाते है। पासा पलट सकता है। उनकी पराजय मानी जाएगी। उन्हे हजारो गायो और ढेर सारे सोने से अपना अधिकार खोना पडेगा। साथ ही लोग कहेगे कि वह पूर्ण ज्ञानी नही है। पूर्ण विद्वान् नही है।

ऐसा विचार आते ही याज्ञवल्क्य सँभले। बोले—'उषस्त भाई ' प्रत्यक्ष बोध की भी एक सीमा हे। कुछ वस्तुएँ ऐसी है जिनके होने का आभास आसानी से कराया जा सकता है। छूकर। दिखाकर। सामने रखकर। जिस रूप मे बैल या घोडा है, उस रूप मे नही। मेरे विचार से, ज्ञाता को स्वत अपना प्रत्यक्ष ज्ञान कराना सम्भव नही।'

थोडा और सोचा। फिर बोले—'उसी का सहारा लेते है जिसका ब्रह्मविद् लेते

आए है। तुमने भी पहले सुना होगा। यहॉ बैठे सभासदो ने भी सुना होगा। विद्वानो का यही माध्यम रहा है। हम भी इसे अपनाते है।'

'मै समझा नही। आपका इशारा कहा हे, कृपया स्पष्ट करे।' उषस्त ने पूछ लिया।

'तो सुनो। आपकी ऑखे है न।

'हॉ है।'

'इनसे बाहरी दुनिया को आसानी से, बडी ही सुगमता से देखा जा सकता है। मानते है आप ?'

'जी ! मानता हूँ।'

'मगर ये ऑखे अपने आपको नही देख सकती। ठीक है।'

'हॉ। ठीक है।'

'और सुनो। आपके कान है न ! इनसे बाहर से आने वाली आवाज, ध्वनि सुनी जा सकती है। मगर ये कान अपने को नही सुन सकते।'

'ठीक कहा आपने।'

'हमारा नाक है। गन्ध सूँघने के लिए बना है। बाहर की गन्ध आसानी से सूँघी जा सकती है। मानते है आप।'

'जी, बिलकुल।'

'तब तो आप यह भी मानेगे कि हमारा नाक अपने आपको नही सूँघ सकता।

'जी। ऐसा ही है।'

'और सुनो मेरे भाई ! जिस जिह्वा से अनेकानेक, भिन्न-भिन्न पदार्थो का रस लिया जा सकता है, वही जिह्वा अपना स्वाद नही जान सकती। इसी प्रकार हमारी त्वचा है न। इससे दूसरो की त्वचा का स्पर्श किया जा सकता है। इसे महसूस किया जा सकता है। मगर हमारी त्वचा अपने आपको स्पर्श नही कर सकती। हमारा मन है न ! इससे इतरेतर का मनन किया जा सकता है। मगर यह स्वय अपना मनन नही कर सकता। उषस्त ! बताओ तो, विज्ञाता अपना प्रत्यक्षबोध कैसे कर सकता है ? यह तो सम्भव है ही नही।'

उषस्त ने सिर हिलाकर हॉ-मे-हॉ मिला दी। क्योकि उसका अपना मत भी ऐसा ही था। फिर उसने सभासदो की ओर देखा। सबके चेहरे पर सन्तोष था। पूरी बात समझ लेने का सकेत। अत उसने याज्ञवल्क्य का धन्यवाद किया। उसे ब्रह्मिष्ट माना। उत्कृष्ट माना और अपना स्थान ग्रहण किया।

उपनिषद् की इस दशन-ज्ञान देने वाली कथा मे आगे क्या हुआ, इसे अगले अध्याय मे देखत हे। अभी बात पूरी नही हुई। कथा लम्बी थी, इसीलिए विभाजित करनी पडी।

ब्रह्म-दर्शन-कथा-5

मिथिल-नरेश, राजा जनक नही चाहते कि उन्ही के दरबार मे सम्मान प्राप्त याज्ञवल्क्य उनसे हजारो गाये तथा उनके साथ मिलने वाले ढेरो सोने को पा ले। ऐसा नही कि उन्हे इस विद्वान् के साथ कोई नाराजगी थी। कोई रोष था। द्वेष भावना थी। केवल इसलिए नही चाहते थे कि उनकी इतनी बडी गायो की सख्या फिर मिथिला राज्य की धरती पर रह जाएगी। घास की कमी बनी रहेगी। कम चरागाहो का सकट तग करता रहेगा। वह चाहते थे कि कुरु देश तथा पाचाल देश से आए ब्राह्मण इन्हे ले जाएँ। उनके पास और भी हजारो गाये थी। ओर हमेशा बढती रहती थी। इनका दूसरे देश की धरती पर जाना और ठीक-ठाक पालन-पोषण हो पाना ही उनकी तमन्ना थी।

मगर याज्ञवल्क्य ने चक्कर डाल दिया। अपने शिष्य को इन्हे ले जाने का आदेश दे दिया। इसका विरोध हुआ। खुलकर विरोध। राजा तो चुपचाप बैठे रहे। मगर उनके दरबारी विद्वान् अश्वल ने पहल की। प्रश्नो की बौछार लगाकर कह दिया कि वह उन्हे सन्तुष्ट करे। उत्तर दे। यदि वह इस प्रक्रिया मे अपने आपको ब्रह्मिष्ट साबित कर सके, तभी वह इन गायो को पाने का हकदार हो पाएगा। अन्यथा नही।

प्रश्न पूछने और पराजित करने के लिए अश्वल के पश्चात् आए थे आर्तभाग, भुज्यु तथा उषस्त। इस विद्वान् ने इन सबके दर्शनपूर्ण प्रश्नो का सही-सही उत्तर दिया। उन्हे पूर्ण मन्तुष्ट किया। सभा-जन तथा सारे उपस्थित विद्वान् सन्तुष्ट हुए। राजा जनक सन्तुष्ट हुए। पराजय उसकी नही, प्रश्न पूछने वालो की हुई। इसीलिए वह गायो को ले जाने का अधिकारी बना रहा। कोई छीन न सका उससे गायो को। मगर नही, अभी उसे कुछ अन्य विद्वानो के मन मे उठे प्रश्नो का भी उत्तर देना था। जब पूरी सभा हाथ खडे कर देती। कह देती कि उन्हे अब कुछ नही पूछना, तभी वह ब्रह्मिष्ट माना जाता। श्रेष्ठ ज्ञानी माना जाता। मबसे बडा विद्वान् माना जाता। गायो को पाने का असली अधिकारी माना जाता। मतलब यह कि अभी कसर थी। उसे कुछ अन्य विद्वानो का सामना करना था। वह इसके लिए पूरी तरह तत्पर खडा था।

अब, जब उषस्त बैठ गया। सन्तुष्ट हो गया। सभा मे प्रश्न पूछने वालो ने हाथ खडे किए। तो राजा की नजर कहोल पर पडी। उन्होने उसे सकेत किया। कहोल प्रश्न पूछने के लिए उठ खडा हुआ।

यहाँ यह बताना अनिवार्य है कि कहोल' कोई छोटा-मोटा जिज्ञासु नही था स्वय ही ब्रह्मविद था। प्रसिद्ध था। लोग उसका सिक्का मानते थे। इसके पिता का नाम 'कुषीतक' था। वह भी विश्व भर मे प्रसिद्ध थे। उनके ज्ञान की सर्वत्र चचा होती। पिता से अनेक गुण सीखे थे 'कहोल' ने। उसी ने अपने मन मे उठे प्रश्नो का उत्तर माँगा था याज्ञवल्क्य से।

पूछ लिया—'ठीक कहा आपने। सर्वान्तर आत्मा है। हम आपके इस विचार से सहमत है। आपने यह भी कहा कि आत्मा को स्थूल वस्तुओ की भाँति प्रत्यक्ष म नही देखा जा सकता। यह बात भी हमारी समझ मे आ गई। मगर यह तो बताए कि वह कौन है जिसको जान लेने के बाद मनुष्य भूख, प्यास, मोह, जरा, शोक, मृत्य से छुटकारा पा लेता है। तब इनमे से किसी से भी उसका सम्बन्ध नही रहता।'

जैसा कि ऊपर कहा है विश्व प्रसिद्ध थे कुषीतक। कहोल के पिता। ज बात कुषीतक मे थी, वह कहोल मे न थी। पिता का हर शब्द स्पष्ट था। हर बात उच्चस्तर की। जल्दी समझ मे आ जाने वाली। मगर विद्वान् कहोल की बात उतनी स्पष्ट न हो पाती। यह अस्पष्टता अनेक लोगो को कई बार अखरने भी लगती खैर। उसने प्रश्न किया। याज्ञवल्क्य ने सुना।

उत्तर मे कहा—'बन्धुवर। मै जो कुछ अब तक इस सभा मे, राजा जनक की उपस्थिति मे कह चुका हूँ शायद इसे आपने ध्यान से नही सुना होगा। औ यदि सुना, समझा था, तो आप मुझे चक्कर मे डालकर अपना उल्लू सीधा करन चाहते होगे। मेरी पीठ लगाने का मन रहा होगा आपका। कुछ ऐसा ही लगता ह मुझे। हाँ, यह भी हो सकता है कि आपके मन मे कही कोई गाँठ बनी रही हो

इससे पूर्व कि मै आपकी बात का उत्तर दूँ, अच्छा होगा कि आप अपने प्रश्न को स्पष्ट करे। क्या पूछना चाहते है आप ?'

'आपको किसी भी सकट मे देखने की मेरी इच्छा नही है। न ही मेरे मन मे कोई ऐसी शका है जिससे आपके श्रेष्ठ ब्रह्मिष्ट होने मे दो राय बन पडे। आप उत्तम है। महाविद्वान् है। मै जो कुछ पूछ रहा हूँ, इसका उत्तर पाकर मै अपने मन को सन्तुष्ट कर पाऊँगा। अपनी जिज्ञासा शान्त कर पाऊँगा। यही मेरा ध्येय है

लीजिए मै अपने अस्पष्ट प्रश्न को स्पष्ट करता हूँ। इसे दूसरी प्रकार स कहता हूँ। पूछता हूँ। कृपया उत्तर अवश्य दे। मै जानना चाहता हूँ कि उस ब्रह्म को या अपने आत्मस्वरूप को पहचान लेने के बाद मनुष्य किस रूप मे आचरण करता है। और इससे क्या बनता है। इसे ही स्पष्ट करे।'

'यह हुई न बात। मै आपके प्रश्न को भली प्रकार से समझ गया हूँ। उत्तर भी देता हूँ। ध्यान रहे, हमारी यह आत्मा जो भूख-प्यास, शोक-मोह जरा-मृत्यु से परे है उसे जान लेने के बाद ब्राह्मण पुत्र की कामना, धन-दोलत की

कामना लोक की कामना से अलग होकर भिक्षाटन करता हुआ अपना समय व्यतीत करता है। इन आकाक्षाओ मे भेद नही है। विश्वास करे कि ये मूलत, वास्तव मे एक ही है। जो पुत्रैषणा हे, वही वित्तैषणा हे। जो वित्तैषणा हे वही लोकैषणा है। दोनो एक-दूसरे को प्रेरित करनी हें। और ये सभी आदमी को मोहाच्छन्न करके उसकी चेतना को धूमिल करती है।

मेरे भाई ' ब्राह्मण वही हे जो ब्रह्म को जानता है। जो ब्रह्म को जानता हे उसे चाहिए कि वह पाण्डित्य प्राप्त कर लेने के बाद भी इस तरह रहे जेसे वह कुछ नही जानता। जैसे वह अबोध बालक हे। सचमुच बच्चा ही। अनजान-सा।

आपको स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस भाव के उत्पन्न हो जाने के बाद वह ब्राह्मण से मुनि हो जाता है। फिर तो वह अमौन और मौन का पूर्णतया सपादन करके सच्चा ब्राह्मण होता है।

हॉ, यहॉ कह दूॅ कि कुछ लोग मेरी इस बात से सहमत नही होगे। उनके अनुसार यह तो ब्राह्मण का लक्षण नही है। वे कहेगे कि ब्राह्मण तो ब्राह्मण परिवार मे पैदा होता है। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण। उसे ब्राह्मण के घर जन्म लेने के कारण ही ब्राह्मण कहा जा सकता है। मगर मै उनसे सहमत नही। मैने जो परिभाषा ब्राह्मण की ऊपर दी है, वही ठीक है। ब्राह्मण पिता के घर जन्म लेने के कारण किसी को ब्राह्मण नही मानता।

मेरी दी परिभाषा के अन्दर न आने वाला ब्राह्मण नही हो सकता। वे तो मृत्यु और शोक के ग्रास है।'

उन्होने अपनी बात को कुछ यो भी स्पष्ट किया—'बाल्य च पाण्डित्य च निर्विद्य अथ मुनि । मौन च अमौन च निर्विद्य अथ ब्राह्मण । स ब्राह्मण केन स्यात्। येन स्यात् तेन ईदृश एव अतो अन्यत् आर्तम्।' ये शब्द याज्ञवल्क्य के अपने हे।

याज्ञवल्क्य का यह सारगर्भित उत्तर सुनकर कुषीतक के पुत्र कहोल को तसल्ली हो गई। सन्तुष्टि हो गई। बात उनके दिमाग मे बैठ गई। विद्वान् कहते है कि याज्ञवल्क्य के मन मे वर्णव्यवस्था के विरुद्ध जो उत्तेजक विचार थे, जो बागी तेवर थे, वह केवल उनके अकेले के नही हो सकते। औरो के भी ऐसे रहे होगे। यह तो एक आग थी। जो उस समय के विद्वानो, चिन्तको के हृदय मे सुलग रही थी। अपना घर कर चुकी थी। इसीलिए भरी सभा मे याज्ञवल्क्य ने जो कहा, मन की भडास निकाली, इसको सबने चुपचाप सुन लिया। किसी ने विपत्ति नही की। विरोध नही हुआ।

याज्ञवल्क्य निपुण थे। जो कहते थे, स्पष्ट कहते थे। इस बार भी उन्होने कोई लाग-लपेट वाली बात नही की। जो कहा, ठोक-बजाकर कहा। डके की चोट पर कहा। सबने सुना।

आइए, इस दर्शन-कथा का शेष भाग अगले और अन्तिम अध्याय मे देखते है।

ब्रह्म-दर्शन-कथा-6

राजा जनक की इस सभा मे, जहॉ याज्ञवल्क्य 'हीरो' बनकर सबको पीछे छोड रहा था। जहॉ वह कठिन-से-कठिन प्रश्न का उत्तर साधरण रूप मे दिए जा रहा था। उसे किसी भी विद्वान् ने, किसी भी प्रश्न ने कठिनाई मे नही डाला। किसी भी क्षण उसे अधिक सोचना नही पडा। ऐसा लगा जैसे प्रश्नो का उसे पहले ही पता था ओर उसने उत्तरो को तोते की तरह रट रखा था। हाजिर जवाबी ही उसके उत्तरो की विशेषता थी।

होना तो यह चाहिए था कि अब राजा ही कह देते कि 'काफी हुआ। और मत पूछो। सारी-की-सारी गायो को ले जा सकते हो। ले जाने दो इन्हे गायो को।' मगर नही। किसी मन्त्री ने ही उठकर सभा मे घोषणा कर दी—'हम इस प्रश्न-उत्तर की, स्पष्टीकरण की प्रक्रिया को समाप्त करने जा रहे है। यदि अब भी कोइ याज्ञवल्क्य से कुछ पूछना चाहे तो यह अन्तिम मौका है।'

अभी मन्त्री अपनी बात पूरी कह भी न पाया था कि एक नारी खडी हो गइ। बोली—'मेरे मन मे कुछ पूछने की अभिलाषा है। उथल-पुथल हो रही है। कुछ पूछना है मुझे भी।'

'हॉ, हॉ, आज्ञा हे।'

यह जिज्ञासु स्त्री और कोई नही, गार्गी थी। 'गार्गी' के पिताश्री का नाम 'वचक्नु' था। उसने जो प्रश्न पूछे, उनका सम्बन्ध उस उपनिषद्कालीन ब्रह्माण्ड दर्शन से तो था ही, सृष्टि चक्र से भी था। उसने कोई लम्बा प्रश्न नही पूछा। सभी प्रश्न छोटे थे। इन प्रश्नो की एक विशेषता यह भी थी कि—प्रश्नो के उत्तर और भी छोटे थे।

आइए ! हम उन प्रश्न-उत्तरो का हिन्दी रूपान्तर यहॉ दे रहे है।

गार्गी का प्रश्न था—'सब कुछ तो जल मे ओत-प्रोत है। फिर जल किसमे ओतप्रोत हे ?'

याज्ञवल्क्य को यह छोटा प्रश्न बहुत अच्छा लगा। उसने मुस्कराकर, केवल एक-दो शब्दो मे ही उत्तर दे दिया। उत्तर था—'वायु मे।'

गार्गी ने इसी उत्तर को पकडकर पूछ लिया—'वायु किसमे ओतप्रोत है ?'

उत्तर आया—'अन्तरिक्षलोक मे।'

तार-से-तार जुडते गए। अगला प्रश्न पूछा— अन्तरिक्षलोक किसमे ओतप्रोत है ? जरा बताओ तो।'

याज्ञवल्क्य सुनकर चकित जरूर हुआ। उसने देखा कि गार्गी को अपना दिमाग लगाने की तो जरूरत ही नही रही। बस, उत्तर से ही नया प्रश्न जन्म ले रहा है। खेर ! यह तो गार्गी की अपनी होशियारी थी। याज्ञवल्क्य को तो उत्तर देना था। उसने कहा—'गन्धर्वलोक मे।'

फिर पूछा गया—'गन्धर्वलोक किसमे ओतप्रोत है ?'

उत्तर—आदित्यलोक मे।'

'अच्छा तो बताओ, आदित्यलोक किसमे ओतप्रोत है ?'

'चन्द्रलोक मे।'

'यदि यही बात है तो स्पष्ट करे कि चन्द्रलोक स्वय किसमे विद्यमान है ? किससे ओतप्रोत है ?'

उत्तर—नक्षत्र लोक मे।

'तब यह बताएँ कि नक्षत्रलोक किसमे ओतप्रोत हे। यह तो बताना ही होगा।

'गार्गी जी, यह क्या ! आप जो कुछ भी पूछेगी, उत्तर अवश्य आएगा। नक्षत्रलोक तो देवलोक मे ओतप्रोत है। यह पक्की बात है।'

'हम आपकी बात से सहमत है। आप यह भी तो बता दे कि देवलोक किसमे सम्मिलित है। किसमे विद्यमान है। किसमे ओतप्रोत हे।'

यह सुनकर सभा मे बैठे सभी लोग चकित रह गए। प्रश्न से प्रश्न जुडता जा रहा था। हर उत्तर से नया प्रश्न पैदा हो रहा था। मगर इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य को कोई आश्चर्य नही हुआ। वह जानता था कि ऐसा पूछा जाएगा। इसलिए सरल भाव से कह दिया—'देवलोक तो इन्द्रलोक मे समाहित है। इसमे कोई सशय नही होना चाहिए।'

गार्गी ने कह दिया—'यदि आप हमारे प्रश्नो के उत्तर देते-देते थक गए हो, अथवा असहज महसूस कर रहे हो, तब तो मै चुप हो जाती हूँ। और कुछ नही पूछती। मगर न पूछने पर मुझे ही सन्तोष नही होगा।'

'आपको पूरा सन्तोष होना चाहिए गार्गी जी। आप पूछिए। मै जरूर उत्तर दूँगा।'

'ठीक है। मे और भी सक्षेप मे आती हूँ। इन्द्रलोक किसमे विद्यमान है ?'

उत्तर था—'प्रजापति लोक मे।'

अगला प्रश्न—'प्रजापतिलोक किससे ओतप्रोत है ?'

उत्तर दिया—'ब्रह्मलोक से।'

इतना सुनते ही याज्ञवल्क्य अपने स्थान से जरा खिसके। पहले सभासदो की ओर देखा, फिर राजा जनक की ओर। थोडा रुके। स्तब्ध से। कुछ विचार कर उन्होने गार्गी को सम्बोधित किया—'आपके प्रश्न पूरे हो चुके है। हर उत्तर से प्रश्न निकालने की भी कोई सीमा होती है। यह प्रश्न नही, अतिप्रश्न है। आपको मानना पडेगा कि जिज्ञासाएँ कही-न-कही जरूर समाप्त होती है। इनका भी अन्तिम बिन्दु अवश्य होता है। आपके प्रश्नो का भी अन्तिम बिन्दु आ चुका है। पूरे उत्तर आपको मिल चुके है। अब इस कडी मे न तो प्रश्न हो सकता हे, न ही उत्तर होगा।'

कहते-कहते याज्ञवल्क्य रुके। अपने सूख गए होठो पर जिह्वा फेरी। फिर बोले—'गार्गी जी, हमे शास्त्रो के अनुसार चलना चाहिए। इनमे जो लिखा है, उसे मान लेना चाहिए। यदि अतिप्रश्न करेगी तो भी अन्त तो आएगा ही। अथवा आपका दिमाग जवाब दे जाएगा। मस्तक फूट पडेगा। मेरी मानिए। अतिप्रश्न मत कीजिए।'

इस पर गार्गी ने हॉ मे सिर हिलाया। सहमति जतलाइ विद्वान् याज्ञवल्क्य के शब्दो पर भरोसा किया तथा शान्त मन से अपने स्थान पर जा बैठी। उसे बैठता देखकर अब 'उद्दालक' खडा हो गया। उसने न तो राजा से ऑख मिलाई तथा न ही मन्त्री की ओर देखा। सीधा प्रश्न करना शुरू कर दिया।

इसे उठा हुआ ओर प्रश्न करता देखकर स्वय याज्ञवल्क्य पहली बार गम्भीर हुआ। उसने तो सोचा था कि एक-एक करके सब चुक चुके है। पूछ चुके है। अब सभा मे बेठे किसी ने कुछ नही पूछना होगा। मगर नही। अभी 'चैप्टर' बन्द न हुआ था। प्रश्नो का सिलसिला खत्म न हुआ था। पूछने वाले मौजूद थे। उनमे से एक 'उद्दालक' भी था।

उद्दालक ऋषि अरुण का सपूत था। स्वय विद्वान् था। उसकी सूझबूझ गहरी थी। उसने अभी तक याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता नही मानी थी। उसकी नजरो मे ऐसे भी प्रश्न थे जिनका उत्तर याज्ञवल्क्य के पास शायद न हो। उसके प्रश्न को सुनकर हो सकता हे उत्तर देने वाला हाथ खडा कर दे। कह दे कि वह अमुक प्रश्न का उत्तर नही जानता। यदि सचमुच ऐसा हो जाता तो सारी गायो और सारे सोने पर उसका अधिकार हो जाता। इसी विचार से तो उद्दालक ने कहा—'महोदय ! मै प्रश्न बाद मे कहूँगा। पहले एक ऐसी घटना को सुना देता हूँ, जिसमे से यह प्रश्न निकलता ह।

'निश्चिन्त होकर अपनी बात करो। मेरी ओर से आपका स्वागत है।' याज्ञवल्क्य ने उद्दालक को सहज करते हुए कहा।

घटना कुछ यो थी

उद्दालक अपनी युवावस्था से गुजर रहा था। विद्यार्जन उसका दायित्व था। शिक्षा ग्रहण करने के लिए उसे अनेक स्थानो का भ्रमण भी करना पडा। अन्य विद्यार्थी-साथी भी साथ थे। घूमते-फिरते ये लोग मद्रदेश मे जा पहुँचे। 'यज्ञविद्या' सीखना मुख्य उद्देश्य था।

वहॉ किसी के कहने पर ये ब्रह्मचारी कपिगोत्र मे पैदा हुए पतजलि के घर पहुँचे। वहॉ इनका स्वागत हुआ।

उन दिनो पतजलि की पत्नी को गन्धर्व का आवेश आता था। वह बेहद सुन्दर थी। अक्सर आवेश मे रहा करती। जिस समय उद्दालक आदि वहॉ पहुँचे तो भी उसकी पत्नी पर गन्धर्व का आवेश था।

इन विद्यार्थी युवको ने ही गन्धर्व से उसका नाम पूछ लिया। उसने भी स्पष्ट शब्दो मे कह दिया—'नही छिपाता। मै हूँ आथर्वन कबध। यही याद रखना।'

तब आथर्वन कबध ने अपना ध्यान इन युवको की ओर से हटाकर, काप्य पतजल से ही प्रश्न किया—'मेरे भाई ! क्या तुम उस सूत्र के जानकार हो, जिसके द्वारा यह लोक, परलोक ओर सारे भूत ग्रसित है।'

पतजलि इसे नही जानता था। इसलिए उसने इनकार कर दिया।

इसके पश्चात् गन्धर्व ने गृहस्वामी से दूसरा प्रश्न किया—'क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतो को भीतर से नियन्त्रित करता है ?'

काप्य पतजलि इसे भी नही जानता था। अत उसने इन विद्यार्थी युवको की उपस्थिति मे अपनी अनभिज्ञता जतला दी। न जानने की बात कह दी।

गन्धर्व उस गृह स्वामी के अल्पज्ञान पर थोडा चकित हुआ। फिर कहा—'सुनो ! मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो। जो भी कोई उस सूत्र को और उस अन्तयामी को जानता हे, वह ब्रह्मविद है। वह लोकविद है। देवविद, वेदज्ञ भी वही है। वही तो भूतविद, आत्मविद और सर्वविद है।'

इतना कहकर गन्धर्व ने पतजलि तथा अन्य सब उपस्थित लोगो को विस्तृत ज्ञान दिया। जिस सूत्र को पहले पूछा था, उसे भी विस्तातर से समझाया। अन्तर्यामी के बारे मे भी पूरी जानकारी दी। इस व्याख्या को, उत्तर को, विस्तार को सुनने वालो मे उद्दालक भी था।

यह है घटना। इसी घटना का सहारा लेकर अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ने राजा जनक की सभा मे पहुँचे व प्रश्नो का उत्तर देते याज्ञवल्क्य से पूछा—'महोदय ! वह सूत्र क्या है जो गन्धर्व ने हम लोगो को बताया ? अन्तर्यामी के बारे मे जो उसने तब कहा, वह भी बताएँ ? चूँकि मे वहॉ स्वय उपस्थित था, अत इस उत्तर

को जानता हूँ। आपका उत्तर भी वही होना चाहिए जो गन्धर्व का था।'

'ठीक है। मै उस उत्तर को जानता हूँ। बता भी सकता हूँ।'

'तो बताइए न। हॉ, ध्यान रहे कि यदि तुम्हारा उत्तर गलत हुआ, या वह न हुआ जो गन्धर्व ने कहा था तो तुम पर दो विपत्तियॉ टूट पडेगी। एक तो तुम इन गायो और सोना से वचित कर दिए जाओगे, दूसरा, तुम्हारा सिर कटकर गिर जाएगा।'

कमाल की बात तो यह है कि याज्ञवल्क्य उस सूत्र को भली प्रकार जानता था जो कभी गन्धर्व ने उद्घाटित किया था। अन्तर्यामी के बारे मे भी उसे मालूम था। उसके लिए यह प्रश्न असाधारण न होकर साधारण ही था।

'बताऊँ आपको ?' याज्ञवल्क्य ने कहा।

'हॉ, हॉ, पूछ तो रहा हूँ।' उद्दालक का उत्तर था।

'तो मेरी बात ध्यान से सुनो। मेरे उत्तर की उस उत्तर के साथ पडताल भी कर लेना जो तुम गन्धर्व के माध्यम से जान चुके हो। यह लोक, परलोक, समग्र भूत समुदाय, वायुरूपी सूत्र से गुँथे हुए है। जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, उसके शरीर से प्राण वायु निकल जाती है, तब लोग कहते है कि इस मृतक के अग ढीले पड गए है।'

उद्दालक ने ध्यानपूर्वक सुना। सहमति जतलाते हुए कहा—'बडे भाई। आपका यह उत्तर तो वही है जो कभी गन्धर्व के मुँह से मैने सुना था। मगर अन्तर्यामी के बारे मे आपने कुछ नही कहा। वह भी कहो।'

इस समय याज्ञवल्क्य ने जो कहा, उसी का हिन्दी रूपान्तर यहॉ दिया जा रहा हे—जो सक्षेप मे भी है—'जो पृथ्वी के अन्दर रहता है, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर पृथ्वी की गति और प्रकृति को नियमित और सचालित करता है, वह तुम्हारी आत्मा ही अन्तर्यामी अमृत है।

'जो जल मे रहता है, जल ही जिसका शरीर है, जल को जो भीतर से नियमित करता है, वह अमृत अन्तर्यामी भी तुम्हारी यह आत्मा ही है।'

इतना कहने के बाद याज्ञवल्क्य ने यही बात अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्युलोक, आदित्य, दिशाओ, नक्षत्रो, अन्धकार, चन्द्रलोक, आकाश, समस्त भूत समुदायो, तेज, मनो, चक्षुओ, त्वको, श्रोत्रो, जलो, विज्ञानो, ज्ञानो आदि के विषय मे दोहरा दी।

उन्होने आगे कहा कि इनमे से प्रत्येक के अन्दर विद्यमान होते हुए, उनको ठीक से रखते हुए, उनको नियमित करते हुए, उनको निर्देशित करते हुए भी वह इनके लिए सामने नही आता। अदृश्य रहता है। अज्ञात रहता है। आप विश्वास करे कि वह स्वय दिखाई नही देता। फिर भी द्रष्टा है।

अन्तर्यामी है न ' सुनता है। मगर सुना नही जाता। वह मनन करता हे। पर मनन हो नही पाता। उसकी हर बात आश्चर्यजनक है क्योकि वह सब कुछ जानता है, मगर जाना नही जाता।

सच कहूँ तो उससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, विज्ञाता है ही नही। कोई भी नही। केवल वही है। उससे भिन्न सब नश्वर है।'

जब यह लम्बा वर्णन याज्ञवल्क्य ने सुनाया तो उद्दालक चकित रह गया। हर शब्द वही था। वैसा था। जैसा उसने मद्र देश मे काव्य पतजल के घर पर गन्धर्व से सुना था। उसने भी, अन्य लोगो की भॉति, याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। उसके ज्ञान को असीमित तथा पूर्ण बताया। उसे ब्रह्मिष्ट घोषित कर दिया। गायो और सोने पर उसी का अधिकार सही माना। तब वह अपने स्थान पर, बडा सन्तुष्ट होकर जा बैठा।

लगता तो यह था कि याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने वालो मे ऋषि अरुण पुत्र उद्दालक ही अन्तिम होगा तथा दर्शन-कथा का यहॉ विराम हो जाएगा। मगर नही। गार्गी फिर मैदान मे उतर आई। पहले पराजित हो जाने पर भी जेसे उसका मन नही भरा था। कुछ और पूछने, जानने के लिए वह उत्सुक होकर खडी हो गई।

गार्गी की अन्य शका क्या थी। उसके अन्य प्रश्न क्या थे। वह ओर क्या जानना चाहती थी, इसका वर्णन हम अगले पृष्ठो पर कर रहे है। इस अध्याय को यही विश्राम देते है।



ब्रह्म-दर्शन-कथा-7

इस बार राजा जनक भी चकित रह गए। प्रश्न पूछने वाला कोई नया विद्वान् उठता तो कोई बात न थी। एक बार फिर प्रश्न पूछने के लिए गार्गी खडी हो गई। शायद उसके मन मे कोई अन्य ज्वार भाटा भी उसे परेशान करने लगा था। वह द्विधा मे नही रहना चाहती थी। धर्म पर चर्चा हो रही थी। दर्शन पर प्रश्न पूछे जा रहे थे। क्यो रखती कोई प्रश्न अनपूछा ? पूछना उचित समझ ही गार्गी दोबारा खडी हुई थी।

वचक्नु की बेटी जो ब्रह्माण्ड-दर्शन ओर सृष्टिचक्र पर कुछ प्रश्न पूछकर, उनके उत्तर पाकर, अपनी पराजय स्वीकार कर चुकी थी, फिर बोली—'श्रीमान् याज्ञवल्क्य जी ! आपकी प्रतिभा और ब्रह्मज्ञान मे कोई कमी नही। आपने सब विद्वानो को सन्तुष्ट किया है। उनके प्रश्नो के ठीक-ठीक उत्तर दिए है। मेरे भी। अब मै आपसे सविनय दो प्रश्न पूछना चाहती हूँ। आशा है आप इनके उत्तर जरूर देगे। यदि आपके उत्तर ठीक हुए तो मै मानूँगी कि आपको ब्रह्म विषयकवाद मे कोई पराजित नही कर सकता। अनुमति हो तो अपनी बात कहूँ ?'

'क्यो नही। आप साधिकार पूछ सकती है, जो भी चाहे।'

'मेरे प्रश्न को ध्यान से सुने। काशी या विदेह का कोई रणबॉकुरा जैसे लडाई के मैदान मे धनुष चढाकर दो तेज, कष्ट देने वाले तीर लेकर खडा हो, जान लो मै आपके सामने वैसे ही खडी हूँ। उन कष्टदायक तीरो के साथ। ऐसे ही दो प्रश्नो के साथ। मेरे प्रश्नो को सरल मत समझना। उन्हे साधारण प्रश्न मत मानना।'

'हॉ, हॉ। जो भी हो। पूछो तो।'

'याज्ञवल्क्य जी ! जो द्युलोक से ऊपर है और धरती से नीचे है, तथा द्युलोक और धरती के बीच मे है, और जिसमे यह पृथ्वी, द्यूलोक, भूत, वर्तमान और भविष्य ओतप्रोत है, वह क्या है ? मै जानना चाहती हूँ। मुझे बताएँ।'

'खूब ! खूब पूछा आपने। प्रश्न टेढा जरूर है मगर मै इसका उत्तर भली प्रकार जानता हूँ।' कहते-कहते याज्ञवल्क्य चुप हो गया।

वास्तव मे जो उत्तर अब वह दने जा रहा था, यह वही दे सकता था। अन्य

कोई नही। उसकी आदत थी कि जब भी कुछ कहता, ब्रह्मवादियो की ही भाषा मे कहता। वह कहा करता—'यह काल अनन्त तो नही है पर इतना विस्तृत हे कि इसके अन्त की कल्पना तक नही की जा सकती। अत यह अनन्त नही है, फिर भी अनन्त हे।'

वह मानता था कि यह आकाश अनन्त तो नही है पर इतना विस्तृत हे कि इसके अन्त की कल्पना तक मनुष्य के मस्तिष्क के लिए असम्भव हे। अत यह अनन्त न होते हुए भी अनन्त है।

याज्ञवल्क्य मानता था कि काल भी आकाश का ही एक विस्तार है। आकाश द्रव्य का विस्तार और ऊर्जा भी द्रव्य का ही एक रूप और इस तरह इस त्रिआयामी ब्रह्माण्ड को एक परम और रहस्यमय महाशून्य मे पहुँचा देता था जिसका अन्त और आदि सब कुछ नेति-नेति के रूप मे ही विवेचित हो सकता है। एसा कुछ मानता था याज्ञवल्क्य। उससे पूर्व किसी अन्य ने ऐसी भाषा मे कभी बात न की थी।

गार्गी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए याज्ञवल्क्य ने कहा—'जो द्युलोक के ऊपर, पृथ्वी के नीचे ओर इन दोनो के मध्य मे हे और जिसमे ये द्युलोक ओर पृथ्वी, भूत, भविष्य और वर्तमान ओतप्रोत है वह आकाश हे।'

उत्तर छोटा था। स्पष्ट था। सही था। गार्गी ने सिर झुकाकर उत्तर के सही होने की स्वीकृति दे दी। हॉ, इस उत्तर के पाने से उसकी ऐठ मे कुछ ढीलापन जरूर आ गया। उसका गरूर स्वत घटने लगा।

अगला प्रश्न पूछना जरूरी था। दो प्रश्नो की बात गार्गी कह चुकी थी। अत पूछ लिया—'आकाश जो द्युलोक से ऊपर, धरती से नीचे, इन दोनो के मध्य है, और जिसमे ये तथा काल के तीनो भेद ओतप्रोत है, वह स्वय किसमे ओतप्रोत है ? जरा बताऍ तो।'

याज्ञवल्क्य के लिए यह प्रश्न भी कठिन न था जो कि गार्गी ने कष्ट देने वाला दूसरा तीर कहकर छोडा था। गार्गी इस प्रश्न को असाधारण मानती थी, मगर याज्ञवल्क्य के लिए यह साधारण ही था। उसने बिना सोचे, बिना विचारे, बिना दिमाग पर बोझ डाले कहा—'गार्गी जी ! लो, उत्तर सुनो। ब्रह्मवेत्ता लोग उसे अक्षर कहते है। वह न स्थूल माने, न अणुरूप समझे, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न धातुवत है, न द्रववत है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, न अन्तर है, न बाहर है। वह न तो कुछ खाता है, न कोई उसे खा सकता है। क्या मै ठीक कह रहा हूँ गार्गी जी !'

'आप ठीक कह रहे है। मगर उत्तर अभी पूरा नही हुआ।'

'हॉ। मै भली प्रकार जानता हूँ कि अभी बात अधूरी है। आगे भी सुनो। इस अक्षर के प्रशासन मे सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप धारण किए हुए स्थित है। इसी के प्रशासन मे द्युलोक और पृथ्वी स्थित है।

इस अक्षर के ही प्रशासन मे लोग दाता की प्रशसा करते है। देवगण यजमान की प्रशसा करते है और पितृगण दर्वीहोम का अनुवर्तन करते है।'

उन्होने आगे कहा—'याद रखना गार्गी जी ! जो कोई इस अक्षर को जाने बिना हवन करता है, यज्ञ करता है, सहस्रो वर्ष तपस्या करता है, उसका हवन उसका यज्ञ, उसकी तपस्या सब व्यर्थ हो जाते हे।

जो इस अक्षर को जाने बिना इस लोक से मृत्यु पाकर चला जाता है, वह अभागा है। जो इसके ज्ञान को, इसे जानकर मरता है, वही ब्राह्मण है। वह ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।'

याज्ञवल्क्य ने अपनी बात को विराम देने से पूर्व, बात स्पष्ट करते हुए, मगर पूरा जोर देकर दोहरा दी—'वह अक्षर दृश्य न होन पर भी द्रष्टा है। श्रव्य न होने पर भी श्रोता है। अमननीय होने पर भी मन्ता है। अविज्ञेय होने पर भी ज्ञाता है उससे अलग कोई द्रष्टा, श्रोता, ज्ञाता नही है। इसे पक्की बात माने। अक्षर मे ही यह आकाश ओनप्रोत हे यह अटल सत्य है। इसे अटल सत्य ही माने।'

गार्गी पूरी तरह सन्तुष्ट थी। पूरी सभा, गोष्ठी मे बैठे सभी लोग पूरी तरह प्रसन्न थे। उन्हे याज्ञवल्क्य के विस्तृत व गहरे दर्शन-ज्ञान पर प्रसन्नता हो रही थी। सचमुच वह ब्रह्मिष्ट था। श्रेष्ठ था, ऐसा सब महसूस कर रहे थे।

उन सबमे बैठे श्रेष्ठ विद्वान् राजा जनक को भी इस चल रही गोष्ठी मे प्रश्न और उत्तर, सभी आनन्ददायक लगे। ज्ञानवर्धक लगे। अनेक जिज्ञासाऍ थमती नजर आई। ऐसे माहोल के बाद, होना तो यह चाहिए था कि अब कोई भी व्यक्ति कोई भी शका न जतलाता। कोई प्रश्न न पूछता। राजा को भी चाहिए था कि याज्ञवल्क्य को परम विद्वान्, परम ब्रह्मिष्ट घोषित कर, उसे सभी गायो को तथा सोने को ले जाने की अनुमति दे देते। मगर नही, उन्होने भी ऐसा नही किया। न ही किसी अन्य दरबारी ने ऐसा करने का सुझाव ही दिया।

अब सभा मे बैठे, इतने दिनो तक चल रही चर्चा को सुनने वाले शाकल्य उठ खडे हुए। उन्होने भी राजा, गोष्ठी मे बैठे विद्वानो तथा याज्ञवल्क्य को सूचित कर दिया कि वह स्वय सन्तुष्ट नही है। अभी कुछ प्रश्न रहते ह जो नही पूछे गए जिनका उत्तर आना जरूरी है। अत वह प्रश्न पूछने जा रहे है।

किसी ने कोई आपत्ति न जतलाई। उत्तर देने वाले ने भी नही कहा—'मेरा कचूमर निकल चुका है। इतने दिनो से प्रश्नो की बौछार झेल रहा हूँ। अब तो बस करे।' ऐसा कुछ नही कहा। कोई आपत्ति नही। बल्कि कह दिया—'प्रिय विद्वान्

शाकल्य जी ! पूछिए, क्या पूछना है। मै अवश्य उत्तर दूँगा।'

'अच्छा बताएँ तो, देवण कितने है ?'

उत्तर था—'समग्र देवताओ वाले सूक्तो मे जितने वर्णित है।'

'ऐसे नही। सही-सही सख्या बताओ।'

याज्ञवल्क्य सोचने लगे—प्रश्न पूछने वाला यह शाकल्य कुछ काइयॉ-सा नजर आ रहा है। यदि मै एक सख्या बताता हूॅ तो वह गलत हो जाएगी। वैदिक गणित आडे हाथो आ जाएगा। सख्या तो बतानी है। कुछ चाल चलनी पडेगी। तभी यह मानेगा। ऐसा सोचकर उसने अपना चतुर उत्तर बनाया।

बोला—'यह सख्या एक हो नही सकती। तीन भी है, तीन सौ तीन भी। तीन हजार भी।'

'उत्तर ठीक हे। मै इसमे निहित रहस्य को जानता हूॅ। अब आप बताएँ कि देव कितने है ?'

'तैतीस।'

'यह भी ठीक है।'

फिर यही प्रश्न दोहराया तो उत्तर था 'छ देव' इसे भी ठीक माना गया। इतने पर बात नही रुकी। यही प्रश्न फिर से कर दिया गया—तीसरी बार—'बताएँ देव कितने है ?' उसने इस बार के उत्तर मे न तो तैतीस कहा, न छ कहा, बल्कि कहा—'तीन'। कमाल है। तीनो बार एक ही प्रश्न। हर बार अलग-अलग उत्तर। ओर हर बार प्रश्न पूछने वाले ने उत्तरो से सहमति जतला दी।

शाकल्य ने चौथी बार वही प्रश्न पूछा—'कितने देव है ?'

उत्तर मिला—'दो।'

यही प्रश्न पॉचवी बार पूछा गया। पॉचवॉ उत्तर था—'अत्यर्ध'। अत्यर्ध का अर्थ है डेढ। यह उत्तर भी ठीक मान लिया गया। कैसे ? वे ही जाने। पूछने वाला सन्तुष्ट था। बताने वाला आश्वस्त था। हम भी है मौन। ठीक तो ठीक ही सही। यह सब कुछ उपनिषदो की कहानियो का हिस्सा हे। पूछने वाले विद्वान्। उत्तर देने वाले उनसे भी विद्वान्। हम मन्दबुद्धि मौन ही बैठे रहे तो इसी मे हमारी भलाई है। ठीक ही कहने होगे।

शाकल्य का अगला प्रश्न था—'तीन, तीन सौ तीन, और तीन सहस्र देव कौन-से है ?' मेरी इस जिज्ञासा का निवारण करे।'

किसी प्रकार का भी प्रश्न पूछा जाता, याज्ञवल्क्य सामान्य रहता। कोई परेशानी नही। कोई उत्तेजना नही। कोई क्रोध नही। कोई व्यग्रता नही। शान्त मन से उपयुक्त उत्तर दिया करता। उनके विषय मे यह बात सर्वविदित है।

शाकल्य के अब के प्रश्न के उत्तर मे उसने कहा—'मेरे मित्र ! देवताओ की

वास्तविक सख्या तो तैतीस ही है। उनकी महिमा का बखान करने के लिए अनेव बार इसका विस्तार किया जाता है।'

शाकल्य को यह उत्तर भी पसन्द आ गया। ठीक लगा। सहमति जतला दी

इस बार शाकल्य ने याज्ञवल्क्य को नामो मे घेरने का मन बनाक पूछा—'नाम गिनाइए।'

उत्तर था—'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एव प्रजापति। जोड ले, तैतीस हो गए।

उत्तर पर एक बार सहमति मे शाकल्य का सिर हिलने लगा। 'हॉ' को दर्शा हुए।

'अच्छा, श्रीमान्। यह बताऍ कि ये 'वसु' कौन है ?'

'सुनो। ये है अग्नि, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र पूरे आठ।'

वसु नाम क्यो पडा ? ऐसा प्रश्न पूछा तो नही गया। मगर याज्ञवल्क्य अपने आप, अपनी ओर से कह दिया—'इन आठो मे पूरा ससार समाहित है। इर्स कारण इन्हे वसु कहा जाता है।'

'अब बताऍ, रुद्र कौन है ?'

जो उत्तर मिला, वह था—'आदमी की जो दस प्राणेन्द्रियॉ है और एक ज मन है, इनको ही एक कुलक के रूप मे रुद्र माना जाता है।'

एक बार फिर, बिना प्रश्न पूछे, याज्ञवल्क्य ने रुद्र कहने का कारण अपर्न ओर से ही बता दिया—'शाकल्य ! मृत्यु के समय ये मनुष्य के शरीर को छोडते है और तब उसके सारे रिश्तेदार, मित्र रोना शुरू कर देते है। दुखी होते है। उनके रो के कारण ही इन्हे रुद्र नाम दिया गया है।'

कुछ विद्वानो का कहना है कि यह व्याख्या ठीक न थी। अधिकतर लोग इर प्रकार की व्याख्या को नही मानते थे। साथ मे ही ये विद्वान् कहते है—'उस सम ब्रह्मवादी हर बात को, हर पहलू को, हर चीज को नवीन दृष्टि से देखा करते थे उन्हे इस प्रकार की ही व्याख्या अच्छी लगती थी। मान्य थी। यदि रुद्र स्व देवता हो जाते तो ब्रह्म के साथ उनका कोई सिलसिला, कोई तालमेल बैठान जरूरी हो जाता।

वेदो मे रुद्र के पुत्रो या मरुतो का गण गिनाया गया है। रुद्रो को रुद्र बना मे कोई हर्ज न था। यदि पूरी दुनिया के अपने अन्दर ही देखा जा सकता था त मरुतो के उग्र रूप धारण करने पर होने वाले महाविनाश के सादृश्य पर इन्द्रिय और मन को अनियन्त्रित और कुपित होकर, अपना ही विनाश करने वाला बतान कठिन नही। इन सब बातो पर गौर करने के पश्चात् शाकल्य ने सामने ख

याज्ञवल्क्य के उत्तर को ठीक मान लिया। हॉ मे अपना सिर हिला दिया।

'आदित्य कौन थे ?'

इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने कहा—'सवत्सर के बारह महीने ही आदित्य माने जाते ह। ये सभी का आदान करते जाते है। सबको स्वीकार कर लेते हे। अपना लेते है। इसीलिए इन्हे आदित्य कहते है।'

ओर भी बताया याज्ञवल्क्य ने। बोले—'अदिति के बच्चो को आदित्य (देवता) कहा जाने लगा और दिति के पुत्रो को दानव (असुर) नाम मिले। दोनो ही प्रजापति की सन्ताने थी। पिता एक, माताएँ दो। इसी प्रकार की व्याख्याएँ दी जाती रही।'

अब पूछा इन्द्र के बारे मे। इस प्रश्न के साथ ही प्रजापति कौन थे, भी पूछ लिया शाकल्य ने।

याज्ञवल्क्य जानता था कि अब यह पूछा जाएगा। वह इसके लिए तैयार था। उत्तर दिया—'स्तनयित्लु या विद्युत ही इन्द्र है। और यज्ञ ही प्रजापति। मेरे इस सक्षेप से उत्तर पर सन्तुष्ट हो जाओ।'

मगर शाकल्य को सन्तुष्टि नही हो रही थी। उसने स्तनयित्लु के बारे मे पूछ लिया।

'स्तनयित्लु ही विद्युत हे, कहा न ! यही अशनि है। यही वज्र है।'

'तो प्रजापति कौन थे ? इस शब्द का क्या अर्थ है ?'

यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा—'बडा आसान। यह है पशु। पशु का शब्दिक अर्थ है—पोषण देने वाला। प्रजापति तो प्रजा का पालन करने वाले हुए ही। पोषक कह दो पशु भी।'

'ठीक है। मुझे ये सारी व्याख्या ठीक लगी है। अब बताएँ—छ देवता कौन है ?

'सुनो। मेरा उत्तर ध्यान से सुनो। अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष आदित्य और द्युलोक। ये छ देवता है। इन्ही का विस्तार करने पर वसु आदि तेतीस देवता बन जाते है।'

'तीन देवता—वाली सख्या का अभिप्राय ?'

'तीनो लोक ही तीन देवता है। और इन्ही के अन्दर तीन देवता आ जाते है।'

'दो देवता क्यो कहा था ? कौन ? जरा स्पष्ट करे।'

'अन्न और प्राण—हुए न दो देवता। यही मेरा मतलब था।' याज्ञवल्क्य ने समझाया।

'और सब ठीक है। डेढ देवता जो कहा था, उसका अर्थ बताएँ ?'

'आपकी हर जिज्ञासा को शान्त करना मेरा कर्तव्य है। मैने जो डेढ देवत वाली बात पहले कही थी उसका अर्थ बताता हूँ। डेढ देवता का मतलब पवन यह जो प्रवाहित होता है वही डेढ है।'

'क्यो ? कैसे डेढ हुआ। है तो पवन एक ही ?'

'ठीक शका है आपकी। मै इसका निवारण करता हूँ। वायु डेढ। या फि इसे अध्यर्ध अथवा आधा अधिक। क्योकि इसी मे सभी ऋद्धि पाते है। अर्ध औ ऋद्धि मे जो सम्प्रसारण का व्याकरणिक सूत्र था, यह शाकल्य की खूब समझ म आ गया। अत वे सहमत हुए।

'अच्छी बात। सब ठीक। देवता एक है—इसकी व्याख्या कैसे करेगे आप ?'

'इस एक का अर्थ है—प्राण। यही ब्रह्म हे। यही एक है। प्राणायाम मे ही सारे जप, याग, ज्ञान और सिद्धियॉ समाहित है।'

हम इस दर्शन-कथा का आगे का भाग अगले अध्याय मे दे रहे है।



ब्रह्म-दर्शन-कथा-8

विद्वानो की इस गोष्ठी मे, जिसमे मिथिला राज्य के अतिरिक्त कुरु तथा पाचाल राज्यो से पहुँचे अनेक विद्वान् उपस्थित थे। यहाँ स्वय राजा जनक भी बैठे थे। गोष्ठी कई दिनो से चली आ रही थी। अनेक विद्वानो के अनेकानेक प्रश्नो के उत्तर दिए थे याज्ञवल्क्य विद्वान् ने।

पिछले अध्याय मे हम शाकल्य द्वारा पूछे गए प्रश्नो के उत्तर पढ रहे थे। एक प्रश्न के उत्तर मे याज्ञवल्क्य ने देवताओ की सख्या हर बार अलग-अलग बताई। पहले छ , फिर तीन, फिर दो, फिर डेढ और अन्त मे एक। उसने व्याख्या पूछे जाने पर, हर बार अलग-अलग व्याख्या की जिससे प्रश्नकता—शाकल्य तो सन्तुष्ट हुए ही। उस गोष्ठी मे बैठे राजा जनक तथा सेकडो अन्य विद्वान् भी सहमत हो गए। यह याज्ञवल्क्य की एक बडी उपलब्धि थी। उसने इतने पण्डितो को अपने पीछे लगा लिया था।

यदि यह कहा जाए कि 'याज्ञवल्क्य का ब्रह्म दूसरे ब्रह्मवादियो के ब्रह्म का हिस्सा हडप रहा था' तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। ये शब्द हमारे नही। किसी विद्वान् के है तथा इन्हे यहाँ उद्धृत इसलिए किया गया है ताकि याज्ञवल्क्य की विद्वता की महानता जानी जा सके।

अब यह घडी आ चुकी थी जब शाकल्य ने कह ही दिया—'याज्ञवल्क्य महोदय ' आपने जो उत्तर दिया, हमने मान लिया। आपने जो परिभाषा दी, हमने स्वीकार कर ली। आपने जो व्याख्या दी, हम मानते गए। शायद इसलिए भी कि हम आपके समान ज्ञानी नही है। यदि यह कह दिया जाए कि आप समय-असमय गपोड-शख बनकर, मर्जी का उत्तर देकर, अपना काम चला लेते है तो भी गलत न होगा। कभी-कभी खीझ भी आ जाती है, मगर हम दबा लेते हे। अब रहा नही जा रहा। कहना पडा रहा है कि आप झूठ-मूठ का सहारा भी ले लिया करते है।'

'यह आरोप गलत है। मै सदा ज्ञान की, तथ्य की वास्तविकता की बात करता हूँ। खैर छोडो। अब अगले प्रश्न-उत्तर मे, कही लगे कि मेरा उत्तर झूठ पर आधारित है, तो आप सहमत मत होना। मुझे कोई आपत्ति न होगी।'

'मेरा अगला प्रश्न है—वह कौन है जिसका आयतन पृथ्वी है। अग्निलोक

मन है। जिसके अध्यात्म को जानने वाला पण्डित हो जाता है। बताओ तो ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर देकर सबको सन्तुष्ट कर दिया। आगे कहा—'का आयतन वाले काममय पुरुष का देवता स्त्री है। आदित्य मे स्थित रूप आयत वाले पुरुष का देवता सत्य है। आकाश आयतन वाले प्रातिश्रुत्क पुरुष का देवत दिशाएँ है। तम-आयतन वाले छायामय पुरुष का देवता मृत्यु है। रूप आयत वाले दर्पण मे स्थित पुरुष का देवता असु है। जल मे स्थित पुरुष का देवत वरुण है। वीर्य आयतन वाले पुत्र रूप पुरुष का देवता प्रजापति बताया।'

इतना कुछ पूछ-जान लेने के बाद स्वय शाकल्य को लगा कि उसके प्रश्न की पिटारी खाली हो गई है। अब यह स्थिति थी कि गायो का असली अधिका याज्ञवल्क्य ही माना जाने लगा। दूसरा कोई नहीं।

बातो-बातो मे याज्ञवल्क्य ने कुरु और पाचाल से आए पण्डितो विद्वानो व खिल्ली भी उडा दी। ताने वाली कुछ बाते कह दी। जो अच्छी नही लगी अशोभनीय लगी। बाकी सब तो चुप रहे। मगर इस वक्त प्रश्न पूछ चुके शाकल से रहा न गया। कह ही दिया—'याज्ञवल्क्य ! तुमने अपने को इतना बडा ब्रह्मवेत्त समझ लिया है कि तुमने कुरु-पाचाल से आए हमारे मेहमान ब्राह्मणो का अपमा कर दिया है। ताने देने लगे हो। यह अच्छा नही किया। मेहमानो के साथ इ प्रकार का अभद्र व्यवहार किसी को भी शोभा नही देता। तुम्हे भी नही।'

इतना सुनते ही याज्ञवल्क्य आगबबूला हो उठे। अब तक हर प्रश्न का उत्त शान्तिपूर्वक देने वाले, एक बार भी क्रोध न करने वाले इस विद्वान् याज्ञवल्क्य व गुस्सा आ गया। वह चाहते थे कि अपनी ब्रह्मविद्या के बल पर अपने ब्रह्मविद ‹ अह की रक्षा कर सके। अह का बोध ही तो है जिसने ब्रह्म को ब्रह्म बना दिया थोडा अकडते हुए बोले—'शाकल्य ! मेरी सुनो। इस पर मनन भी करो। ब्रह्मविद तो हूँ। और हूँ इसलिए कि मै देवता और प्रतिष्ठा सहित सभी दिशाओ का ज्ञान रखता हूँ।' इतना तुम्हे पता होना ही चाहिए।

यह सुनकर शाकल्य चुप नही बैठा। मन बना लिया इस विद्वान् को फिर घेरने का। कुछ और पूछने का। कही-न-कही तो चूकेगा ही। कही-न-कही तो मा खाएगा ही। इस विचार से प्रश्न करने आरम्भ कर दिए।

'अच्छा बताओ पूर्व दिशा मे तुम किस देवता से युक्त हो ? उत्तर ठीक होना चाहिए।'

उत्तर आदित्य से।

प्रश्न आदित्य किसमे प्रतिष्ठित है ?

उत्तर नेत्र मे।

प्रश्न भला नेत्र किसमे प्रतिष्ठित है। बताओ तो।

उत्तर रूप मे। रूप और केवल रूप मे।

प्रश्न तब बताओ रूप किसमे प्रतिष्ठित है।

उत्तर हृदय मे।

प्रश्न कारण ?

उत्तर अच्छी सूरत देखने पर हृदय के इर्द-गिर्द ही सारे मुहावरे गढे जाते है।

सब उत्तर ठीक थे। शाकल्य ने सहमति जतला दी। हॉ, शाकल्य ने सभी दिशाओ को लेकर, हर बार, बारी-बारी प्रश्न किए। प्रत्येक का तुरन्त उत्तर मिलता रहा। बिलकुल सही।

कुछ अन्य प्रश्नो-उत्तरो का सार यहॉ दे रहे है, ताकि यह दर्शन-ज्ञान अधूरा न रह जाए।

दक्षिण दिशा मे वह यम देवता से युक्त थे जो यज्ञ मे प्रतिष्ठित है। यज्ञ दक्षिणा मे ओर दक्षिणा श्रद्धा मे प्रतिष्ठित हे। मनुष्य श्रद्धा करता है, तभी दक्षिणा देता है।

पश्चिम मे वह वरुण देव से युक्त बताए गए थे। जो जल मे प्रतिष्ठित है। जल वीय मे ओर वीर्य हृदय मे प्रतिष्ठित ह। यदि ऐसा न होता तो लोग किसी के पुत्र को देखकर यह नही कहते कि यह तो जैसे उसके हृदय से ही निकला है।

उत्तर दिशा मे वह सोम से युक्त थे जो दीक्षा मे प्रतिष्ठित हं। दीक्षा स्वत सत्य मे प्रतिष्ठित है। एेसा न होता तो दीक्षित जन सत्य बोलने पर इतना जोर नही देते। मत्य निश्चय ही हृदय मे प्रतिष्ठित हे।

ध्रुव दिशा मे वह अग्नि देवता से युक्त थे जो वाक् मे प्रतिष्ठित है ओर वाक् स्वय हृदय मे प्रतिष्ठित हे।

यहॉ एक नइ बात उद्‌घाटित कर रहे हे हम। याज्ञवल्क्य केवल ब्रह्मविद्या के ज्ञानी नही थे। बल्कि वह प्रत-साधना के भी जानकार थे। ऐसा हमने पहले नही बताया। अभी बता रहे है। यदि वह प्रेत-विद्या को न जानते होते तो मद्र देश मे हुइ अनेकानेक वर्ष पूव की घटनाओ का ब्यौरा न दे पाते।

याज्ञवल्क्य उम पर किए गए प्रश्नो को सुनकर एक बार झल्ला उठे। आवेश मे आ गए। एक बार तो शाकल्य पर क्रोधित होकर बाले—‘अरे जा ! तू तो प्रेत है। अहल्लिक है। तुम तो दिन मे अदृश्य हो जाने वाले और रात को प्रकट हो जाने वाले निशाचर हो।’ इसे सुनकर गोष्ठी मे पहुॅचे सभी लोग खिन्न-मन हो गए।

याज्ञवल्क्य ने तो यह भी कह दिया था—‘तुम समझते हो कि सोते समय यह आत्मा या प्राण या हृदय कही अन्यत्र चला जाता हे जेसा कि कुछ लोग सोच लेते हे। जो कि गलत हे। यदि ऐसा हो जाए तो इस हृदय को कोइ भी नर-भक्षी

जानवर खा जाएगा।

तभी तो कहा है कि यह हृदय, यह आत्मा शरीर मे और शरीर इस आत्मा अथवा हृदय मे ही प्रतिष्ठित रहती है।'

यह सुनकर शाकल्य ने प्रश्न किया—'बताओ ! यदि तुम्हारा शरीर ओर तुम्हारी आत्मा एक-दूसरे मे प्रतिष्ठित हे तो ये दोनो किसमे प्रतिष्ठित हे ?

'वाह ! इतना भी नही जानता। प्राण मे, और किसमे भला !

कुछ ओर भी प्रश्न किए गए। उत्तर भी मिले। आइए, इन्हे सक्षेप रूप म जान ले।

प्रश्न प्राण किसमे प्रतिष्ठित है ?

उत्तर अयान मे।

प्रश्न अयान किसमे ?

उत्तर व्यान मे।

प्रश्न व्यान किसमे प्रतिष्ठित है ?

उत्तर उदान मे।

प्रश्न उदान किसमे ?

उत्तर समान मे।

प्रश्न समान क्या है ?

उत्तर इसे ही नेति-नेति कहते है। यह अग्राह्य है। यह अश्वर है। यह असग हे। यह अव्यथित है। यह अहिसित है।

इस प्रकार ये आठ आयन बताए गए हे।

आठ लोक है।

आठ देव है।

आठ पुरुष है।

याज्ञवल्क्य ने ही अब प्रश्न कर दिया—'बताओ जरा वह जो उन पुरुषो को जानकर, उनको अपने हृदय मे उपसहार करके, उपाधि जन्य धर्मो का अतिक्रमण किए हुए है, वह औपनिषदिक या गूढ पुरुष कोन है ? यदि तुमने मुझे इसका स्पष्ट उत्तर न दिया तो तुम्हारा मस्तक कटकर गिर जाएगा।' इतनी भयकर बात कह दी थी याज्ञवल्क्य ने।

अब तक अनेक प्रश्न पूछने वाले और सही तथा तुरन्त उत्तर हासिल कर लेने वाले शाकल्य पर जैसे मुसीबतो का पहाड टूट पडा। उससे तो केवल एक ही प्रश्न पूछा याज्ञवल्क्य ने। इसके साथ ठीक उत्तर न दे सकने की अवस्था मे दण्ड की भी घोषणा कर दी थी प्रश्नकर्ता ने। उत्तर तो उसे आता नही था। इसलिए दण्ड ही झेलना था। दण्ड भी छोटा-मोटा न था। मस्तक के कट जाने का।

उत्तर नही दिया। तभी मस्तक कट भी गया। इसके बाद उसके शरीर की दुदशा हो गई ककाल भी नही बचा। यदि याज्ञवल्क्य प्रेत-विद्या न जानता तो एसा नही हो सकता था। बिना अस्त्र-शस्त्र चलाए किसी का मस्तिष्क कट जाना प्रेत-विद्या के नानकार ही मम्भव कर सकते ह।

शाकल्य ने इतने प्रश्न किए। मगर कही भी वह दण्ड घाषित नही कर सका। उससे पूर्व प्रश्न पूछने नालो ने भी याज्ञवल्क्य के लिए कोइ ऐसा दण्ड नही रखा था। असल म इस प्रकार के दण्ड की घोषणा तो वही कर सकता था जो इतना शक्तिशाली हा, प्रत-विद्या भी जानता हो ओर कही हुइ सजा स्वत पूरी हो सकती हो।

यह ब्रह्म दशन-कथा अभी समाप्न नही हुइ। प्रयत्न करेगे कि अगले अध्याय म इस समेट सके।



ब्रह्म-दर्शन-कथा-9

'बिल्ली मारना' एक मुहावरा है। यहाँ पर, जनक के दरबार मे याज्ञवल्क्य ने बिल्ली मारकर दिखा दी। ऐसा कर उसने भय और आतक का माहौल पैदा कर दिया। सैकडो प्रश्नो का उत्तर देते-देते शायद वह तग आ चुका था। इस बात का स्पष्ट रूप से नही कहा था। हाँ, चेहरे पर आने वाले भाव इसे जतला रहे थे।

सबसे अधिक प्रश्न पूछे थे गार्गी ने जो दो बार परीक्षा लेने सामने आई। परीक्षार्थी याज्ञवल्क्य को अवश्य बुरा लगा होगा। फिर भी वह सब्र का घूँट भरकर रह गया। कुछ बोला नही। कहा नही। हर प्रश्न का उत्तर चुपचाप देता गया।

इन सबसे अधिक परेशान करने वाले प्रश्न पूछे थे शाकल्य ने। उसके प्रश्न-उत्तर का सिलसिला पूरे दो दिन चला। परिणति की ओर पहुँचते-पहुँचते स्पष्ट नजर आने लगा था कि याज्ञवल्क्य का शान्त मन भी अशान्त हो उठा है। उसके मन मे खीझ है। चेहरे पर क्रोध है। आवेश मे आता जा रहा है वह। फिर भी उसने नियन्त्रित रहकर शाकल्य को सन्तुष्ट किया। सभाजनो को सन्तुष्ट किया। राजा भी सन्तुष्ट हुए।

एक समय यह भी आ गया कि उसक अह ने उसे ललकारा। उसके ब्रह्म ने उसे पुकारा। उसे प्रश्नो का सिलसिला बन्द करने की ललक हुई। सबकी बोलती बन्द करने की इच्छा हुई। जो उससे पचासो—सैकडो ब्रह्म-दशन पर प्रश्न पूछ रहे थ, कमियाँ ढूँढ रहे थे, उनको भी सबक सिखाने की सोची। प्रेत-विद्या से भी परिचित था वह। प्रेत-विद्या का उपासक भी था। इसलिए सुनार की सो से बेहतर लुहार की एक लगाने की सोची। पूछ लिया एक ही प्रश्न शाकल्य से। केवल एक। दूसरा तो पूछने की नोबत ही न आई।

कह दिया—'मेरे इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दो। नही तो तुम्हारा मस्तिष्क कटकर गिर जाएगा।' शक्तिवान था। ऐसा दण्ड दे सकता था। ओर दिया भी। उससे उत्तर न बना। फलस्वरूप स्वत सजा मिल गई। सिर कटकर एक आर जा गिरा। राजा बैठे है। सैकडो हजारो प्रत्यक्षदर्शी बैठे है। दे दी सजा। कर दिया खत्म। साथ-ही-साथ, कुछ ऐसी युक्ति की कि शरीर का पता ही न चला। कोइ सबूत न छोडा वहाँ।

ऐसा हान स सब आतकित हो उठे। अब कोन उठे ? कोन प्रश्न पूछ ? कोइ अकला खडा हा जाए। पूछ ले प्रश्न। या इकट्ठे हाकर कुछ लोग प्रश्न पूछ ल। उसक पास उत्तर थ। वह घबराने वाला नही था। मगर बाकी सब घबरा रहे थे। न ता किसी की हिम्मत हुइ कि प्रश्न पूछे। न ही कोइ यह उत्साह कर सामने आया कि याज्ञवल्क्य को ही प्रश्न पूछने को कहे। यदि उत्तर ठीक न हुआ ता मोत मिलनी थी। जसा कि शाकल्य के साथ अभी-अभी हुआ था। अत सभा-स्थल पर पूरा मोन छा गया।

याज्ञवल्क्य की ललकार का कोइ सामना न कर सकता था। किया भी नही। उसके ब्रह्मवादी पलाशदण्ड के आगे टिकने वाला काई न था। उसके शब्दा मे 'चेलज' था। जिस एक ने या बहुत सारा ने कुछ पूछना हे तो पूछो। नही पूछ सकत तो मेरे प्रश्नो के उत्तर दो। मगर न तो कोइ प्रश्न पूछने वाला था, न ही उत्तर दने वाला। गोष्ठी मे आए सारे पण्डित, सारे विद्वान् स्तब्ध बेठे रहे। याज्ञवल्क्य का आत्मविश्वास उनके सिर चढकर बोलने लगा।

कुरु ओर पाचाल से आए ब्राह्मण, पश्चिम के ब्रह्मविद माने जा रहे थे। था भी ऐसा ही। मिथिला नगरी पूव मे थी वे पश्चिम मे। उन्होने अपनी बातचीत मे याज्ञवल्क्य के लिए शाभादायक, आदरसूचक सवनामो का प्रयोग नही किया था। तुम-तू पर सीमित रहे। मगर याज्ञवल्क्य ने उनसे आप तथा आदरपूर्वक भाषा मे बात की। उसकी भी यह आदत थी। जिस क्षेत्र का, जिस मिथिला राज्य का वह रहने वाला था वहॉ आदर ही दिया जाता था। उसने इसमे कोई नई बात न की थी। हॉ, उसका आदर नही हो रहा था, यह बात उसे जरूर अखर रही थी। इस बात की खुन्नस भी थी। इसीलिए उसकी ललकार कुछ ज्यादा तेज हो गई। गम्भीर हो गइ। वहॉ बैठे लोग थर-थर कॉपने लगे। असुखद स्थिति मे आ गए। इससे याज्ञवल्क्य को प्रसन्नता होनी ही थी। हुई भी।

राजा जनक के दरबार मे ऐसी घटना घट गई। कुरु व पाचाल के विद्वान् चकित। मेहमानवाजी करने वाले मिथिला नगरी के लोग अचम्भित। मगर फिर भी सब ओर पूर्ण सन्नाटा।

याज्ञवल्क्य के ज्ञान का सिक्का तो सब मानने लगे। उसे ही राजा द्वारा दी जाने वाली गायो व सोने का अधिकारी तो पहले ही मान चुके थे। मगर यह जो शाकल्य वाली घटना घटी इससे उसे दबी आवाज मे आतकवादी भी कहने लगे। अपने ही मन मे। प्रत्यक्ष मे कहने का तो साहस ही न था किसी के पास। विद्वानो की ऊपर की सॉस ऊपर, ओर नीचे-की-नीचे। सभी भीगी बिल्ली बने बैठे थे। किसी से कोई ऑख न मिला रहा था। सबकी ऑखे जमीन पर गडी हुई थी। याज्ञवल्क्य की ओर देखने के लिए नजर उठाना उनके बस से बाहर हो गया। कोई

उठना चाहे, तो कैसे ? कोई भागना चाहे तो कैसे ? सभा स्थल से निकलना चाहे तो कैसे ? हजारो वर्ष पूर्व की यह घटना आज भी लोग नही भुला सकते। जो उसने कहा, जो उसने किया, आज भी दोहराया जाता है।

याज्ञवल्क्य की जब हर प्रकार से धाक जम गई और उसे सामने बेठे हजारो लोग मक्खी समान प्रतीत होने लगे तो उसने अपनी दाढी सॅवारी। मूॅछो पर हाथ फेरा। गर्व और गरूर दोनो थे चेहरे पर। भाल ऊॅचा कर कहने लगा–'जैसे ये वृक्ष हे। पोधे है। वनस्पतियॉ है। फल, फूल पत्ते है। वैसा ही हमारा शरीर है। यह पार्थिव शरीर। कोइ भिन्नता नही है इनमे।

'देखिए न ! किसी वृक्ष को देखिए। अपने शरीर को भी। यदि वृक्ष पर पत्ते होते है तो आदमी के शरीर पर रोएँ। वृक्ष पर छाल होती है। मनुष्य के शरीर पर त्वचा। दोना एक जैसे। एक ही प्रयोजन। यदि वृक्ष की छाल छिल जाने से रस निकलता हे तो मनुष्य की त्वचा छिलने से रक्त निकलने लगता है। एक ही मतलब है दोनो का। वृक्ष के शरीर से निकला रस ही गोद है। चोट लगने पर, कट जाने पर शरीर से रक्त बहता है तो वृक्ष से रस।

'यदि मनुष्य के शरीर मे मास है तो वृक्ष मे शर्करा। दोनो समान। मनुष्य के शरीर मे स्नायु तन्त्र काम करते हे जबकि वृक्ष के अन्दर किनाट या छाल के अन्दर रस वाही जाल। समानता हे दोनो मे।

'मनुष्य के शरीर मे हड्डियॉ होती है, तो पेड के भीतर काठ। शरीर मे मज्जा होती है तो वृक्ष मे भी। दोनो समरूप।' इस प्रकार याज्ञवल्क्य अपने सामने बेठे लोगो को, विद्वानो से दर्शन की बाते बता रहे थे। उस समय यह ज्ञान नया था। शायद पहली बार याज्ञवल्क्य ने कहा होगा। यही उपनिषदो की कथाओ से पढने को मिलता हे। सब-के-सब लोग स्तब्ध होकर इस दर्शन-शास्त्र को सुन रहे थे। वे अब शाकल्य वाली घटना को दिमाग से निकालकर ये नई बाते सुन रहे थे। समझ रहे थे। ज्ञानवर्धन कर रहे थे। उन्हे चिन्तन का सामान प्राप्त हो रहा था। यह उनके लिए जरूरी था। आज यदि इसे कोई दर्शन न माने भले ही, मगर उस समय तो यह दर्शन ही था।

उन्होने वृक्ष और मनुष्य की समानता बताकर उस घडी सबको चकित कर दिया। पादप जीवन की सुन्दर व्याख्या की थी उन्होने। इसके बाद उन्होने कुछ और बारीक, सूक्ष्म बाते कही। भाषण अब भाषण न लग रहा था। बल्कि इससे प्रश्न उठ रहे थे। लगा कि याज्ञवल्क्य ने कुछ पूछना आरम्भ कर दिया है। बोले–'यदि हम वृक्ष को तने से काटकर फेक दे तो यह अपने मूल से दोबारा अकुरित होने लग जाता है। है न ! बताओ तो, यदि हम मनुष्य के शरीर को काट डाले तो वह किस मूल से अकुरित होगा ? दोबारा बनना शुरू करेगा तो कैसे ?'

कान उत्तर देता। किसी की हिम्मत ही न हो रही थी। यदि कोइ जानता भी था, तो भी बोलने का साहस न था। खेर ' कुछ देर के सन्नाटे के पश्चात् एक पण्डित उठा। बाला—'वह फिर से वीय से पैदा होगा। अकुरित होगा। वही मानव का मूल ह। इसी स वह उत्पन्न होता है। मेरी तो यही धारणा हे। शेष आप जान।

याज्ञवल्क्य इस आदमी के उत्साह को उत्तर देने की हिम्मत को सराहने लगे। चलो कोइ तो उठा। किसी ने तो सन्नाटे को तोडा। ठीक या गलत का उन्हे कम विचार था। बल्कि सामने बेठे भयभीत लोगो को उभारना चाहते थे। एक ने हिम्मत की तो बाकी भी आतक से बाहर आएँगे ही। हिम्मत जुटाएँगे ही। जो उसका कुछ देर पूर्व आतक था वह खत्म होना चाहिए था। खत्म होता लगा तो वह सहज हो गए। खुश हो गए। सन्तोष की साँस ली उन्होने।

उस ब्राह्मण की ओर देखकर धीरे-से याज्ञवल्क्य ने कहना शुरू किया—'देखो मेरे भाइ ' जो तुमने कहा। मुझे जॅचा नही। यह ठीक नही। मेने बीज की तो बात ही नही की। बीज स सभी पदा होते है। आदमी, पौधे, पेड सब। मेरा मतलब भिन्न हे। मेरा आशय यह नही।' जब याज्ञवल्क्य ने इम प्रकार प्रेमपूवक समझाना शुरू कर दिया तो भय भाग खडा हुआ। सब उन्हे गुरु जेसा समझने लगे। उनके शब्दो को ध्यान से सुनन लगे। एकाएक माहौल ही परिवतित हो गया था। सब प्रसन्नचित्त होकर राहत महसूस करने लगे।

'मे तो कह रहा हूॅ कि वृक्ष के कट जाने से वृक्ष के मूल से वृक्ष अकुरित होने लगता हे। बीज लगाकर, अलग से नया वृक्ष लगाने की बात नही कर रहा। वीर्य वाली तुम्हारी बात जॅची नही। वीय तो जीवित शरीर म होता हे। इसे जीवित शरीर ही रोपित करता है। दूसरा शरीर भी चाहिए। दोनो मे एक विशेष क्रिया भी चाहिए।

'मेरा प्रश्न यह हे कि यदि मनुष्य को काट दिया जाए, मार दिया जाए तो वह पुन किस मूल से पैदा होता हे। यहॉ जानना चाहता हूॅ।'

पण्डित, विद्वान् एक-दूसरे का मुॅह झॉकने लगे। किसी के पास भी उपयुक्त उत्तर न था। खैर ' एक युवा पण्डित उठा। धीरे-से बोला—'श्रीमान् ' एक बार पेदा हुआ सो हुआ। मृत्यु के बाद पुन पेदा होना असम्भव है। वृक्ष की भॉति ऐसा नही हो सकता।'

'अरे नही। मरने के बाद फिर पेदा नही होता। ऐसी बात मत कहो। यह पैदा होने वाला क्रम तो जारी रहता ही हे। बन्द नही होता। जेसा तुम मानते हो।' इतनी आत्मीयता से याज्ञवल्क्य बाते कर रहे थे कि लोग भूल गए उनके आतक का। उनकी कठोरता को। शाकल्य की मृत्यु को।

'मेरा प्रश्न फिर से समझे। मै पूछ रहा हूॅ कि मनुष्य की मृत्यु के बाद वह कैसे पैदा होता है। उसे कोन पैदा करता हे। यह बताओ।'

अब प्रश्न बिलकुल स्पष्ट था। मगर इसका उत्तर कोई न जानता था। कोई कुछ कहे भी तो केसे। गूढ दर्शन की बात थी यह।

याज्ञवल्क्य ने कुछ प्रतीक्षा भी की। जब कोइ न उठा, कोई न बोला, तब उसने ही कहना शुरू फिया—'मेरी बात ध्यान से सुने। यही सत्य भी है जो मै कहने जा रहा हूॅ विज्ञान आनन्द ब्रह्म है। यही दानशील की परमगति हे। इसी से ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता आश्रय पाता है।

ऐसा उन्होने कह दिया। सबने सुना। क्या सब समझ पाए इस उत्तर के सार को, यह नही कह सकते। हॉ, उसके बाद कई बार इस उत्तर पर विचार हुआ। चिन्तन किया गया। आज विद्वान् इसका अर्थ यह निकालते है—'उन्होने कहा था कि—हे ब्रह्मविदो ! तुम सबके बीच मै अकेला ही ब्रह्मनिष्ठ हूॅ। तुम सबका परम आश्रय केवल मै हूॅ। तुम इस प्रश्न का सही सही उन्‍र जानने की स्थिति मे नही हो। इसका ठीक उत्तर जानने क लिए तुम्हे मेरी शरण मे आना होगा।' यही थी उनके उत्तर मे छिपी भावना। ऐसा मानते है लोग।

इस प्रकार सभा का विसजन हुआ। ज्ञान-गोष्ठी खत्म हुई। सब लोग अपने-अपने घरो को चल दिए। कुरु तथा पाचाल देशो से आए विद्वान् भी गायो को ले तो गए होगे, मगर नाममात्र। हजारो गायो का स्वामी बना याज्ञवल्क्य। उसे मनो सोना भी प्राप्त हुआ। उसके अथाह ज्ञान की धाक भी जम गई। पश्चिम से आए विद्वान् भी याज्ञवल्क्य के ज्ञान की प्रशसा करते न थके। बहुत से लोगो ने उन्हे अपना गुरु धारण कर लिया। याज्ञवल्क्य ने उन्हे शरण दी। ज्ञान दिया। अपने विचारो से प्रसन्न किया। उनके शेष जीवन को नई दिशा मिली।

'मगर वहॉ यदि कोई उदास बैठे थे तो वह थ राजा जनक। मिथिला नरेश जानते थे कि उनके प्रयत्‍नो से, उनके पास गायो का एक बडा भण्डार मौजूद है। मगर खेत कम है। घास थोडी है। चरागाहे सीमित हे। इसी कमी को पूरा करने, या सीमित मात्रा मे गायो को अपने राज्य मे रखने के लिए ही तो वह गोष्ठियो का आयोजन करते। अन्य राज्यो के विद्वानो मे गायो को वितरित करते। हजारो की सख्या मे। भले वही इसलिए खूब प्रसन्न थे कि उनके दरबार मे आने वाले याज्ञवल्क्य ने मिथिला के पण्डितो का मान बढाया है तथा अनेक विदेशियो को अपना शिष्य बनाया है, मगर सारी गाये फिर से उसी के राज्य मे रह गई। चरागाहो की कमी ज्यो-की-त्यो बनी रही, यही राज्य की उदासी का कारण था।

ब्रह्मज्ञान की लालसा

आज फिर राजा जनक के मन मे कुछ ज्ञान की बाते सुनने की, जानने की इच्छा हुई। जा स्वय दुनिया भग के लिए ज्ञान का प्रकाश बने हुए थे, वह चल दिए अपन रानमहल से। कुछ ओर भी जानने के लिए। जिसे जानते थे, उसे भी भुलाकर, फिर स विस्तृत जानकारी पाने के लिए। इसी मे उन्हे आनन्द मिलता था। वह अपनी बातचीत स मदा यही बताना चाहते थे कि उन्हे कुछ नही आता। वह कुछ नही जानते। जबकि नि सन्देह वह ज्ञान का भण्डार थे। ज्ञान का अथाह सागर थे। ज्ञानवान तारा मे ध्रुव का तारा थे। चॉद थे। अन्य समकालीन सभी पण्डितो से अधिक बुद्धिमान थे। सभी वेदो, शास्त्रो, उपनिषदो व इतिहास के ज्ञाता थे। फिर भी चल दिए ओर ज्ञान पाने के लिए। इस पिपासा को तृप्त करने क लिए।

राजा जनक जा पहुँचे याज्ञवल्क्य के पास। कुछ जानने की इच्छा प्रकट की। आदरपूवक जा बेठे। प्रश्न किया—'मन विचलित हो रहा है। उपदेश पाने की इच्छा से यहॉ चला आया हूँ।'

'भला सूय को दीपक दिखाना कहॉ शोभा देता है ' सूर्य का अपना प्रकाश ही इतना अधिक है कि उसे किसी ओर के प्रकाश की आवश्यकता ही नही। राजन् ' आप स्वय प्रकाशवान हे। ज्ञान के अथाह भण्डार है। आपको क्या उपदेश देना '

'फिर भी राजन् ' आप आ ही गए है तो कुछ धम-चर्चा, ब्रह्मचर्चा, दशन-चर्चा कर लेते है। हे मिथिला नरेश ' क्या आप जानते है कि यह शरीर त्यागने के बाद आपको कहॉ जाना हे ?'

उत्तर था—'नही मे नही जानता।'

यानवल्क्य ने प्रश्न किया। राजा का उत्तर नकारात्मक था। अनभिज्ञता जतला दी थी राजा ने। अब याज्ञवल्क्य को सही उत्तर बताना था। चन्द शब्दो मे उत्तर बताने की बजाय वह विस्तार मे भूमिका मे, परिष्ठभूमि मे पहुँच गए ओर कदम-दर-कदम समझाने लगे।

याज्ञवल्क्य ने कहा—'दाहिनी ऑख मे पुरुष है, इसे 'इन्ध' कहा जाता हे। इन्ध या इन्द्र एक ही बात है। उसी का नाम इन्द्र है। और यह जो बाई ऑख

मे पुरुष बेठा है वह इन्द्र की ही पत्नी 'विराट है। इसे ही अन्न के नाम से जाना जाता है। दोनो के मिलन का स्थान हमारे हृदय का भीतरी आकाश है।

हमारे हृदय के अन्दर जो लाल पिण्ड है, वह दोनो का आहार माना जाता है। हमारे हृदय के भीतर जाल भी हे। यही उन दोनो का पर्दा है। ऊपर की ओर जाने वाली नाडी दोनो के सचार का द्वार हे।

एक उदाहरण से समझाता हूँ। जैसे हमारे सिर के केश कई हजारो शाखाआ मे बेठे हुए है वैसे ही ये हजारो शाखाओ मे बेठी नाडियॉ हृदय के अन्दर स्थित है, जिन्हे 'हिता' नाम दिया गया है। इन 'हिता' नामक नाडियो को ही 'शिरा' और 'उपशिरा' पुकारा जाता है। हमारे शरीर मे अन्न जाता है। इसका पोषक भाग इसका सार हमारे शरीर के प्रत्येक भाग मे इन्ही शिरा तथा उपशिरा के माध्यम से जाता है। स्थूल आहार से सूक्ष्म पोषक रस ग्रहण किया जाता है। इसमे भी शिरा तथा उपशिरा का योगदान है।'

याज्ञवल्क्य इस समय मनुष्य क शरीर की उष्मा की बात कर रहे थे। यही उष्मा ही जठराग्नि भी है। मनुष्य की काया की रचना पर भी उपदेश दे रह थे। राजा भी बडे मनोयोग के साथ सुने जा रहे थे।

उन्होने आगे कहा—'राजन् ' गोर से सुने। यह जो हमारे भीतर बैठा प्राण तत्त्व है, जो इस समग्र क्रिया को सचालित करता है, सब कुछ को जानता है, मगर इसके कारनाम हमसे अलग रह जानते है। ओझल, ओझल स।

ह नरेश ' विभिन्न दिशाएँ इसी के प्राण है। एक-एक करके बताता हूँ।

'पूर्व दिशा उसका पूर्व प्राण है। दक्षिण दिशा, दक्षिण प्राण हे। उत्तर दिशा, उत्तर प्राण है। ऊपर की दिशा, ऊपरी प्राण है। नीचे की दिशा निम्न प्राण कहलाती हे।

'यह वही आत्मा है जिसका स्वरूप समझ मे नही आता। जिसका वर्णन नेति-नेति कहकर किया जाता है। वह नष्ट नही होता। किसी भी चीज से लिप्त नही होता। किसी चीज से बॅधता नही। राजन् ' यह शब्दो से भी नही बॅधता। किसी प्रकार की कल्पना से भी नही। वह व्यथित नही होता और घटता भी नही।

'हे मिथिला नरेश ' आप उसी दशा को प्राप्त हो चुके है। अभय हो चुके हे। यह सत्य है।'

राजा ने आभार प्रकट करते हुए कहा—'सच मानो मै स्वय और यह मेरा पूरा राज्य आपके अधीन है।'

वास्तव मे याज्ञवल्क्य ने असली बात तो कही ही न थी, जिस पर चर्चा शुरू की थी। रहस्य अभी तक रहस्य ही बना हुआ था। मरने के बाद राजा कहॉ जाऍगे, असली प्रश्न तो यह ही था। इस पर तो कुछ कहा ही न था अब तक।

छोडने के लिए, त्यागने के लिए जाने के लिए स्थूल शरीर का होना जरूरी हे। सब मानते है कि आत्मा ज्योति स्वरूप है। वह प्रकाश हे। सब दिशाआ म पहुँच जाती हे। यह केसी ज्योति हुइ जो एक ओर को जाती हे। इसीलिए राजा ने ही प्रश्न कर दिया—'यह पुरुष जो हमारे अन्दर हे, वह किस ज्योति वाला हे ?'

बात को स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—'राजन् ! यह आदित्य रूपी ज्योति वाला है।' यह इस आदित्य ज्योति से ही बैठता हे, उसी से सब ओर जाता हे। सभी कर्म करता है। और फिर लौट भी आता हे।'

'मान्यवर ! जब दिन छिप जाता हे तब इसकी ज्योति का रूप क्या होता हे। कृपया समझाएँ।'

समझो। उस समय चन्द्रमा ही उसकी ज्योति होता है। उसी के रूप मे बेठता इधर-उधर जाता अपना काय करता ओर लोटकर वापस आता हे। यही तथ्य है। सब मानते हे।'

'जब आदित्य अस्त हो जाता है। चन्द्रमा भी आकाश मे नही होता तब यह पुरुष किस ज्योति स ज्योतित होता हे ?'

उत्तर मे याज्ञवल्क्य ने कहा—'उस समय यह अग्नि की ज्योति से प्रकाश पाता हे। चमकता हं। ओर वे ही क्रियाएँ करता हे, जिनका उल्लेख किया जा चुका है।'

'कभी-कभी ऐसा होता है कि आदित्य भी अस्त हो चुका होता हे। चन्द्रमा भी दिखाई नही देता। अग्नि भी प्रज्वलित नही होती। बुझी पडी रहती हे। उस समय यह प्राण ब्रह्म किस प्रकाश से रोशनी पाता हे ?' राजा ने शका जतलाई।

'हे सम्राट ! तब यह वाणी से प्रकाश पाता है। उस वक्त यह वाणी के आलोक से ही आलोकित होता है। उसी मे स्थित होता हे। उसी के माध्यम से इधर-उधर जाता है। काम करता हे। वापस भी आ जाता हे। राजन् ! जहाँ हमारा हाथ नही पहुँच पाता, वहाँ हमारी आवाज पहुँच जाती हे। हमारी आवाज, हमारी वाणी सुनी जाती है। पुकारा जाने वाला भी उत्तर देता है।'

याज्ञवल्क्य समझा रहे थे। राजा जनक समझ रहे थे। समझाने वाला प्रयत्न कर रहा था कि उत्तर स्पष्ट हो। आसानी से समझ मे आ सके। एक और प्रश्न पूछ लिया जनक ने—'बताएँ, जब न सूर्य, न चन्द्रमा, न वाणी, तब यह किस आलोक से आलोकित रहता है ?'

'तब भी यह आलोकित होता है। अवश्य हो सकना है। उस समय आत्मा अपना कार्य करती हे। आत्मा ही इसकी ज्योति बन जाती हे। उसी के माध्यम से उसी के द्वारा यह स्थित होता है। यहाँ से वहाँ जाता है। कार्य करता है। लौट आता है।'

राजा जनक ने यह दर्शन की बात खूब समझ ली। सिर हिलाया। सहमति जतलाइ।

प्रकाश के जितने भी मूर्त और अमूर्त रूप है, वे सभी उसी परम पुरुष के रूप हे। ब्रह्मवादियो का अपना विश्लेषण हो आत्मविश्लेषण हो या वेज्ञानिको का वस्तु विश्लेषण, दोनो की परिणति एक ही है। एक ही बिन्दु पर पहुँचते हे।

उष्मा ही जीवन हे। उष्मा ही ऊर्जा और क्रिया हे। वही सस्यो, वनस्पतियो, प्राणियो, सबमे विद्यमान रहती है। रूप बदल सकते है। क्रियाएँ बदल सकती हे। मगर उतनी-की उतनी रहती हे। कम नही होती। खत्म नही होती। बार-बार लोटकर आती है।

राजा जनक पूरी तरह सन्तुष्ट थे। हर प्रश्न का उत्तर मिल रहा था। मन मे बेठता जा रहा था। अब किसी भी शका की कोई गुजाइश न थी।

मगर राजा जनक का अभी मन नही भरा था। अपने राजमहल से उठकर इतनी दूर आए थे याज्ञवल्क्य के पास। क्यो न पूछते प्रश्न के बाद प्रश्न।

पूछा—'यह आत्मा कौन है ?'

'हमारे प्राणो मे हमारी मनोवृत्तियो और विचारो के रूप मे स्थित एक विज्ञानमय पुरुष हे। वह इनसे अभिन्न होकर इस लोक ओर परलोक, दोनो मे सचार करता है। उन्ही के अुनसार क्रियाशील होता है। स्वप्न बनकर अपनी ऐन्द्रिय सीमाओ का और मृत्यु के रूपो का अतिक्रमण करता हे।'

एक विद्वान् लिखते है—जब राजा जनक यह उपदेश सुन रहे थे तो वह आत्मरूप हो गए थे। उस समय वह जाने कहॉ-कहॉ विचरने लगे थे। उन्हे उपदेश के वाक्य दूर से आते किसी मेघमन्द्र सगीत की तरह सुनाई पड रहे थे।

राजा जनक के कानो मे शब्द पडे—'यह पुरुष जन्म धारण करते समय अपने शरीर के साथ अपना सादृश्य स्थापित कर लेता है। अभेद पैदा हो जाता है। शरीर और आत्मा एक हो जाते है। मरते समय यह इस शरीर के अर्जित पापो को भी त्याग देता है।'

राजा जनक तो सम्मोहन की अवस्था मे थे ही, बोलने वाले, बताने वाले, गाने वाले याज्ञवल्क्य भी सम्मोहन की स्थिति मे थे। अपने ही शब्दो के मोहन मे, सम्मोहन मे।

आवाज आई—'इस पुरुष के दो ही स्थान है। यह लोक ओर परलोक। तीसरा स्थान भी है। इन दोनो के बीच। वह है स्वप्न का। यह स्वप्न का स्थान दोनो के बीच सन्धि-बिन्दु है। इस स्थिति मे मनुष्य इस लोक को तो देखता ही है, परलोक को भी अनुभव करता है। देखता है। इसमे वह इहलोकिक दु ख और पारलौकिक आनन्द, दोनो की अनुभूति करता है।

सोते समय यह आत्मा स्वय इस स्थूल शरीर को अचेत करके स्वय अपनी लालसाओ का एक शरीर रचकर अपने ही आलोक मे शयन करता हे और इस अवस्था मे यह स्वय ज्योति स्वरूप हो जाता हे। ये ज्ञान की बाते याज्ञवल्क्य कह रहे थे। राजन् जनक इनको मनन कर रहे थ। यह हिन्दी रूपान्तर हे उनकी वाणी का।

याज्ञवल्क्य आगे समझाते है—'राजन् । उस अवस्था मे न रथ होता हे न रथ मे जोडे जाने वाले घोडे। न कोई निश्चित मार्ग ही। स्वप्न लेने वाला स्वय इनकी रचना कर लेता हे। यह प्रकृति के विधि स्थलो दृश्यो, अवस्थाओ की नदियो सरोवरो पवतो उद्यानो ओर वनो की रचना स्वय कर लेता हे। वही इन सबका स्रष्टा और कता है।

अब बारी थी उस उत्तर की, जिसका प्रश्न याज्ञवल्क्य ने स्वय किया था आरम्भ मे। ओर राजा जनक ने कहा था— मै इसका उत्तर नही जानता।'

प्रश्न था—'यह शरीर छूटने के बाद आप कहाॅ जाएॅगे।'

चाहे विलम्ब से सही, एक लम्बी भूमिका और व्याख्या के बाद सही, याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'राजन् । मरने के पश्चात् आप कही नही जाएॅगे। जाने वाला भी तथा आने वाला भी एक वही है। सम्राट जनक । वही हे एक मात्र हस। वह जो निद्रा के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट करके स्वय जागता रहता हे ओर समग्र चराचर जगत् को आलोकित किए रहता है। फिर इन्द्रियबद्ध होकर जाग्रत अवस्था मे आता हे। यही सच्चाई है। इसे ही मन मे बिठा लो।'

कहते-कहते याज्ञवल्क्य रुके। इधर-उधर नजर दौडाइ। फिर बोले—'राजन् । यह शरीर उसका घोसला है। उसके घुसने की जगह। अपनी उपस्थिति से वह इसकी रक्षा करता है। यदि वह न रहे तो यह सड-गल जाएगा। उसके उडते ही यह नष्ट होने लगता है। वह अकेला अमृत हिरण्मय पुरुष हे ओर वह उडकर वहाॅ जाता हे जहाॅ वासना होती हे।

वही स्वप्न मे नाना रूपो मे विलास करता, उल्लास मनाता, भय करता, हॅसता ओर रोता है। और इस तरह अपने ही द्वारा रचित ससार का भोक्ता बना रहता ह।'

याज्ञवल्क्य ने स्वप्न की स्थिति पर आगे अपने विचार बताए—'इस अवस्था मे यह पुरुष सवज्योति हो जाता है। जाग्रत अवस्था मे दिखाइ देने वाले ससार मे जो बाते एक साथ नही दिखाइ देती, वे भी इसमे दिखाई देती है। जिस अनुपात मे प्रसग मे क्रम मे दिखाई देती है, उनसे भिन्न रूप मे, इस पुरुष की कामना के अनुरूप दिखाइ देती हे। वह जो भी चाहता है, देख लेता हे। ऐसा जाग्रत अनुभवो मे सम्भव नही।'

मिथिला नरेश ने, आज के इस सवाद के आरम्भ मे, याज्ञवल्क्य को कही शुरू-शुरू मे कह दिया था कि वह तथा उनका राज्य अब उनके अधीन है। फिर इस समय उनके मन मे कुछ कृतज्ञता के ऐसे भाव उठे कि उन्होने याज्ञवल्क्य को एक हजार मुद्राएँ देने की घोषणा की। वह इतने सन्तुष्ट थे, प्रसन्न थे, अभिभूत थे कि ऐसा कहे बिना न रह पाए। ठीक या गलत, यह अलग बात है।

विद्वान् कहते है कि स्वप्न शब्द मे ही कुछ ऐसा सम्मोहन है, दुनिया मे मानव अस्तित्व को समझने के लिए, उस समय के तत्त्वविदो को यह इतना बडा सूत्र मिला था कि इसका अनेक बार सहारा लिया जाता और बात करते-करते रहस्यलोक मे उतर जाते। जिसमे जो कुछ दीख रहा था, वह जाग्रत विचारो से अधिक गहन और सार्थक प्रतीत हो रहा था। इसकी तुलना मे तो जाग्रत जीवन को स्वय एक विलम्बित स्वप्न कहा जा सकता था।

याज्ञवल्क्य का निश्चित मत था—'स्वप्न मे यह आत्मा जो कुछ भी देखता या भोगता हे उसका कुछ भी लेकर बाहर नही आता। वह उसका सब कुछ छोडकर, सब कुछ से असग और अप्रभावित वह जाग्रत अवस्था मे लोटता हे।'

इतनी-सी दर्शन की बात राजा जनक को इतनी अच्छी लगी, पसन्द आई कि उन्होने दूसरी बार एक हजार सिक्के देने की घोषणा कर दी। कितने भोले कितने उदार थे सम्राट जनक। याज्ञवल्क्य की तो हर पग पर चॉदी-ही-चॉदी थी। बल्कि सोना कहा जाए तो और भी उपयुक्त होगा।

मुद्राओ की घोषणा की ओर ध्यान किए बिना, याज्ञवल्क्य ने आगे कहा—'जैसे कोई महामत्स्य किसी नदी मे ऊँट न पाने के कारण एक साथ इसके दोनो किनारो को क्रमश रगडता चला जा रहा हो उसी तरह यह आत्मा, यह पुरुष, स्वप्नलीनता और प्रबुद्धता, दोनो अवस्थाओ मे क्रमश सचार करता रहता है।'

राजा मन्त्रमुग्ध से बैठे सुन रहे थे। प्रवक्ता ज्ञानी ने आगे कहा—'जिस प्रकार गरुड या श्येन आकाश मे चारो ओर दौडते-उडते रहते है—और फिर अन्त मे अपने ही निवास पर घोसलो मे लौट जाते है, ठीक उसी प्रकार यह पुरुष उस अवस्था की ओर लौटता है, जिसमे विश्राम करने, सोने पर न कोई कामना रह जाती है, न स्वप्न दिखाई देता हे।'

थोडा रुककर फिर बोले—'सम्राट महोदय। जैसे सिर के केश होते हे वेसे ही उसकी हिता नाम की नाडियॉ हजारो सूक्ष्म शाखाओ मे विभाजित होकर दौडती है, जिनमे सफेद नीले, नीललोहित ओर लाल रग के रस भरे रहते है और जीवन का सचालन करते है। पुरुष जाग्रत अवस्था मे कडवे अनुभव होते हे उनसे मुक्त हो इस स्वप्नावस्था मे जाग्रत अवस्था को ही स्वप्नवत् मानता हुआ, अविद्याजनित मानता हुआ, अपने स्वनिमित ससार मे स्वय देवता की तरह, राजा की तरह,

विचरता हे ओर यह मानता हे कि यह सब वह स्वय ही हे। वही इस आत्मा का परलाक हे।'

ज्ञान का भण्डार थ याज्ञवल्क्य ! धाराप्रवाह प्रवचन किए जा रह थे। राजा जनक का ज्ञान बढा रहे थे। या यो कह कि राजा जिस ज्ञान को जानते हुए भूले बेठे थे, उसे ही स्मरण करा रहे थे। उपनिषद् की इस कथा को आगे बढात हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—'राजन् ! जेसे प्रिया के साथ आलिगन हाने पर मनुष्य को न बाहर का व्यान रहता है न अन्दर का, इसी तरह यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिगित होता हे तो न तो उसे भीतर का ध्यान रहता हे, न बाहर का।

'वह आप्तकाम अकाम और शोक शून्य रूप हे। यह एक ऐसी सुषुप्ति हे जिसमे पिता पिता नही रह जाता। माता माता नही रह जाती। लोक, लोक नही रह जाते। देव अदेव हो जाते हे। वेद, अवेद हो जाते हे।

'यहॉ चोर, चार नही रह जाता। भ्रूण-हत्या करने वाला भ्रूणहा नही रह जाता। चाण्डाल अचाण्डाल हो जाता हे। पोल्कस अपोल्कस हो जाता हे। श्रमण श्रमण नही रहता और तापस भी अतापस हो जाता हे। उस समय यह पुरुष पुण्य ओर पाप से असम्बद्ध हो जाता हे ओर हृदय समस्त शोको से परे चला जाता हे।

'उस अवस्था मे वह नही देखता ता इसलिए नही कि उसमे दृष्टि का अभाव हो जाता हे अपितु दृश्य लुप्त हा जाता ह। उस दृष्टि मे ही समाहित हो जाता हे। अन्तर-बाहर का भेद मिट जाने के कारण देखने को कुछ बचता ही नही ह। यही स्थिति उसके घ्राण और स्पश ओर दृष्टि आदि के साथ रहती हे।

'वह सभी वेदनाओ से मुक्त हो जाता हे, क्योकि इनक विषय उससे अलग नही रह जाते। वह समस्त चिन्ताओ से मुक्त हो जाता है क्योकि चिन्तनीय विषय उसके चित्त म ही समाहित हो जाते है। वह भोग से मुक्त हो जाता है, क्योकि भोग के विषय उससे बाहर नही रह जाते। इस तरह वह शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना ओर शुद्ध आनन्द बन जाता है। जाग्रत अवस्था मे स्वप्न की अवस्था मे यह भेद बना रहता है। अत वहॉ मोक्ष नही मिलता। वह शुद्ध मुक्तावस्था नही प्राप्त होती। सो यही मनुष्य की परम गति हे। यही परम सम्पत्ति है। यही परमलोक हे। यही परम आनन्द है।'

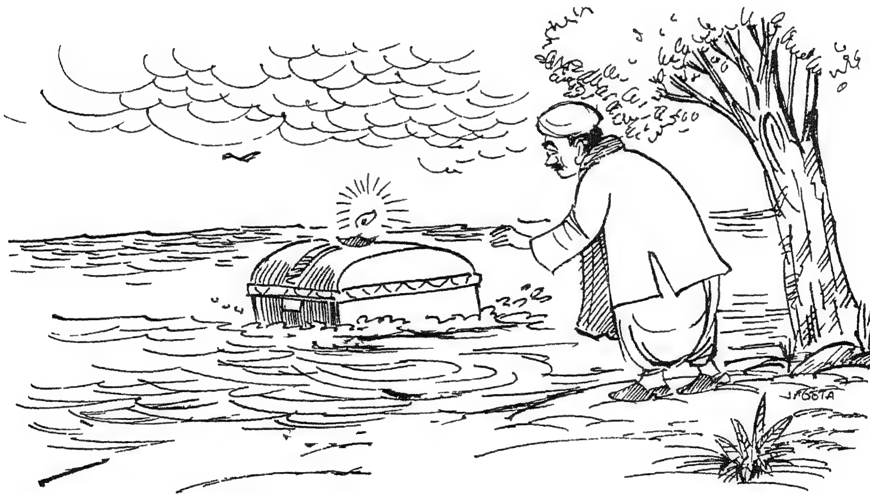
अपनी बात को अभी अधूरा मानते हुए उन्होने राजा को जो उपदेश दिया, उसी का हिन्दी रूपान्तर यहॉ पूरा करते है—'मनुष्य सभी अगो से पूण हो, स्वस्थ हो। समृद्ध हो। दूसरा का अधिपति हो। समस्त भोगो से युक्त हो तो इसे मनुष्य का परम आनन्द कहते है। इसका सो गुना होता है पितृलोक को जीतने वाले पितरो का एक आनन्द।

पितरो को सौ आनन्दो के बराबर गन्धर्वलोक का एक आनन्द हे। गन्धर्वलोक

के आनन्द का सो गुना कर्म देवो का या अपने पुण्यकर्मो से देवत्व प्राप्त ‹ वालो का एक आनन्द है। कर्मदेवो के आनन्द का सौ गुना आजान दवो जन्मजात देवो का एक आनन्द है। आजान देवो के सौ आनन्दो के बर प्रजापति लोक का एक आनन्द है। इसका भी सौ गुना ब्रह्मलोक का आनन्द यही आनन्द निष्पाप और निष्काम श्रोत्रिय को भी प्राप्त होता है।'

राजा जनक ने ये सब उपदेश बडे ध्यान से, मनोयोग के साथ सुने। म बिठाए। धन्यवाद स्वरूप राजा ने याज्ञवल्क्य को एक हजार ओर मोहरे देने बात कही। घोषणा-पर-घोषणा होती रही और इस प्रकार राजा अपनी उदारता परिचय देते हुए, उऋण होते गए।

इन उपनिषदो की कथाओ मे अब तक याज्ञवल्क्य को अपार पशुधन त सम्पत्ति मिल चुकी थी। आगे की कथाओ मे बहुत कुछ प्राप्त करने की सम्भाव है। कह नही सकते कि इस सबका उपयोग उपभोग वह कैसे करते रहे होगे



अधूरा ज्ञान

बात याज्ञवल्क्य की विचारधारा की करते है। सोच की करते है। यदि उन्हे परलोक की चिन्ता थी तो, लोक का भी ध्यान था उन्हे। दोनो मे सन्तुलन रखना आता था उन्हे। उनकी राजा जनक तक सीधी पहॅुच थी। अन्य दरबारियो से भी कही अधिक। उन्हे भी इस विद्वान् से स्नेह था। लगाव था। अवसर पाकर वह इससे हॅसी-मजाक-व्यग्य भी कर लेते। सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे उनके। हॉ यदि राजा व्यग्यपूर्ण शब्दो मे कुछ कह भी देते तो भी याज्ञवल्क्य इसे हॅसी-विनोद मे टाल देते। हाजिरजवाब थे वह। इसलिए माहोल को सॅभाल लेते। कभी बिगडने न दिया करते।

मिथिला-नरेश राजा जनक की सभा लगी थी। याज्ञवल्क्य दरबार मे पहॅुचे। राजा की नजर पडी। आने वाले का प्रयोजन समझ गए। इससे पूर्व कि याज्ञवल्क्य कुछ कहता राजा ने ही कह दिया—'बताओ तो। पशु प्रप्ति के स्थूल प्रयोजन से आए हो या ब्रह्मचर्चा के सूक्ष्म प्रयोजन से ?'

प्रश्न साफ था। याज्ञवल्क्य समझ गए। वह यह भी जानते थे कि राजा अपनी आदत के मुताबिक बहुधा कुशल समाचार ही जानते। हॉ, अक्सर सूक्ष्मान्त की चर्चा शुरू कर देते। धीरे-धीरे स्थूलान्त तक निकल पडते। हॉ, यदि कोई अन्य विद्वान् राजा को कोई ज्ञान की बात बताकर जाते तो राजा बिना विलम्ब याज्ञवल्क्य से वही विषय शुरू कर देते। उनका विचार भी जानते। ऐसा अक्सर हुआ करता। ऐसे माहौल मे वह कुशलक्षेम न पूछकर स्थूलान्त और सूक्ष्मान्त वाली बात किया करते।

आज भी उन्होने ऐसा ही किया। याज्ञवल्क्य समझ गए। अवश्य कोई आया होगा। चर्चा हुई होगी। तभी राजा ऐसा कह रहे है। वह बोले—'राजन् मेरा यहॉ आना बिना प्रयोजन के नही होता। मै किसी एक के लिए तो आता ही नही। आज भी दोनो के लिए आया हूॅ। मगर आप इतना तो बताऍ कि कौन आया था। किससे ब्रह्मचर्चा हुई ?'

राजा जनक भी बेचैन हो रहे थे। बात करनी थी। बताना था। कौन आया। क्या कहा। बोले—'शिलिन को तो आप जानते ही है, उनके पुत्र आए थे। शैलिनि

मेरे पास।'

अच्छा ! क्या कहा उन्होने ?'

'उनका कहना था कि वाक् ही ब्रह्म है। उन्ही के शब्दो मे वाग्वे ब्रह्म।

जितना दूसरे विद्वान् जानते थे, उससे कही अधिक याज्ञवल्क्य जानते थ यह बात प्रसिद्ध थी। सही भी। उन्होने कहा—''शैलिनि की बात कर रहे है आप उनका क्या कहना। वह मातृदेव हे। वह पितृदेव है। वह आचायदेव भी हे। यदि वह ऐसा कह गए—फिर गलत तो हो ही नही सकता। हॉ यह तो कहा उन्होने वाणी का आयतन बताया क्या ? वाणी की प्रतिष्ठा बताई या नही ?'

'नही। यह नही बताया। अब मै भी सोचने लगा हॅू कि ऐसा क्यो नह बताया। या तो उन्होने जानबूझकर आधी बात कही या वह इतना अधिक जान ही न होगे।'

'मै क्या कह सकता हॅू। जिस ब्रह्म की बात बताइ उन्होने, यह तो लॅग हे। यह एक पॉव वाला हे।'

याज्ञवल्क्य ने इतना कहकर अपना प्रभावशाली तीर चला दिया। काट दी शैलिनि की बात। यह अहकार के कारण था या अत्यधिक ज्ञान के कारण। राजा जनक समझ नही पाए। हॉ, उन्होने इतना जरूर कह दिया—'यदि शैलिनि ने पू बात नही बताई, तो आप ही बता दे।'

'ठीक है। मै बताता हॅू। वाक् ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा राजन् ! शब्द आकाश का ही गुण है। मेरा मानना है कि इसकी उपासना प्रज्ञा के रूप मे होनी चाहिए।'

'प्रज्ञा किसे कहते हे ?'

'सुने ! प्रज्ञा और कुछ नही। वाक् ही तो है। हम वाणी से ही अपने-परा का ज्ञान होता है। इसी वाणी से हम ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, इतिहास विद्या, पुराण, सूत्र, श्लोक, व्याख्यान, इष्ट अनुव्याख्यान, आशित, हुत या भूखे क भोजन देने के पुण्य, प्यासे को जल पिलाने के पुण्य, इस लोक और परलोक औ समस्त भूत का भी ज्ञान हो जाता है।

वाक् ही सब कुछ है। वाक् परब्रह्म है। वाक् की इस रूप मे उपासना-पूज ही प्रज्ञा की उपासना-पूजा है।'

कुछ रुककर याज्ञवल्क्य ने कहा—'जो वाक् की इस रूप मे उपासना-पूज करता हे उसे वाग्चतुर कहेगे। ऐसा वह हो भी जाता है। वाक् की इस रूप उपासना ही प्रज्ञा की उपासना हे। उसे वाणी पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। सा ससार उसका सम्मान करता है। वह देवता बनकर, देवताओ मे से एक हो जात है। इतने उच्च स्थान तक वह पहॅुच जाता है।'

इतनी-मी ज्ञान ओर दशन की बात का राजा की नजरा म बहुत मूल्य था। वह प्रमन्न हा गए। घाषणा की– आप पारितोपिक क अधिकारी हुए। म आपको एक हजार बल दता हूँ। ये बल बहुत ह। हाथी की भॉति माट-ताज।

कुछ विद्वान् सस्कृत के श्लोक का अथ भिन्नता स करते हुए कहत ह– उन दिना बल दन का रिवाज नही था। अत अथ होगा—हाथी जेम स्वस्थ बल/वछडे पदा करन वाली गाय दन का वादा किया होगा।

राजा की यह बात सुनकर याज्ञवल्क्य न कहा—'नही। एसे नही। मुझे मर पिताजी की मीख ह कि जब तक शिष्य पूरी तरह प्रसन्न न हो जाए, कृताथ न हा जाए, तब तक उसक धन को स्वीकार नही करना चाहिए। मे आपको सन्तुष्ट करना चाहता हूँ। यदि शलिनि क पश्चात् आपकी किसी ओर विद्वान् से बात हुइ ह तो बताएँ। उसक क्या विचार थ ? किसी भी विषय पर ? कुछ भी ? म जानना चाहता हूँ।

विद्वान् मानते ह कि याज्ञवल्क्य असाधारण प्रतिभा क स्वामी थ। साथ ही वह राजा जनक का अपन प्रभाव से बाहर होना बरदाश्त नही कर सकते थे। उन्ह जब भी यह विदित होता कि कोइ विद्वान् राजा जनक को मिला हे ओर ज्ञान की कोइ बात बनाइ ह। राजा का भी पसन्द आ गइ ह। राजा उसे ज्ञानी मानने लगे ह। यह स्थिति याज्ञवल्क्य को स्वीकाय न होती। वह किसी-न-किसी बहाने राजा को मिलते ओर पूव मे विद्वान् द्वारा बताइ बात का काटकर अपना सिक्का जमा देत। यही उनकी विशेषता भी थी। आज भी यही कुछ करने पहुँचे थे। पूछा भी।

राजा न कहा—'हॉ याज्ञवल्क्य, मुझ एक विद्वान् मिलने आए थे। उदक। वह शुल्ब क पुत्र हे। उनके अनुसार 'प्राण ही ब्रह्म हे'। पहले शेलिनि का कथन था कि वाक् ही ब्रह्म ह।'

चाहे किसी की 'थ्यूरी' को बात को, दशन को 'फिलॉस्फी को काटना क्यो न हा (काटना तो होता ही था) याज्ञवल्क्य उस विद्वान् की पहले प्रशमा अवश्य करते फिर चलात छुरी। फिर काटते उसकी बात। फिर फरते पानी उसकी कही बात पर। आज भी ऐसा ही हुआ।

आह ! आप शुल्ब-पुत्र की बात कर रहे हे। उनके समान कोइ अन्य तत्त्वविद तो हो ही नही सकता। उनके बताए सूत्र विश्व मानता हे। उनकी जितनी प्रशसा करूँ, कम होगी। उदक तो मातृभक्त हे। पितृभक्त हे। आचायभक्त भी। उनकी बात कभी गलत हो ही नही सकती। उनके उपदेशो का मे भी प्रशसक हूँ।

क्या कहूँ। यदि उदक ने प्राण को ही ब्रह्म कहा है तो ठीक कहा होगा। जो प्राणायाम नही करता, उसे ब्रह्म की सिद्धि प्राप्त होना नामुमकिन ह। मगर, राजन् आप यह तो बताएँ कि उदक महोदय ने आपको प्राण का आयतन तथा प्रतिष्ठा

भी बतलाइ अथवा नही ?’

राजा जनक चकित रह गए। बोले—‘ऐसा उन्होने तो बताया ही नही। उन्हे चाहिए था कि जो ज्ञान की बात कर रहे है उसे पूरी करे। अधूरी नही। उन्हे चाहिए था कि प्राण के आयतन तथा प्रतिष्ठा को भी बता देते। आप ही कृपा कर यह स्पष्ट करे। अधूरा ज्ञान ठीक नही होता।’

राजन् ! उदक भी आपको एक पॉव वाला ब्रह्म बता गए। यह भी लॅगडा हे। चलेगा यह केसे ? चलो, मै ही अधूरी बात को पूरा कर देता हूँ। प्राण ही उसका आयतन है। आकाश इसकी प्रतिष्ठा। इसकी उपासना-पूजा प्रिय रूप मे की जानी चाहिए। इसलिए कि प्राण ही प्रियता है। उसी के लिए लोग ऐसे आदमी से भी यजन कराते है जो इसकी योग्यता नही रखता। उसी के लिए लोग ऐसे व्यक्ति से भी प्रतिग्रह लेते है जिससे कुछ ग्रहण नही करना चाहिए।

तभी तो प्राण ही ब्रह्म हे ओर जो इस ब्रह्म मानकर उपासना करता है उसके प्राण उसे कभी नही त्यागते। वह सभी भूतो से उपहार प्राप्त करता हुआ देवलोक को जाता है।’

राजा जनक खूब प्रसन्न हो गए। अपने आपको याज्ञवल्क्य का ऋणी मानने लगे। उऋण होने के लिए कह दिया—‘मै आपको एक हजार बैल और देता हूँ। अब दो हजार हुए।’

याज्ञवल्क्य भी कम बुद्धिमान न थे। हर मौके का पूरा लाभ उठाते। वे राजा जनक के स्वभाव से भी पूरी तरह वाकिफ थे। थोडा भी सोचे बिना बोल दिया—‘राजन् ! पिता की सीख को बेकार नही जाने देना चाहता। शिष्य को बिना कृतार्थ किए म धन नही लेना चाहता। इससे पूर्व कि आपकी भेट स्वीकार करूँ, पहले यह बताएँ कि आपको कोइ अन्य विद्वान् भी मिलने आया। यदि आया तो उसने क्या कहा ?’

‘हॉ, महोदय हॉ। मुझे एक और विद्वान् भी मिलने आए थे। वृष्णा के बेटे—बकु। जो बकुवार्ष्ण के नाम से प्रसिद्ध है। उनका मत तो इन दोनो से भिन्न ही था। वह कहते थे कि चक्षु ही ब्रह्म हे। आप जानो। वह ठीक थे या गलत।’

याज्ञवल्क्य ने फिर चतुराई से काम लेते हुए कहा—‘नही राजन् नही। बुकवार्ष्ण गलत हो ही नही सकते। हॉ, यहॉ भी लगता है कि आपको उन्होने पूरा ज्ञान नही दिया। अधूरा ही दिया। नही बताया होगा कि चक्षु का आयतन क्या है। इसकी प्रतिष्ठा कहॉ हे। लॅगडा ब्रह्म बता गए आपको। राजन् ! चक्षु ही ब्रह्म का आयतन है, और प्रतिष्ठा आकाश है।

थोडा रुककर याज्ञवल्क्य ने कहा—‘राजन् ! इसकी उपासना-पूजा सत्य के रूप मे करनी चाहिए। किसी भी बात की सच्चाई जानने के लिए यह पूछना पडता

ह कि इसका किसी न दखा था क्या । यदि देखन याल का पता लग जाए ओर वह देखने की वात भी कह द नभी इस सत्य मान लिया जाता हे। इसीलिए चक्षु ही ब्रह्म ह।

'ब्रह्म की चक्षु रूप मे उपासना करने वाले की ऑख ठीक रहती हे। रोशनी बनी रहती हे। नेत्र-ज्योति ठीक रहती हे। उसकी नेत्र-ज्योति एक सो वष तक भी खराब नही होती।'

एक बार फिर वही हुआ राजा जनक का प्रसन्न होना राजा का एक हजार बेल देना इस पर फिर याज्ञवल्क्य का पिता की सीख को याद करना दोहराना फिर पूछना कि उन्हे कोइ ओर विद्वान् तो नही मिला मिला तो उसने किस ज्ञान की बात की ?

राजा जनक का फिर स्वीकार करना उनको 'गदभी विपीत भरद्वाज' मिले थे। उन्होन 'कान ही ब्रह्म हे' का पाठ पढाया था। यहॉ भी अधूरी बात निकली। याज्ञवल्क्य ने कहा—'मै ही इस अधूरे ज्ञान को पूरा बताता हूँ। कान ही इसका आयतन हे। ओर इसकी प्रतिष्ठा आकाश हे।'

आगे भी बताया—'राजन् ! कोइ किसी भी दिशा मे चाहे जितना भी आगे क्या न चलता जाए वह उस दिशा का कभी अन्त नही पा सकता। जो भी कोई दिशाओ की उपासना इस रूप मे करता है, वह जीवन पर्यन्त सुनता हे और सभी भूतो के द्वारा समादृत होता हुआ देवलोक को जाता हे।'

राजा जनक फिर प्रसन्न हुए। इस दशन के उद्घाटन के फलस्वरूप, राजा ने याज्ञवल्क्य को इस बार भी एक हजार बेल दे देने की घोषणा कर दी। बैठे-बिठाए याज्ञवल्क्य हजारो बैलो का स्वामी हो गया।

उपनिषदो की यह कहानी आगे बढती है। राजा ने बताया कि उन्हे मिलने सत्यकाम जाबाल भी पहुँचे थे। उन्होने इन सबसे भिन्न बात कही। उनका मानना था कि 'मन ही ब्रह्म' है। यहॉ भी वह इसका आयतन तथा प्रतिष्ठा बताए बिना चले गए। राजा को भी पता नही था—वरना यह बात वह उन्ही से पूछ लेते।

याज्ञवल्क्य ने ही अधूरे ज्ञान पर प्रकाश डाला। कहा—'मन का आयतन मन हे। इसकी प्रतिष्ठा आकाश है। इसकी आनन्दरूप मे उपासना की जानी चाहिए। आदमी अपने मन से ही स्त्री की इच्छा करता है। कामना करता है। आकाक्षा करता हे। मन के अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है। मन ब्रह्म है यह तो इसी से प्रमाणित हो जाता है। आनन्द रूप मे इसकी उपासना करने से मन दुर्बल ओर विचिलत नही होता।'

यही बात खत्म नही होती। राजा जनक को विदग्ध शाकल्य भी तो मिलने आया था। उसका कहना था कि 'हृदय ही ब्रह्म है।' यह बात पहले किसी ने नही

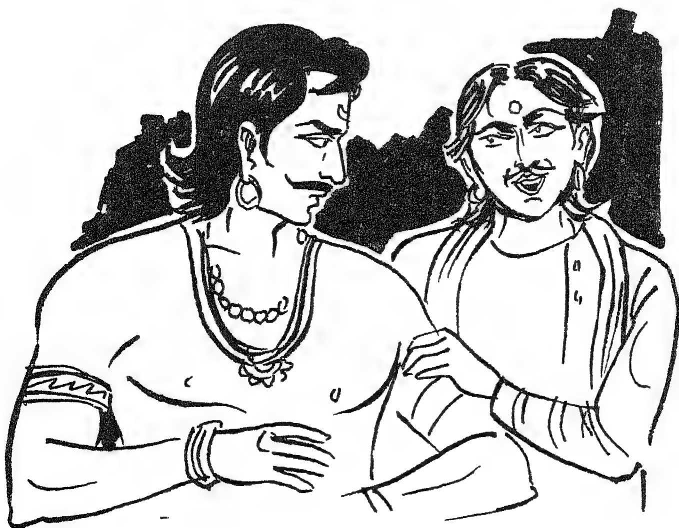
कही। न ही याज्ञवल्क्य ने अपनी ओर से उद्घाटित की।

हॉ इस अवसर पर अधूर ज्ञान को पूरा करने की जिम्मेवारी उन्होने जरूर ली। याज्ञवल्क्य ने ही राजा जनक को बताया— हृदय ही इसका आयतन है। प्रतिष्ठा हे आकाश।' आगे कहा—'इसकी उपासना स्थिति रूप मे करनी ठीक होती है। हृदय ही स्थितता है। इसी मे सब भूत प्रतिष्ठित हे। हृदय ब्रह्म ता हे ही बाह्य जगत का आभ्यन्तरीकरण करने वाले का हृदय कभी विचलित नही होता। समस्त भूतो से सवर्धित होता हुआ वह दवलोक का पहॅुच पाता हे। यही तो उसका लक्ष्य भी होता हे।'

हर ज्ञान के बाद राजा जनक एक हजार बेल देते रहे। राजा जनक की उदारता क भी क्या कहने हे। अब तक याज्ञवल्क्य ने ये एक ही दिन मे एक ही बेठक मे राजा से छ हजार बेल प्राप्त कर लिये।

एक विद्वान् का मानना है कि याज्ञवल्क्य ने सभी छ मो बैल गगा के तट पर पहॅुचाकर बच डाले। उनका यह भी कहना हे कि वहॉ अब हरिहर छत्र का वेला का मेला लगा करता हे। यहॉ लडकियॉ ही नही लडके भी आते है। विवाह के लिए मन्नते मानी जाती है।

यह याज्ञवल्क्य की बुद्धि का कमाल ही हे कि जो ज्ञान किसी ने दिया। इस अधूरा बताकर पूरा किया। अपना सिक्का जमाया और पारितोषिक पाया।



नारद की सन्तुष्टि

सनत्कुमार पहुँचे हुए मनस्वी थे। विद्वान् कहा करते है कि वह आत्मतत्त्व के परम ज्ञाता थे। श्रेष्ठ मुनियो मे उनका नाम था। अनेकानेक लोगो की समस्याएँ वह हल किया करते। उनके द्वार पर जो पहुँचता वह अपनी समस्या का समाधान करवा ही लेता। जब भी कोइ उनसे उपदेश लेना चाहता, पहले वह उसकी श्रद्धा ओर सकल्प की परीक्षा लेते। यदि वह खरा उतरता तो उसको उपदेश देने, अपना माग-दशन देन से कभी हिचकिचाते नही। इसीलिए उनके पास आने वालो का तॉता लगा रहता।

सनत्कुमार का मानना था कि आत्मतत्त्व जानने के लिए भी सकल्प ओर श्रद्धा की जरूरत है। जो कोइ अपने आपको बडा ही विद्वान् बडा ही चतुर, बडा ही ज्ञानी मानता है उसे आत्मतत्त्व को समझने मे अवश्य कठिनाइ आती हे। जितना अधिक शातिर, उतनी ही अधिक कठिनाई।

नारद मुनि महाज्ञानी थे। महापण्डित थे। उनमे विशेष ज्ञान की कमी न थी। उनकी जानकारी अति विस्तृत थी। तीनो लोको के वह जानकार थे। उनसे किसी आदमी के मन की स्थिति छिपी न थी। कौन क्या विचार रखता हे, सोचता हे, सब उन्हे विदित था। किसके घर म क्या बीत रहा है, उन्हे पता होता। वह घर-घर मे होने वाली चचा जानते थे। वह हर रहस्य से परिचित थे।

चूँकि नारद मुनि विद्वान् थे। तीनो लोका मे विचरण करने वाले थे। घर-घर की कहानी जानते थे इसीलिए सब सावधान रहते। उनको कोई खबर न पहुँचे, इस बात का प्रयत्न करत। बहुत-से राज छिपाकर रखते। और यदि किसी कारण आमना-सामना हो जाता तो, सोच-समझकर बात करते। नपे-तुले शब्द कहते। कही बात का बतगड न बना दे, इस दिशा मे अत्यधिक सावधान रहते। जो पूछते, उससे अधिक एक शब्द न कहते।

बात तब की हे जब ज्ञानी-ध्यानी-सर्वज्ञानी नारद को अचानक बोध हुआ कि उनके ज्ञान मे कमी हे। वह भले ही सब कुछ जानते है, फिर भी कही पिछडे हुए हे। अधूरा है उनका ज्ञान। बहुधा होता यह है कि अपने ज्ञान की मात्रा से भी अधिक ज्ञान का ढिढोरा पीटते है लोग। डीगे हॉकने मे पीछे नही रहते। मगर नारद

जी के जीवन मे ऐसी भी घडी आई जब उन्होने अपने ज्ञान को स्तर से कम माना। और जानने, और सीखने की इच्छा हुई।

इसी आशय से वे निकल पडे, और जा पहुँचे सनत्कुमार के पास। सनत्कुमार की बेहद प्रशसा सुन रखी थी उन्होने। इसीलिए तो पहुँचे थे उनके पास। पूर्ण विश्वास लेकर गए कि उन्हे निराश नही किया जाएगा।

जाते ही कुशल-मगल पूछने के पश्चात् कह दिया—'हे मनस्वी ! मै आपके पास आया हूँ। आपसे उपदेश पाना चाहता हूँ। कृपया मेरे इस अनुराध को ठुकराना मत।'

'नही ! देव मुनि, कभी नही। आप जो चाहेगे वही होगा। थोडा अपको भी सहयोग करना होगा। आप जो कुछ भी जानते है, उसे खोलकर बताएँ। तभी तो मै जान पाऊँगा कि आपके दिमाग मे क्या-क्या ऊल-जुलूल हे। गलत है। निकालना है। इस मस्तिष्क मे और क्या डालना है, भरना है, इसका निर्णय करने के लिए यह बहुत जरूरी है। गलत बातो को, गलत ज्ञान को निकालने से आपके मस्तिष्क की सफाई हो जाएगी। तभी अपनी ओर से कुछ उपदेश दे पाऊँगा।'

नारद क्यो छिपाते। कुछ पाना था तो पूछी जानकारी भी तो देनी थी। बोले—'मनस्वी जी ! मैने ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद, ये चारो वेद पूरी तरह याद कर रखे है। इतिहास और पुराण जो पॉचवॉ वेद माना जाता हे, वह भी पूरी तरह याद है। मुझे व्याकरण का पूरा ज्ञान है। व्याकरण की सभी बारीकियॉ भी जानता हूँ। इसके अतिरिक्त पितृकल्प, राशि विद्या, गणित, उत्पात विद्या भी भली प्रकार जानता हूँ। निधि शास्त्र हो या खनिज विज्ञान, मेरे से छिपे नही है। और भी जैसे तर्क शास्त्र, एकायन या नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या खूब पढ रखे है।

मुनिवर भौतिक शास्त्र, क्षत्रविद्या (सैन्यविज्ञान), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष), सर्प विद्या (विषैले जन्तुओ और कीडो के दश का इलाज) सब मेरी उँगलियो पर है। नृत्य, सगीत (देवजन विद्या) भी मुझे आती हे।

आपसे क्या छिपाना ! स्पष्ट कहने मे ही भलाई है। मन्त्रो और शास्त्रो को खूब जानता हूँ। हॉ, 'ब्रह्मविद्या' का ज्ञान बिलकुल भी नही। इसे जानने की प्रबल इच्छा है। मै उस आत्मत्व को नही जानता, जिसे जान लेने के बाद मनुष्य शोक रहित रह जाता है।

सच कहूँ। इतनी जानकारी, इतनी विद्या, इतने ज्ञान के पश्चात् भी मै सदा शोकाकुल रहता हूँ। कृपया ऐसा उपदेश दे कि मै इन सभी शोको से उभर सकूँ।'

ज्ञान की पूरी व्याख्या को सनत्कुमार ने बडे ध्यान से सुना। फिर बोले—'मै आपकी हर बात से सहमत हूँ। हॉ, आपका सारा ज्ञान 'नाम-ज्ञान' तक सीमित

हे।' देखिए न ऋग्वेद नाम है। यजुर्वेद नाम' है। सामवेद 'नाम' है। अथर्ववेद 'नाम' है। क्या-क्या गिनाऊँ आपको। इतिहास पुराण, व्याकरण, पितृकल्प गणित उत्पातविद्या, निविविद्या, तकशास्त्र, नीतिशास्त्र, देव विद्या ज्योतिष सगीत मतलब ये सब 'नाम' ही हे। इसीलिए अच्छा होगा कि आप नाम की ही पूजा-अराधना-उपासना करो। आपके लिए यही ठीक होगा।'

सनत्कुमार से सुनकर नारद को बेहद आश्चय हुआ। वह चकित रह गए। क्या नया कहा उन्होने। वही तो कहा जो वह जानते हे तथा अब तक करते भी आए हे। नाम की ही उपासना तो करते रहे है वह। यह विचार उनके मन मे आया। इसी के भाव चेहरे पर उभर आए। इन भावो को सनत्कुमार ने पढ लिया।

बिना पूछे बिना कहे सब जान गए। तब उन्होने ही अपनी ओर से कह दिया—'देवमुनि ! जो यह मानकर नाम की उपासना करता हे कि नाम ही ब्रह्म है उसकी गति हो जाती है। उनकी गति वहॉ तक होती हे, जहॉ तक नाम की गति हे। यही नाम की उपासना करने का लाभ है।'

सनत्कुमार के ये शब्द सुनकर भी नारद को कोई उत्साह नही मिला। खुशी नही हुइ। वह जानते थे कि यदि शब्द की महिमा न होती तो मन्त्रोपचार न किया जा सकता। अपने मन मे उठे इस विचार को वह छिपाते हुए बोले—'मनस्वी जी बताइए, क्या नाम से ऊपर भी कुछ हे ?'

'क्यो नही ? हे। नाम से ऊपर एक चीज हे।'

'मुझे अधीर न करे। शीघ्र बताएँ मुनिवर।'

'सुनो। नाम से बढकर वाक् है। वाक् ही वाणी है। यही चारो वेदो को विज्ञापित करती हे। पॉचवे वेद को भी। श्राद्ध कल्प, गणित उत्पातशास्त्र, खनिजविज्ञान, तकशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त देवविद्या भौतिक-शास्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, मन्त्रोपचार, सगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथ्वी, वायु आकाश तेज, जल, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी तृण-वनस्पति मृग-श्वापद, कीट-पतग, चीटी-भुनगे, धर्म-अधम, सत्य-असत्य, साधु-असाधु, सुन्दर-असुन्दर जो कुछ भी हे, जो कुछ हम देखते हे, यह सब कुछ वाणी से ही विज्ञापित किया जाता है।

मान लो वाणी न हो तो न तो धर्म का पता चल सकेगा न ही अधर्म का। सत्य-असत्य का भी नही। सुन्दर-असुन्दर का भी नही। इस सब चीजो का ज्ञान वाणी से ही होता हे। इसीलिए तो कहा है कि वाणी को ब्रह्म मानो। इसकी इसी रूप मे पूजा-उपासना करो। यह मेरा परामर्श हे।'

यहॉ यह लिखना जरूरी है कि वाणी की उपासना नारद ने सदा की थी। हॉ, तब वह इतना नही जानते थे कि वाणी ब्रह्मरूप है। इसीलिए सनत्कुमार के दिए इस उपदेश से वह पूरी तरह सन्तुष्ट नही हुए।

इस बात का भी सनत्कुमार को पता चल गया। वह नही चाहते थे कि नारद के मन की दुविधा ज्यो-की-त्यो बनी रहे। इस दुविधा की मूल चिन्ता यह भी हो सकती हे कि इसकी उपासना का लाभ क्या है, यह नारद जी को बताया जाए। इसीलिए उन्होने नारद के मन मे वाणी की उपासना के प्रति रुचि जगा दी। इसी दिशा मे उनका यह उपदेश था—'जो वाणी की इस रूप मे उपासना करता है, उसकी गति वहाँ तक हो जाती है, जहाँ तक वाणी की गति है।'

इस सत्य को भी नारद पहले से जानते थे। उन्हे यह बात कहना अच्छा नही लगा। फिर भी अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए, उन्होने प्रश्न किया—'हे मुनि सनत्कुमार ! मुझे तो यह बताओ कि वाणी से बढकर कुछ और है भी या नही।

'जरूर हे।'

'वह क्या ?'

'मेरे भाई। वाणी से ऊपर मन है। जिस तरह से दो ऑवले दो बेर, या दो बहेडे मुट्ठी में आ सकते हे, समा सकते हे, थामे जा सकते है उसी प्रकार हमारे मन मे वाक् ओर नाम, दोनो के दोनो सिमट सकते है। आरम्भ मे आदमी अपने मन मे सोचता है कि अमुक काय को वह करे या न करे। जब करने की इच्छा हो जाती है, तब वह करता है। जब मन कहता है मन्त्र पढ, तब वह मन्त्र भी पढता हे। इसीलिए कहा हे कि मन ही लोक है। मन को ही आत्मा मानते है। मन ही ब्रह्म हे। नारद जी। तुम मन की उपासना करो। मेरी यही राय है।'

कुछ देर तक ओर चर्चा होती रही। सनत्कुमार ने नारद जी को इस उपासना से होने वाले लाभ-हानि के बारे मे बताया—'कहा गया है कि जो मन को ब्रह्मज्ञान कर उसकी पूजा-अचना करता है, वह जब चाहे, तब उस चीज को हासिल कर सकता है।'

सनत्कुमार का यह उपदेश भी नारद को सन्तुष्ट नही कर सका। उन्होने विनयपूर्वक पूछ लिया—'क्या मन से ऊपर कुछ नही है ?'

'है। जरूर है। मन से ऊपर भी है।'

'बताइए फिर, वह क्या चीज हे।'

'तब सुनो। मन से बढकर सकल्प है। यह सकल्प ही मन को विविध भावो, विचारा और कार्यो के लिए प्रेरित करता है। इससे प्रेरित होता है मन। फिर यह इन्द्रियो को सचालित करता है। इसी मे नाम है। इसी मे वाणी है। इसी मे मन्त्र समाहित है।'

नारद सुन रहे थे। सनत्कुमार बता रहे थे। उन्होने अपनी बात आगे बढाई—'यह निश्चित है कि द्युलोक और पृथ्वी ने सकल्प-सा कर रखा है। वायु

और आकाश ने सकल्प ले रखा है। जल ओर तेज का भी सकल्प हे। इनके सकल्प से बारिश होती है।

वषा के सकल्प से अन्न पेदा होता हे। अन्न का यह सकल्प ही ता हे कि प्राणिया का पोषण होता है। प्राणो के सकल्प से मन्त्र या चिन्तन होता हे। चिन्तन या मन्त्र के सकल्प से कम होते है। कर्मो के सकल्प से लाक का उदय होता हे। तभी फल मिलता है। लाक के सकल्प से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता ह। म तो कहूँगा कि आप सकल्प को ही ब्रह्म मान। इसकी उपासना कर। पूजा करे। आराधना कर।

जा इस प्रकार पूजा-उपासना करता हे, वह ध्रुव हाकर ध्रुव लोको को प्रतिष्ठा हाकर प्रतिष्ठित लाको को तथा अव्यथ होकर व्याथहीन लाका को प्राप्त करता हे। वह जब जी मे आए, वहॉ तक पहुॅच सकता है, जहॉ तक सकल्प की गति है।'

सनत्कुमार न नारद को वास्तविकता बतान म कोइ कसर न उठा रखी। खूब समझाया बताया। उपनिषद् की इस कथा म आगे कहा गया हे कि नारद अभी सन्तुष्ट नही हो सके। उनके मन मे काइ अन्य प्रश्न छलॉगे लगा रहा था। उन्होने सनत्कुमार से पूछ लिया— मुनिवर ! वही पूछ रहा हूॅ, जिसका शायद आपने पूर्वाभास भी कर लिया होगा। जरा बताइए तो कि सकल्प से ऊपर कुछ ओर हे अथवा नही।'

'ह। सकल्प से बढकर चित्त हे।'

'यदि सकल्प से बढकर चित्त हे, तो क्या ? इसका कारण भी समझाऍ।'

'समझा। समझाता हूॅ। आदमी सकल्प तभी करता हे जब वह सचेत होता ह। जिस समय मनुष्य न तो सोया होता हे न ही बेसुध न नशे के प्रभाव मे। जिसके होश हो ठीक न हो, वह कोइ सकल्प नही करेगा यह मानी हुई बात ह। सकल्प के बिना क्रियाओ का तालमल बठ ही नही सकता।

जरा ओर खालकर बताऍ।' नारद ने कहा।

नारद जी ! बड-से-बडा ज्ञानी भी यदि अचेत हे तो उसकी किसी भी बात पर काइ भी ध्यान नही दता। हॉ एक बात ओर। यदि मामूली बुद्धि वाला व्यक्ति होश मे ह सचेत ह, ओर एस म यदि वह कुछ कहता हे, तो सब ध्यान स सुनेगे।'

'मुझे चित्त की उपासना करने का लाभ भी समझाऍ।' नारद की बात म विनय ओर जिज्ञासा झलक रही थी।

'दव मुनि ! ब्रह्म को चित्त मानकर जा उपासना करता है, उस सारे लोक प्राप्त हो जाते हे। उसकी गति भी वहॉ तक पहुॅचती है जहॉ तक चित्त का विस्तार हे। चेतना की दोड हे। पहुॅच है।'

नारद आए थे अपने अधूरे ज्ञान को पूरा करने। या फिर जो वह नही जानते, उसे जानने के लिए। मगर अभी तक सनत्कुमार जो कुछ बता चुके थे, नारद इससे सन्तुष्ट नही थे। शायद यह सब उन्हे पहले से मालूम था। उन्होने पूछा—'क्या चित्त से ऊपर भी कुछ है ?'

'चेतना या चित्त से ऊपर तो ध्यान ही है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, जल, पर्वत, देवता, मनुष्य, सभी मानो ध्यान ही करते हे। अत जो भी कोई मनुष्यो मे महत्त्व प्राप्त कर सकता हे, इसके योग्य होता है, सभी ध्यान का अश पा लेने से ही सम्भव है।'

'तो जो ध्यान रहित है वे कैसे होते है ?'

'ध्यान रहित लोग क्षुद्र, झगडालू, बदतमीज चुगली करने के आदी मान जाते है। वे बुरे लोग होते है। चूँकि वे किसी बात पर ध्यान नही देते इसलिए वे अच्छे नही बन पाते। अच्छे नही कहलाते। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप ध्यान को ब्रह्म मानकर, इसकी उपासना करो। ऐसा करने वाले की गति बहुत दूर तक होती हे। वहॉ तक, जहॉ तक ध्यान जाता है।'

इतना कुछ सुनकर भी नारद के चेहरे पर असन्तोष झलक रहा था। पूछ बैठे—'मुझे तो यह बताऍ कि क्या ध्यान से ऊपर कुछ है ?'

'हॉ है।' यह था सनत्कुमार का उत्तर।

'ध्यान से ऊपर है, तो क्या ?' नारद जानना चाहते थे।

'विज्ञान ! यह ध्यान से भी ऊपर स्थित है। उत्कृष्ट है। विज्ञान वह हे जिससे मनुष्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद आदि सब जान लेता है। इसमे वह सारा ज्ञान, वे सारे विषय आते है, जो इस उपनिषद् की कथा मे पहले वर्णित किए है और इन सबका ज्ञान नारद को पहले से था।

और सुनिए ! नारद जी ! इसी से अन्न और रस, तथा लोक-परलोक को जाना जाता है। जो ब्रह्मरूप मे विज्ञान की उपासना करता है उसकी गति वहॉ तक जा सकती है, जहॉ तक विज्ञान की जाती है। आप भी विज्ञान को ही ब्रह्मरूप मानो। इसकी उपासना करो। खूब प्राप्ति होगी।'

'नही। मै तो अभी तक सन्तुष्ट नही हुआ। मै जो ध्येय लेकर आया था, वह पूरा नही हुआ। आप कहे, यदि इससे भी कुछ आगे है, तो उसका वर्णन करे। उससे अवगत कराऍ।'

'क्या कहूँ ? बहुत कहा। मगर यदि नारद जी आप और आगे की पूछना चाहते है तो 'बल ही सर्वश्रेष्ठ है। विज्ञान से भी ऊपर। एक ओर सौ विज्ञानी, दूसरी ओर एक अकेला पहलवान। यह पहलवान उन्हे हिलाकर रख देगा। बिना बल के शरीर का कोई अग कार्य नही करता। आदमी हाथ-पॉव नही चला

सकता। आदमी के लिए बल सबसे ऊपर मानो।'

सनत्कुमार थाडा चुप हुए। फिर उपदश देते हुए कहा—'नारद जी ! जीवन की सफलता के लिए बल को ब्रह्म मानकर उपासना करो। ठीक रहेगा।'

सनत्कुमार ने थोडी सहज मुद्रा मे बेठते हुए आगे कहा—'इससे बडा लाभ होता हे। बल की उपासना करने वाल की गति वहाँ तक पहुँच जाती है, जहाँ तक स्वय बल की हे।'

नारद का अपना ज्ञान ही विशाल था। उन्हे आज इतनी लम्बी चर्चा मे कुछ भी नया सुनने को नही मिला। इस सबको वह पहले से जानते थ। फिर पूछ लिया—'बल के ऊपर क्या है ?'

लो फिर इसे भी बताता हूँ। अन्न ही बल से ऊपर हे। श्रेष्ठतर हे। उच्च है। बिना भोजन किए, बिना अन्न का सेवन किए, जीवित मनुष्य भी मुर्दा समान होता हे। चल-फिर नही सकता। नकारा हो जाता है। बात करना, देखना सब कठिन हो जाएगा। प्राण होते हुए भी प्राण-रहित जैसो-सा व्यवहार होगा उसका।

आप भी अन्न को ब्रह्म माने। इसी रूप मे इसकी उपासना-पूजा करे। जो भी कोई अन्न की ब्रह्म रूप मे उपासना-आराधना करता है उसे खाने-पीने की किसी भी वस्तु की कभी कमी नही रहती। और फिर जहाँ तक अन्न की गति है वहाँ तक उसकी गति हो जाती हे।'

उपनिषद् की यह कहानी, नारद की जिज्ञासा की कथा अभी समाप्त नही होती। आगे से आगे चलती रहती है। जब सनत्कुमार अभी भी नारद को सन्तुष्ट न कर सके तो उन्होने उनके मन मे अगले प्रश्न को स्वत जानकर कहा—'अन्न से ऊपर, अन्न से उत्कृष्ट चीज का नाम बताता हूँ। यही तो आप जानना चाहते हे। अन्न से उत्तम जल को माना गया है। यह जल ही तो है, जिससे वनस्पति की रक्षा होती है। उत्पत्ति होती हे। यह जल ही तो है जिससे वर्षा होती हे। यह जल ही तो है जिससे अन्न पेदा होता हे।'

अभी भी असन्तुष्ट लगे ज्ञानी-ध्यानी मुनिवर नारद जी। सनत्कुमार ने अन्न से ऊपर जल को बताया था। अब जल से ऊपर 'ताप' को घोषित कर दिया। ताप ही के कारण तो जल से वाष्प बनते है। ऊपर जाते है। वर्षा करते है मै तो कहूँगा कि आप 'ताप' अथवा 'तेज' की ब्रह्मरूप मे उपासना करे। जहाँ तक तेज की गति है वही प्राप्त होगी।

उपनिषद् की यह कहानी इसी प्रकार आगे बढती है। ताप या तेज के पश्चात् आकाश को ही सर्वश्रेष्ठ बताया सनत्कुमार ने। सनत्कार ने पूर्व मे कहा था कि नारद को चाहिए कि तेज रूप मे ब्रह्म की उपासना करे। इससे व्यक्ति तेज सम्पन्न होकर, प्रकाशमान और तमोहीन लोको को प्राप्त करता है।

जब आकाश को भी तेज से बढकर बताया तो कहा—'आकाश के द्वारा ही लोग सुनते है। एक-दूसरे से सवाद कर पाते है। आकाश मे ही समस्त पदार्थ स्थित होते है। उत्पन्न होते है। बढते है।'

उनका कहना था कि—'तृण आदि भी आकाश की ओर अकुरित होते है ओर बढते है। अत आकाश ही ब्रह्म है। जो भी कोई इसकी इस रूप मे उपासना करता हे, वह आकाशवान,प्रकाशवान नथा पीडारहित हो जाता है। इसीलिए हे देवमुनि ' आपको परामर्श दिया जाता है कि आप आकाशरूप मे ही ब्रह्म की उपासना करो।'

सर्वत्र रहने वाले, विचरने वाले, हर घर की खबर रखने वाले नारद जी चाहते थे कि सनत्कुमार से कुछ उपदेश ले ज्ञान की बाते जाने। अनेक उपदेश पा लेने के बाद भी वह सन्तुष्ट न थे। अभी तक उन्हे वह बात सुनने को न मिली थी, जिसे वह नही जानते थे। उसी के लिए उत्सुक चले आ रहे थे।

जब अपने असन्तोष की बात नारद जी ने कह ही दी, तो सनत्कुमार न अपना उपदेश कुछ यो दिया—'हॉ। आकाश से ऊपर भी कुछ है। और यह हे—स्मृति। इसी का दूसरा नाम है स्मर। देखिए न ' यदि स्मृति ही लुप्त हो जाए तो सब बेकार। कहा-सुना सब बेकार। सोचना या मनन करना भी तो स्मृति पर निर्भर रहता है।'

इतना ही नही। इसके पश्चात् सनत्कुमार ने कहा—'स्मर, स्मरण या स्मृति से भी ऊपर है—आशा। स्मरण से उत्कृष्ट है आशा।

जो आशा से दीप्त स्मरण है, वही मन्त्रो का पाठ करता है। पशुओ और पुत्रो की इच्छा करता है। अच्छी सन्तान पाना चाहता है। लोक ओर परलोक, दोनो की कामना करता है। सोचता है। '

मगर नही। अभी भी नारद जी सन्तुष्ट नही हुए। इसका अर्थ तो यही है कि वह स्वय अत्यधिक ज्ञान रखते थे। इसीलिए उन्हे सनत्कुमार के उत्तर अपर्याप्त लगते, अधूरे लगते—और पिटारी से एक नया उत्तर निकल आता जो पिछले उत्तर से उत्कृष्ट होता। फिर भी जिज्ञासु थे नारद जी। उन्हे नई बात बता दी सनत्कुमार ने। कहा—'आशा से ऊपर भी है कुछ। इसे ही प्राण कहते हे। यह आशा से उत्कृष्ट है। बढकर है।

जिस प्रकार चक्के की नाभि मे अरे गडे रहते है उसी तरह समस्त जगत् प्राणो मे अटका रहता है। रुका रहता है। फॅसा रहता है। प्राण ही पिता,प्राण ही माता प्राण ही सब कुछ। बहन, भाई सब प्राण ही है। प्राण ही आचार्य, प्राण ही ब्राह्मण प्राणो से प्रिय, प्राणो से उत्तम और कुछ भी नही।'

कह तो गए यह सब सनत्कुमार। फिर रुके। जरा सोचा। तब बोले—

नारद जी । माना कि प्राण को ही माता-पिता मानना कहना अतिवाद हे। कुछ लोग मेरे इस कथन के साथ शायद सहमत न भी हो। वे इसे अतिशयाक्ति भी कह सकते है। मगर यही सच्चाई हे। इसलिए अपनी बात को अति कथन, अतिशयोक्ति अतिवाद भी मानना पडे तो कोई बात नही।'

यह पहला समय था। पहला अवसर था, जो इतने लम्बे सवाद म, उपदेश मे नारद जी के चेहरे पर कुछ सन्तुष्टि के भाव उभरे। चमके और चेहरा प्रसन्न दिखाई देने लगा। तब सनत्कुमार की बात का छोर पकडते हुए नारद जी बोले—'सत्य तो सत्य ही है। जो सत्य की बात करेगा, सत्य से प्रभावित होगा, वह सत्य को कहने के लिए अतिशयोक्ति का सहारा ले सकता है। मगर हॉ, इस सत्य मे झूठ तो नही मिलाता। अत बुरा क्यो मानना। मेरी ही देखे। जब मुझे सत्य दिखाई देता है। पसन्द आ जाता है। इस सत्य-कथन को कहने के लिए मै भी अतिशयोक्ति का सहारा लेता रहा हूॅ। इसमे कोई हर्ज भी तो नही है।'

उपनिषद् की इस लम्बी कहानी मे, सनत्कुमार के प्रयत्न अन्तत फल लाए। वह सफल हुए सही उपदेश देने मे। वह सफल हुए नारद जी को अपनी बात ममझाने मे। उन्हे सन्तुष्ट करने मे। शुभ सन्देश देने मे। उन्होने नारद जी को कहा था—'सत्य को यो ही नही मान लेना चाहिए। जब पता चल जाए कि अमुक बात सत्य है, तब तो इसे खूब अच्छी नरह समझना-बूझना चाहिए। तभी लाभ होगा।'

'मेरे भी यही विचार हे। मै आसानी से नही मानता। सच्चाइ को ठोक-बजाकर ही ग्रहण करता हूॅ।'

सनत्कुमार के विचारो मे—'सत्य कोई ढोग नही। दिखावा नही। सत्य बोलने के लिए इसकी पूरी जानकारी होना आवश्यक है। इसका उत्तम ज्ञान होना जरूरी है। इसीलिए कहते हे कि विज्ञान को विशेष रूप से जानने वाला ही सत्य का कथन कर सकता हे। मेरे विचार मे सत्य से प्रेम करने वाले को विशेष रूप से विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिए। तभी हितकर होगा।'

यह सुनकर नारद जी ने भी अपनी विज्ञान के साथ सम्बद्धता की बात दोहराइ। तब सनत्कुमार बोले—'विज्ञान को जानने के लिए इसका मनन करना आवश्यक है। तभी तो विज्ञान के ज्ञान के लिए मति की जिज्ञासा जरूरी हे। आवश्यक है।'

पति के बारे मे नारद जी ने जाना। यह भी जाना कि श्रद्धा के बिना मनन सम्भव नही। और फिर निष्ठा हो तभी श्रद्धा भी होती है। यदि कोई कम नही करता तो निष्ठा की आस भी नही होनी चाहिए। कम भी तभी होता है जब सुख की उम्मीद होती हे, वरना कम कोन करे । नारद ने यह सब जाना ओर जाना कि भूमा के बिना सुख नही मिलता। भूमा हो तो सुख भी हे।

सनत्कुमार ने भूमा की बात कह दी। इसकी सुख के लिए अनिवार्यता बतला दी। मगर नारद भूमा के बारे मे कुछ समझ न पाए। यही समझने के लिए तो उन्होने सनत्कुमार से प्रार्थना की।

'तो सुनिए देवराज ! यह वह स्थिति हे जब व्यक्ति अपने से अलग न तो कुछ देखता है, न अन्य कुछ सुनता है। न अन्य कुछ जानता ही है। यही भूमा है।

जहॉ कोई मनुष्य कुछ और देखता है। कुछ और सुनता है। कुछ और जानता है तो समझ लो यह अल्प है। भूमा ही अमृत है। यदि अल्प है तो यह मर्त्य है। इसे ही पक्की बात जानो।'

उपनिषद् की यह कहानी यही समाप्त नही होती। जब नारद ने भूमा के विषय मे सुना तो वह भूमा के बारे मे पूरा ज्ञान अर्जित कर लेना चाहते थे। उन्होने पूछ लिया—'भूमा किसमे प्रतिष्ठित है, यह भी बताएँ।'

'भूमा अपनी महिमा मे प्रतिष्ठित है।' सनत्कुमार ने बताया। उन्हे लगा कि उत्तर मे कुछ कमी रह गई है। इसे ही स्पष्ट करते हुए बोले—'शायद अपनी महिमा मे भी नही, मुझे तो ऐसा लगता है। इस दुनिया वालो ने महिमा का अर्थ भी हेय बना दिया है। इस ससार वालो की नजर मे तो गौ, अश्व, हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या, खेत तथा घर ही महिमा है। मेरे मन मे जो 'महिमा' का मतलब है, अर्थ है, वह भिन्न है। इन चीजो से अलग। मेरे विचार से कोई भी वस्तु किसी दूसरे मे प्रतिष्ठित हो ही नही सकती। अत ये चीजे 'महिमा' म नही आनी चाहिए।'

अब नारद जी को लगा कि उनका वहॉ आना सफल हुआ। वह सनत्कुमार के पास जो ज्ञान, जो उपदेश लेने पहुँचे थे, वह उन्हे मिल गया। जितना वह जानते थे उससे अधिक सुना था अब। पूरा सन्तोष था उन्हे। उन्हे यह भी लग रहा था कि सनत्कुमार द्वारा दिया कदम-दर-दकम ज्ञान सचमुच महासागर है। उनका अपना ज्ञान इसके सामने तुच्छ है। वह प्रसन्नता से अभिभूत हो उठे।

मगर सनत्कुमार को लगा कि कुछ और बताना चाहिए। वह बोले—'भूमा एक परम स्थिति है। इसमे नीचे, ऊपर, दाएँ, बाएँ सब वही होता है। सब कुछ मै ही हूॅ। ऐसा ज्ञान। मगर यह अहकार से अछूता नही रहता। अहकार का आवेश अनुभव होता है। मै ही नीचे हूँ। मै ही ऊपर हूॅ। ऐसा भी अनुभव होता है। मै ही आगे। मै ही पीछे। मै ही दाएँ। मै ही बाएँ। मै ही सब कुछ यह स्थिति आ जाती है।

इस अवस्था मे आत्मभाव से, भूमा का आदेश किया जाता है। तब तो कमाल की स्थिति आ जाती है। नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दाएँ, बाएँ, हर जगह, सर्वत्र ही सबेके अन्दर, सबके बाहर, आत्म-भाव दिखाई देता है। इससे भिन्न कुछ भी नही। तब तो मैथुन भी अपने से, खेलना भी अपने से, आनन्दित होना भी

अपने से। अपने आपसे। अपने आपको स्वराट् महसूस करता हे। गति सवत्र नजर आती हे। जो इनसे भिन्न—वे अवरुद्ध, वे बेकार।

इस प्रकार देखने, सोचने, मानने आदि से आत्मा से ही प्राण, आशा स्मृति जल, अन्न बल ध्यान मन्त्र, कर्म, आदि-आदि सिद्ध हो जाता है। जो इस स्थिति मे पहुँच जाए वही सच्चे मायनो मे विद्वान ह। और जो विद्वान् हो जाता हे वह रोग मृत्यु, दु ख आदि को न देखता है। न परेशान होता हे। ऐसे मे वह एक न होकर तीन, सात, ग्यारह सहस्र और अनन्त हो जाता है। आहार शुद्ध अन्त करण भी शुद्ध। स्मृति स्थिर। निर्गध। सभी ग्रन्थियो से मुक्त हो जाता है।'

नारद को लगा कि उन्होने परम आनन्द, परमज्ञान की प्राप्ति कर ली है। वह पूरी तरह लाभान्वित होकर लोटे।



ब्रह्मतत्त्व तथा आत्मतत्त्व

उद्दालक वैश्वानर ' पिता का नाम अरुण। बहुत ज्ञानी था वह। ब्रह्मज्ञान की उसमे कोई कमी न थी। दूसरो के मन की भी झट समझ जाता। कोन किस उद्देश्य को लेकर उन्हे मिलन पहुँचता हे, यह उन्हे पहले ही मालूम पड जाता। मन मे छिपी बात को समझ जाता। दूसरो के हृदयो को आसानी से पढ लिया करता। आत्मा का खूब ज्ञान हे उसे, ऐसा लोग कहा करते। मगर उनका मन कहता कि वह कुछ नही जानते। या फिर यह कहता कि उतना नही जानते जितना लोग समझते है।

खैर ' लोग आते। समस्याएँ लाते। सुलझाकर लौटते। उन्ही के पास एक बार एक बडा दल पहुँचा। विद्वानो का दल। जिज्ञासुओ का मण्डल। उनमे थे—इन्द्रद्युम्न जा था भल्लवि का पुत्र, उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, साथ मे थे शर्कराक्ष के बेटे जन। हॉ, इन तीनो के साथ थे अश्वतराश्व का बेटा बुडिल भी। सभी खाते-पीते घरो से थे। धन वैभव की कमी न थी। सुविधाएँ भी बहुत थी। वेद ज्ञान खूब आता था। श्रुति के ज्ञाता थे वे सब। वेद की महिमा से खूब परिचित तथा चारो वेद कण्ठस्थ थे उन्हे।

मगर एक कमी थी। आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है, इसे नही जानते थे। यही कमी, जिज्ञासा बनकर सामने आई। इच्छा हुई कि किसी महाविद्वान् को मिलकर यह ज्ञान हासिल किया जाए। ये सभी मिल बैठे। चारो ओर ध्यान दौडाया। विचार किया। ऐसे विद्वान् को ढूँढ निकालना था जो उनकी उस जिज्ञासा को शान्त कर सके। सोचते-सोचते उन सबका ध्यान, लगभग एक साथ ही, उद्दालक की ओर गया। अरुण का पुत्र उद्दालक की ओर गया। अरुण का पुत्र उद्दालक ही उनकी इस समस्या का समाधान कर सकता है। आत्मा क्या हे इस ज्ञान का बोध करा सकता है। अत चल पडे उन्हे मिलने। मुलाकात करने, उपदेश पाने।

जैसे वे सब इकट्ठे होकर, हाथ मे हाथ डाले, वनो को पार करते उद्दालक के आश्रम के करीब पहुँचे, नमस्कार किया, उद्दालक सब जान गए। मामला समझ गए। समस्या उनकी ऑखो के सामने तेरने लगी।

इससे पूर्व कि आन वाले कुछ कहने, अपनी बात उद्दालक वैश्वानर के सामने रखते उन्होने ही कह दिया—'तो आप आत्मा के बारे मे जानना चाहते है।

ब्रह्म क्या है, यह पूछना चाहते है। इस बार मे मेरी जानकारी अधूरी हे। अपयाप्त हे। आपका मतलब हल न होगा। प्रयोजन सिद्ध न होगा।'

'तो अब क्या करे ? सबने एक ध्वनि मे कहा।

'चिन्ता की कोइ बात नही। मे एक ऐसे विद्वान् को जानता हूँ जो आत्मा ओर ब्रह्मा के बारे मे विस्तारपूवक जानते है। हमे समझा भी सकते हे। उन्हे इसमे कोइ आपत्ति भी न हागी।'

'कोन ह वह ?'

वह हे केकय अश्वपति। वह पूण जानकारी रखते है। चले उन्ही के पास। मे भी साथ चलता हूँ।

ककय नरश अश्वपति के पास पहुँचे। उनक रहने खाने-पीने का उचित प्रबन्ध राजा द्वारा कर दिया गया। आदेश दिया कि इन विद्वानो को हर प्रकार की सुविधाएँ जुटाइ जाएँ।

राजा अश्वपति यह नही जान पाए कि वे सब वहाॅ क्यो पहुँचे हे। उनका प्रयोजन क्या हे। मन मे इतना जरूर साच लिया कि दान-दक्षिणा की इच्छा से आए हागे। जा माॅगग दे देगे।

रात बीती। सबने खूब विश्राम किया था। प्रात राजा से भेट हुइ। राजा न ही अपनी ओर से कहना शुरू कर दिया—'विद्वानो ! आपका हृदय से स्वागत हे। अभिनन्दन हे। मेरे इस राज्य मे पूण शान्ति हे। राजकता हे। चारी नही होती। कोइ कृपण भी नही रहता। कोइ नशा नही करता। कोइ किसी का अहित नही सोचता। अहित नही करता। सभी सुखी है। सन्तुष्ट ह। इश्वर-भक्त है। सभी चरित्रवान हे। काइ नारी कुलटा नही हे।

शीघ्र ही म यज्ञ करने जा रहा हूँ। इसकी तेयारियाॅ हो चुकी हे। ऋत्विक आ चुके हे। म प्रत्येक ऋत्विक को पयाप्त धन दूँगा। जितने उन्हे, एक-एक को मिलगा, उसी के समान आपको—प्रत्येक को श्रद्धापूवक दिया जाएगा। अच्छा हो, आप तब तक मेरे मेहमान रहे जब तक मै यज्ञ नही कर लेता।'

राजा अश्वपति नही जानते थे कि इन सभी विद्वानो का वहाॅ आगमन केसे हुआ हे। क्या ये धन-दोलत की इच्छा से आए है या किसी अन्य कारण से। यह उन्ह विदित नही था। उन्होने राजा को सही स्थिति बतानी चाही। बोले—'हमे जानकर प्रसन्नता हुइ ह कि आपक राज्य मे खूब शान्ति हे। सन्तोष है। सर्वत्र सम्पन्नता हे। आप जेसे विद्वान् ओर प्रजा के शुभचिन्तक राजा क राज्य म इसी की आशा भी की जाती हे।

वास्तव मे हमे कोइ धन नही चाहिए। दान पाने की इच्छा नही हे। चूँकि आप वेश्वानर आत्मा के प्रति विस्तृत ज्ञान रखते हे, उसी को जानना चाहते है।

अच्छा हो, आप हमारी झोली इस ज्ञान से भर दे।

'ठीक हे। जो आपकी इच्छा। आज का दिन मुझे दे दे। मै भी इस पर जरा विचार मनन कर लूँ। कल मिलते है। मै आपकी इच्छानुसार आपकी जिज्ञासा शान्त करने का पूरा प्रयत्न करूँगा।'

वे उठे और नगर घूमने के विचार से राजा से विदा हुए।

अगली प्रात । पूरी इच्छा व श्रद्धा को मन मे सँजोए ये विद्वान् राजा से मिले। यह क्षत्रिय राजा अश्वणति उनसे बडी आत्मीयता के साथ मिले। वह इनका उपनयन नही कर सकता था। क्षत्रिय जो था। अत बिना उपनयन किए राजा ने अपने प्रवचन आरम्भ किए। अपनी इस ज्ञान गोष्ठी के आरम्भ मे राजा ने अपनी ओर से प्राचीनशाल को सम्बोधित करते हुए पूछा—'जरा बताओ तो तुर्म किस आत्मा की उपासना करते हो ?'

'मै द्यूलोक की उपासना करता हूँ राजन्।'

'तो सुनो। तुम जिस आत्मा की उपासना करते हो, उसका नाम 'सुतेजा वैश्वानर' है। इसी की कृपा से तुम्हारे कुल मे किसा वस्तु की कमी नही है। सुत, प्रसुत और आसुत सब है। तुम्हे खाने-पीने, मिलने-जुलने, बैठने, सवाद करने, किसी प्रकार की कमी नही अखरती। अभाव तो है ही नही।

तभी तो तुम्हारे कुल मे ब्रह्मतेज विद्यमान है। तुम्हे यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि वेश्वानर आत्मा का मस्तक है। अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ जो तुम यहॉ आ पहुँचे। बच गए। वरना तुम्हारा ता सिर कटकर कही दूर जा गिरता। बच जाने की बधाई।'

यह सुनकर वह स्तब्ध रह गया।

अब राजा अश्वपति ने अपनी नजर घुमाई। सबको देखा। उनकी निगाहे सत्ययज्ञ पौलुषि पर जा टिकी। गौर से देखकर पूछ लिया—'अब तुम बताओ। तुम किस आत्मा की उपासना किया करते हो।'

'मै, राजन् ' मै तो आदित्य की उपासना करता हूँ।'

'ठीक है। अब तुम अपनी स्थिति समझो। आदित्य तो विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है। इसकी उपासना तुम्हारे लिए उचित है। इसके कारण तुम्हारे कुल मे साधनो की कमी नही। खाद्य पदार्थो का कोई अभाव नही। धन-धान्य खूब है। तुम्हारे प्रियजन तथा परिजन सभी सकुशल बने हुए है। तुम्हे भी बहुत आत्मीय है। तुम्हे किसी प्रकार की कोई चिन्ता, कोई दु ख नही है। और जो असली बात है वह यह है कि यह आत्मा का नेत्ररूप है। हॉ, यदि तुम यहॉ न पहुँचते तो बहुत बुरा होता। तुम अपनी दृष्टि खो बैठते। नेत्रहीन हो जाते। अन्धा होने से बच गए।'

इसे सुनकर सत्ययज्ञ पौलुषि चकित रह गया। अब राजा ने उसे ढेरो दान

दिया। दासियाँ दी। मालामाल कर दिया। हार ओर खच्चरियो से जुता ग्थ तथा अनक दासियाँ दी। अब वह सोचने लगा कि राजा जो कुछ कह रह हे अवश्य सत्य हागा हा।

अब बारी थी भाल्लवय इन्द्रद्युम्न की। राजा ने अपनी दृष्टि उस पर रोकी। प्रश्न-मुद्रा बनाकर पूछा—'अब तुम बताआ कि तुम किस आत्मा की उपासना करते हा ?

'हे केकय नरश ! मे तो वायु की उपामना करता हूँ।

'समझ गया। यह पृथग्वत्मा वैश्वानर की उपामना हे। इमी कारण अनेक लाभ, अनेक उपहार पाते रहे हा। अलग-अलग दिशाओ मे जाना भी सम्भव हो सका। तुम्ह न धन-धान्य की कमी थी। न प्रियजनो की जुदाइ का अवसर आया। खुशियो की कभी कमी नही हुइ। तुम्हार कुल मे जो ब्रह्मतेज विद्यमान हे यह भी इस उपासना के कारण ही हे। वायु की उपासना से हीं तुम्हे अनेकानेक सुख प्राप्त हाते रहे हे।

यह आत्मा का प्राण है। हॉ, डर की जो बात थी, वह यह थी कि यदि आज यहॉ न पहुँचते ता तुम्हारे प्राण ही निकल जाते। यहॉ आने के कारण बच गए। यही आज तुम्हारी उपलब्धि हे।'

वह ऑखे फाड-फाडकर सोचता रहा कि यह सब केसे हुआ। नही आते तो क्या होता।

तभी अश्वपति ने जन से पूछ लिया—मुझे बताएँ कि तुम किस आत्मा की उपासना किया करते हो ? इसे जानकर ही मे अगली बात कह पाऊँगा।'

'राजन् ! सच कहता हू। मे तो आकाश की उपासना किया करता हूँ। यही अपने पूवजो से सीखा-समझा हे।'

अच्छा हो, आप हमारी झोली इस ज्ञान से भर दे।'

'ठीक हे। जो आपकी इच्छा। आज का दिन मुझे दे दे। मै भी इस पर जरा विचार मनन कर लूँ। कल मिलते है। मे आपकी इच्छानुसार, आपकी जिज्ञासा शान्त करने का पूरा प्रयत्न करूँगा।'

वे उठे ओर नगर घूमने के विचार से राजा से विदा हुए।

अगली प्रात । पूरी इच्छा व श्रद्धा को मन मे सँजोए ये विद्वान् राजा से मिले। यह क्षत्रिय राजा अश्वणति उनसे बडी आत्मीयता के साथ मिले। वह इनका उपनयन नही कर सकता था। क्षत्रिय जो था। अत बिना उपनयन किए राजा ने अपने प्रवचन आरम्भ किए। अपनी इस ज्ञान गोष्ठी के आरम्भ मे राजा ने अपनी ओर से प्राचीनशाल को सम्बोधित करते हुए पूछा—'जग बताओ तो तुर्म किस आत्मा की उपासना करते हो ?'

'मै द्यूलोक की उपासना करता हूँ राजन्।'

'तो सुनो। तुम जिस आत्मा की उपासना करते हो, उसका नाम 'सुतेजा वैश्वानर' है। इसी की कृपा से तुम्हारे कुल मे किसी वस्तु की कमी नही है। सुत, प्रसुत और आसुत, सब हे। तुम्हे खाने-पीने, मिलने-जुलने, बैठने, सवाद करने, किसी प्रकार की कमी नही अखरती। अभाव तो है ही नही।

तभी तो तुम्हारे कुल मे ब्रह्मतेज विद्यमान है। तुम्हे यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि वैश्वानर आत्मा का मस्तक है। अच्छा हुआ बहुत अच्छा हुआ जो तुम यहॉ आ पहुँचे। बच गए। वरना तुम्हारा ता सिर कटकर कही दूर जा गिरता। बच जाने की बधाई।'

यह सुनकर वह स्तब्ध रह गया।

अब राजा अश्वपति ने अपनी नजर घुमाई। सबको देखा। उनकी निगाहे सत्ययज्ञ पौलुषि पर जा टिकी। गौर से देखकर पूछ लिया—'अब तुम बताओ। तुम किस आत्मा की उपासना किया करते हो।'

'मै, राजन् ' मै तो आदित्य की उपासना करता हूँ।'

'ठीक है। अब तुम अपनी स्थिति समझो। आदित्य तो विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है। इसकी उपासना तुम्हारे लिए उचित है। इसके कारण तुम्हारे कुल मे साधनो की कमी नही। खाद्य पदार्थो का कोई अभाव नही। धन-धान्य खूब है। तुम्हारे प्रियजन तथा परिजन सभी सकुशल बने हुए है। तुम्हे भी बहुत आत्मीय है। तुम्हे किसी प्रकार की कोई चिन्ता, कोई दु ख नही है। ओर जो असली बात है वह यह है कि यह आत्मा का नेत्ररूप है। हॉ, यदि तुम यहॉ न पहुँचते तो बहुत बुरा होता। तुम अपनी दृष्टि खो बैठते। नेत्रहीन हो जाते। अन्धा होने से बच गए।'

इसे सुनकर सत्ययज्ञ पौलुषि चकित रह गया। अब राजा ने उसे ढेरो दान

दिया। दासियाँ दी। मालामाल कर दिया। हार आर खच्चरिया से जुता ग्थ तथा अनेक दासियाँ दी। अब वह सोचने लगा कि राजा जो कुछ कह रहे हे अवश्य सन्य होगा ही।

अब बारी थी भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न की। राजा ने अपनी दृष्टि उस पर रोकी। प्रश्न-मुद्रा बनाकर पूछा—'अब तुम बताआ कि तुम किस आत्मा की उपासना करने हा ?'

'हे केकय नरश ! मे तो वायु की उपासना करता हूँ।'

'समझ गया। यह पृथग्वत्मा वेश्वानर की उपामना है। इसी कारण अनेक लाभ अनेक उपहार पाते रहे हो। अलग-अलग दिशाओ मे जाना भी सम्भव हो सका। तुम्ह न धन-धान्य की कमी थी। न प्रियजनो की जुदाइ का अवसर आया। खुशिया की कभी कमी नही हुई। तुम्हारे कुल मे जो ब्रह्मतेज विद्यमान है यह भी इस उपासना क कारण ही है। वायु की उपासना से ही तुम्हे अनेकानेक सुख प्राप्त हाते रहे ह।

यह आत्मा का प्राण हे। हॉ डर की जो बात थी, वह यह थी कि यदि आज यहॉ न पहुॅचते तो तुम्हारे प्राण ही निकल जाते। यहॉ आने के कारण बच गए। यही आज तुम्हारी उपलब्धि हे।'

वह ऑखे फाड-फाडकर सोचता रहा कि यह सब केसे हुआ। नही आते तो क्या होता।

तभी अश्वपति ने जन से पूछ लिया—मुझ बताएँ कि तुम किस आत्मा की उपासना किया करते हो ? इसे जानकर ही मै अगली बात कह पाऊँगा।'

'राजन् ! सच कहता हूँ। मै तो आकाश की उपासना किया करता हूँ। यही अपने पूर्वजो से सीखा-समझा ह।'

'हूँ। यह बहुल सज्ञक वैश्वानर आत्मा है। शायद तुम्हे इसका पता न था। इसी के प्रभाव से तुम्हारे परिवार मे धन की, खाद्य पदार्थो की, किसी भी वस्तु की कमी नही। परिवारजन भी ठीक हे। प्रजा की कभी कमी नही लगी होगी।

यह आत्मा का सन्देह भाग हे। इसे ही मध्य भाग कहा जाता है। ठीक किया जो यहॉ आ गए, अन्यथा तुम्हारा मध्यभाग, तुम्हारे शरीर का मध्यभाग न रहता। टूट जाता। क्षतिग्रस्त हो जाता। यहॉ आने और बच पाने की बधाई।'

अश्वपति राजा ने इधर-उधर नजर घुमाई। कुछ सोचकर बुडिल से वही प्रश्न किया।

'मे, नरेश महोदय, जल की उपासना करता हूँ। हमारे परिवार मे यही परम्परा हे।

'शायद तुमने कभी जानने का प्रयत्न ही नही किया। यह 'रयि' वैश्वानर

आत्मा है भले आदमी। तुम पुष्टिमान हो। स्वस्थ हो। धनवान हो। सभी कुछ इसी आत्मा के कारण पाते हो। और भी परिवार ठीक है। सब कुछ मिला हुआ है तुम्हे। कभी किसी का वियोग भी सहन नही करना पडा। जो तुम्हारे कुल मे ब्रह्मतेज बना हुआ हे वह इसी आत्मा के कारण, इसी की उपासना के कारण है।

यह आत्मा का वस्ति भाग मानते है। हॉ, यह पक्की बात हे कि इस समय तुम यहॉ न पहुॅचे होते तो तुम्हारे शरीर का वस्ति भाग जरूर फट जाता। भाग्यशाली हो जो यहॉ आ पहुॅचे और बच भी गए।'

वह तो चिन्तित हो उठा। सहसा ध्यान आया कि उसे तो अब खुश होना चाहिए। इसी से उसके चेहरे पर प्रसन्नता और ईश्वर के प्रति कृतज्ञता के भाव उमड आए।

राजा अब तक सबको सम्बोधित कर चुके थे, केवल उद्दालक को छोडकर। उनसे भी राजा ने पूर्ववत् प्रश्न किया।

'मे, अरुण-पुत्र उद्दालक पृथ्वी की उपासना करता आया हूॅ। यही हमारे परिवार का नियम हे।

'आरुणि ' यह प्रतिष्ठान वैश्वानर आत्मा है। प्रजावृद्धि और पशुवृद्धि का यही कारण है। घर मे सर्वसुख है। धन-धान्य की कमी नही। कोई अभाव नही। परिवार सुरक्षित। ब्रह्मतेज बना हुआ है। इसी उपासना के कारण ही।

यह आत्मा का चरण है उद्दालक। हॉ, किसी कारण तुम यहॉ न पहुॅच सकते तो आज तुम्हारे चरण ही काम न करते। तुम चल-फिर ही न सकते। तुम्हारा यहॉ आ जाना तुम्हारे हित मे रहा।'

अपनी-अपनी अवस्था सुनकर सब-के-सब चकित थे। बार-बार भगवान् का धन्यवाद कर रहे थे, जो वे राज अश्वपति के पास आ पहुॅचे। न पहुॅचे होते तो अश्व खत्म हो जाते।

राजा ने उनके चेहरे पर आते-जाते भावो को समझकर कहना शुरू किया—'तुम वैश्वानर आत्मा को अपना हिस्सा नही मानते। इसे शरीर से अपने से भिन्न मानकर खूब खाते-पीते हो। यदि तुम यह मानकर उसकी उपासना करो कि यह तुम्हारे शरीर का तुम्हारा ही हिस्सा हे। तुम्हारे से भिन्न नही तो समस्त लोको मे, समस्त प्राणियो समस्त आत्माओ मे अन्न भक्षण करोगे। मेरी बात पर गौर करो। नभी समझ पाओगे।

तुम लोग अपनी भेददृष्टि के कारण उस रूप को नही देख पा रहे, जिसके अगो की उपासना करते आए हो। ध्यान से सुनो—इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुतेजा या द्युलोक है। चक्षु आदित्य है। प्राण पृथग्वर्त्मा अथवा वायु है। शरीर का मध्यभाग आकाश है। वस्ति ही जल है।

और पृथ्वी ही दोनो चरण है। वक्षस्थल वेदी है। लोमदभ है। हृदय गार्हस्पत्य अग्नि है। मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है। मुख आहवनीय हे।

इसीलिए कहता हूँ कि तुम अन्न को अन्न मानकर नही इस भाव से खाना चाहिए जैसे इसे शरीर मे नही डाल रहे, बल्कि यज्ञ मे आहुति डाल रहे हो।

सदा भोजन का सेवन करते समय पहली आहुति प्राणाय स्वाहा कहकर देनी चाहिए। इससे प्राण तृप्त होता है। याद रहे, प्राण के तृप्त होने पर नेत्र, सूय, द्युलोक, आदित्य प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज सभी के द्वारा वह तृप्त होता है।'

राजा अश्वपति के पास आत्मा तथा ब्रह्म का जानने आए थे वे लोग। क्षत्रिय राजा ने उन्हे आगे कहा—'तुम्हे व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा की आहुतियाँ भी डालनी चाहिए।' इन सबक बारे मे राजा ने विस्तृत जानकारी दी। इनसे क्या तृप्त होता ह, यह भी बताया।

'याद रखना इस तरह किया हुआ हवन या इस प्रकार ग्रहण किया हुआ अन्न तो पूर्ण सन्तोष देता ही है। ऐसा सन्तोष अन्यथा नही पा सकते। यदि तुम वैश्वानर विद्या को बिना जाने हवन करोगे तो कोई लाभ न होगा। यह तो अग्नि को एक ओर रखकर बची राख म आहुति डालने वाली बात होगी।

भाइयो ! याद रखना वैश्वानर विद्या को जानकर हवन करने वाला अग्निहोत्र करता है, इससे वह जो कुछ भी खाता है, समस्त लोक, समस्त भूत ओर सभी आत्माओ मे हवन हो जाता है।

इस बताई विधि से जो चलता हे, उसके समस्त पाप जल जाते हे। इस प्रकार विधि अनुसार चलने वाला व्यक्ति यदि चाण्डाल को उच्छिष्ट भी दे तो वह अन्न उस वैश्वानर आत्मा मे ही भस्म होगा। इस बात का तुम्हे ज्ञान होना चाहिए। एसा भोजन पाने वाले का भोजन केवल उसी के लिए नही होता। यही उत्तम बात हे।' केकय नरेश अश्वपति ने उनके पास पहुँचे सभी विद्वानो का ज्ञान वर्धन किया तथा उनके मन मे बैठी सभी शकाओ का निवारण भी किया।

उपनिषद् की इस कथा मे ब्राह्मण विद्वान् लोगो ने क्षत्रिय राजा की शरण मे जाकर वे ज्ञान की बाते प्राप्त की, जो अन्यत्र उन्हे सुलभ न थी।

श्वेतकेतु के ज्ञान मे वृद्धि

पुत्र योग्य हो तो पिता निश्चिन्त तथा गौरवान्वित रहता है। यदि सन्तान अयोग्य हो तो पिता की चिन्ता बढ जाती है। वह परेशान हो उठते है। उसके सुधार के नाना प्रकार के उपाय करते है। जिस पिता ने बेटे के बालकपन से ही, बिगडते बच्चे की लगाम खीचकर सुधार किया, उसे पश्चात्ताप नही करना पडता। और यदि बालक की आदते पक्की हो गई तो लाख प्रयत्न करना भी व्यर्थ।

उपनिषद् की इस कथा मे आरुणि पिता परेशान थे। अपने पुत्र श्वेतकेतु उद्दालक की उन्हे चिन्ता होने लगी। उसकी प्रकृति उद्दण्ड थी। वह दिनोदिन बिगडता जा रहा था। अच्छी बातो से दूर रहकर, बुरी बाते सीख रहा था। पिता को बहुत बुरा लगा। थोडा बहुत समझाने पर भी वह न सॅभला। अब पिता को कठोर निर्णय लेना था। अग्रेजो का कहना है कि यदि आप घडी को एक ओर रख दोगे तो बालक अवश्य बिगडेगा ही। यह दर्शन उनका अपना नही। उन्होने भी भारतीय पुस्तके पढकर ऐसा निचोड निकाला। फिर ऐसा कहा है।

आरुणि ने बच्चे को बुलाया। उस समय उसकी आयु मात्र बारह वर्ष थी। इसी आयु मे पिता ने आदेश दिया—'हमारे परिवार मे बिना अध्ययन कोई पण्डित नही बना। कोई ब्राह्मण नही कहलाया। तुम्हे भी कठिन अध्ययन की आवश्यकता है।'

'करता तो हूँ अध्ययन। आज प्रात भी कुछ देर पढता रहा। फिर उठा खेलने के लिए।'

'नही। यो नही चलेगा। कठोर अध्ययन की आवश्यकता है। तुम्हे अभी से ब्रह्मचर्यवास मे जाना होगा। बारह वर्षो तक इसे निभाना है।'

थोडा ना-नुकर करने के पश्चात् वह मान गया। पिता आरुणि ने उसके उपनयन का आयोजन किया। बडे-बडे विद्वान्, बडे-बडे पण्डित आमन्त्रित किए। उपनयन के पश्चात् उसे एक विद्वान् गुरु को सौप दिया। वेदो का सूक्ष्म अध्ययन करने लगा। उसने इन ध।र्मिक ग्रन्थो मे निहित बारीकियो को समझा।

बारह वर्षो के अध्ययन के पश्चात् जब श्वेतकेतु उद्दालक घर को लौटा तो पिता ने उसका अभिनन्दन किया। स्वागत किया। हर्षित हुआ।

मगर नही, पिता की यह प्रसन्नता, यह खुशी सीमित समय के लिए रही। उन्हे शीघ्र पता चल गया कि बालक को जितना सीखना चाहिए था, उतना नही सीख पाया। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसे अध्ययन के कारण ब्राह्मण हो जाना चाहिए था। मगर नही हो पाया। बल्कि वह दम्भी हो गया था। उसे गरूर ने घेर लिया था। वह अपने आपको अन्य सबसे बडा विद्वान् मानने लगा था। उसका कहना था कि वह बहुत कुछ जानता है। उससे अधिक बुद्धिमान ओर कोइ है ही नही। पिता को यह अच्छा न लगा। अखरने लगा।

पिता ने आवाज दी—'श्वेतकेतु उद्दालक!'

'जी पिताजी।'

'जरा इधर तो आओ।'

'आया पिताजी।' कहते हुए वह करीब आ गया। इस समय उसने छाती चोडी कर रखी थी। सिर ऊँचा था। ऑखे सामने। पिता ने यह हाव-भाव देखकर कहा—'जब से तुम ब्रह्मचर्यवास से लोटे हो, तुम्हारा गरूर बढता जा रहा हे।'

'गरूर नही पिताजी। यह वास्तविकता है। मेने सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन किया हे। मै अब सब कुछ जानता हूँ। अन्य सबसे कही अधिक। मै समझदार हो गया हूँ। मे पण्डित हूँ। मैने वेदो का अध्ययन किया हे। जिसके पास उच्च विद्या हे, वह भला झुक-झुककर क्यो रहेगा। आप इसे गरूर मानते है, जबकि मै इसे अपना गौरव मानता हूँ।'

'मान लिया कि तुम बहुत पढ-लिख गए हो। बहुत उच्चकोटि के विद्वान् बनकर आए हो। सबसे श्रेष्ठ हो गए हो। इतना पढ जाना तुम्हे गौरव लगता है। चलो। कोई बात नही। जरा मुझे इतना तो बताओ कि ऐसा क्या है जिससे अश्रुत, श्रुत हो जाता है। अमत, मत हो जाता है। अविज्ञात, विज्ञात हो जाता है। बताओ तो?'

पश्न सुनते ही श्वेतकेतु उद्दालक की सिट्टी-पिट्टी बन्द हो गई। उसने जो कुछ पढा था, उसमे तो यह आता ही न था। ऐसा तो उसे किसी ने बताया ही न था। फिर कैसी श्रेष्ठता? कैसी विद्या? उसके तो जैसे पसीने ही छूटने लगे।

उसे इस विचलित-सी अवस्था मे पाकर पिता ने ही कहा—'जिस प्रकार मिट्टी को जान लेने के बाद मिट्टी से बनी वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है। ऐसा समझना कठिन नही रहता कि मात्र कहने के लिए ये अलग-अलग हे। मगर इनमे असली चीज तो मिट्टी ही है। इसी प्रकार तॉबे से बनी सभी चीजो मे असली तो तॉबा ही है। भिन्न नाम रख देने से तॉबा कही नही जाता। उनमे ही रहता है। लोहे की भी यही बात है। रूप और नाम के भेद के कारण असलियत समाप्त नही हो जाती।

इसी प्रकार उसे जान लेने के बाद विश्व मे जो कुछ भी है, सबका पता चल

जाता है। क्या तुम्हारे गुरु ने तुम्हे उसका ज्ञान करवाया ?

'नही तो। शायद मेरे गुरु को भी यह मालूम न होगा। अन्यथा वह मुझे अवश्य करवा देते। उन्हे जो कुछ आता था, जितना आता था, सब बता दिया। अपने उपदेशो मे अपना पूरा ज्ञान उँडेल दिया। मगर यह बात तो कही आइ ही नही।'

'ठीक है। अब मत कहना कि तुम बहुत बडे विद्वान् हो। तुम्हे अपनी शिक्षा-दीक्षा और उपलब्धि पर गर्व है। मै ही बताऊँगा यह सब तुम्हे।'

' कहते है शुरू-शुरू मे, बहुत आरम्भ मे केवल सत् ही था। केवल मात्र सत्। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नही। उसका होना न होना बराबर। न होने जैसे ही। तभी तो कुछ विद्वान् मानते है कि अति आरम्भ मे एकमात्र असत् ही था। और बाद मे उस असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई। असत् पहले, सत् बाद मे।

'और हॉ वेद मे भी एक पूरा सूक्त इस बारे मे है। उसमे असत् से सृष्टि के आविर्भाव की बात पढने को मिलती है। परन्तु क्या असत् से सत् का उत्पन्न होना जॅचता है ? नही जॅचता न।

'इसीलिए तुम्हे यह समझ लेना चाहिए कि वह जो आरम्भ मे एक और अद्वितीय था, जिस जैसा और कुछ न था, वह केवल सत् ही था। मानना पडेगा कि सत् से ही सत् की उत्पत्ति सम्भव है। असत् से सत् की नही।'

आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु उद्दालक को आगे कहा—'प्रथम सत् ने विचार किया कि वह एक अकेला न रहे। बहुसख्या मे हो जाए। बहुरूप धारण कर ले। ऐसा करना उसके वश मे था। तब उसने अपने अन्दर से ही तेज पैदा किया। अब तेज अकेला क्यो रहे ? उसने भी अनेक रूप धारण कर लिए। इन रूपो मे से एक जल था। तेज ने ही जल को उत्पन्न किया।

'हो सकता है तुम्हे मेरी बात न जॅचे। मगर यही सच्चाई है। यदि शरीर को गर्मी लगे, ताप लगे तो पसीना आने लगता है। हो गई न जल की उत्पत्ति। आरम्भ मे तेज से जल की उत्पत्ति भी इसी तरह हुई होगी।

'जल क्यो चुप बेठने वाला था। अपने पूर्वजो की तरह वह भी अनेक होने तथा अनेक रूपो मे प्रकट होना चाहता था। इसीलिए उसने अपने भीतर से अन्न की रचना कर दी। तभी तो जल की वर्षा होने पर अन्न पेदा होता है।'

श्वेतकेतु ने पूछा—'बस इतना ही ?'

'अरे नही। इतना नही। जब अन्न पेदा हो गया तो अन्न को खाने वाला भी तो कोई चाहिए था। तभी प्राणियो की उत्पत्ति हुई।

'इसे ध्यान से समझो। बेटा प्राणियो के जन्म के तीन बीज होते है और

इनके तीन भेद। ये भेद है—अण्डज, जीवज और उद्‌भिज।

इसी कारण उस सत् ने सोचा—वह इन तीनो मे प्रवेश करेगा। नाम और रूप को व्यक्त करेगा। इस वास्ते उसने तेज, जल और अन्न मे से एक-एक को त्रिवृत कर दिया। अब अग्नि का जो रोहित या लाल रूप है, वह तेज रूप हे। जो शुक्ल रूप है वह जल रूप हे। जो कृष्ण रूप है वह अन्न का रूप है। इस प्रकार इन नए रूपो मे व्यक्त होने के बाद अग्नि का अग्नित्व या उसकी दाहकता उससे निकल गई। कहने को तो ये अग्नि के विकार मात्र है। मगर सच्चाई यह हैं कि य केवल तीन रूप हे।

'आदित्य चन्द्रमा और विद्युत पर भी यही बात सही बेठती है। उसके भी तीन अलग-अलग रूप है। वर्ण है। लाल, श्वेत और कृष्ण यानि तज, जल ओर अन्न के रूप। इस त्रिवृतत्व को जान लेने से हमारे पूर्वजो ने बताया था कि हमारे कुल मे कोई बात अश्रुत नही है। अज्ञात नही रहती। अब तुम भी इस जान गए हो।

'मगर इतना ही नही। मै तुम्हे यह भी बता दूँ कि ये तीनो देवता—तेज, जल और अन्न—पुरुष को प्राप्त होकर त्रिवृत-त्रिवृत हो जाया करत है। यह पक्की बात मानो।

जो अन्न हम खाते है वह नीन प्रकार का हा जाता है। उसका स्थूल भाग मल हो जाता है। मध्य भाग मास और चर्बी बन जाता है। और जो सूक्ष्म भाग हे वह मन हो जाता है।

'जल जो हम पी लेते है, वह भी तीन प्रकार का हो जाता हे। इसका स्थूल भाग मूत्र मध्य भाग खून और सूक्ष्म भाग प्राण हो जाया करता है। खाने के बाद घी भी तीन प्रकार का हो जाता है। इसका स्थूल हिस्सा हड्डी बन जाना है। मध्य भाग मज्जा बन जाता है। जो सूक्ष्म भाग बचता है वही वाणी बन जाता है।

'तभी तो कहते है कि मन सदा अन्न पर निर्भर करता ह। प्राण, जल अनुसार। वाणी तेजमयी होती है।'

जो पिता आरुणि ने समझाया, श्वेतकेतु को समझने मे कोई कठिनाई नही हुई। मगर वह इसे ओर लोगो के लिए, जनसाधारण के लिए, ओर स्पष्ट शब्दो मे जानना चाहता था। जो भी सुने, तुरन्त समझ जाए, इस विचार से उसने अपने पिता से प्रश्न किया—'थोडा और विस्तार से बता दे तो बहुत अच्छा रहेगा। बताऍगे न ?'

'क्यो नही। जहॉ कठिनाई हो, पूछ सकते है। फिर भी बता दूँगा। अभी इसे कुछ यो समझ लो। दही को मथकर देखे। इसका सूक्ष्म भाग नवनीत रूप मे ऊपर आ जाता है। ठीक उसी तरह भोजन खाने के बाद, इसका सूक्ष्म भाग ऊपर

आ जाता है। वही तो मन है।

यदि किसी को भ्रष्ट, बेईमानी से कमाया अन्न खाने को मिलेगा तो उसका मन भी अच्छा नही होगा। अशुद्ध होगा। बुरा सोचने वाला होगा। क्षय और उपद्रव तो होगे ही। यदि पता चल भी जाए, तो भी ध्यान न दोगे। अन्न अच्छा नही, मन अच्छा नही, सोच भी अच्छी नही। यही मानना चाहिए।

जो जल हम पी लेते हे इसका सूक्ष्म भाग ऊपर आकर प्राण बनता हे। तभी तो जल ही जीवन है जल ही प्राण हे ऐसा कहते है। बादल का दूसरा नाम पर्जन्य है। घी जो हम खा चुके होते है, उसका सूक्ष्म भाग ऊपर आकर वाणी का रूप प्राप्त कर लेता हे। वाणी के बल पर ही आशीर्वाद और शाप दिए जाते है। वाणी से ही तो किसी भी बात को बताया समझाया जाता है। हो सकता है अब तो तुम मेरी पूरी बात जान-समझ गए होगे।'

'आपका कहना तो ठीक है। मगर मै चाहता हूँ कि इसे कुछ और स्पष्ट कर दे।'

पिता थोडी सोच मे पड गए। फिर लगे समझाने— पुरुष सोलह कलाओ वाला माना जाता हे। इसलिए तुझे समझाता हूँ कि तूने केवल पन्द्रह दिनो तक कोई अन्न नही खाना। हॉ, केवल जल पर निर्भर रहना। इसे ही पीते रहना। फिर अवश्य कुछ जान पाओगे।'

'पिताजी ' मै जीवित कैसे रहूँगा ?'

'जल से। मात्र जल पीने से। तुझे पन्द्रह दिनो तक कुछ नही होता। हॉ, सोलह दिनो तक अन्न न खाने से तुम मृत्यु को प्राप्त हो सकते हो। इसीलिए तुम्हे पन्द्रह दिनो तक अन्न न खाने की बात कही है। जैसे ही पन्द्रह दिन बीत जाएँ, मेरे पास चले आना। जो मैने कहा, इसे पूरा करो। डरो मत।'

उसने पिता की बात मान ली। ठीक वैसे ही उपवास किया जैसे पिता ने आदेश दिया था। उसे पास आते देखकर आरुणि ने कहा—'बेटा। अब तू ऋक्, साम और यजुस् का पाठ कर। सच्चे मन से। लगन से।'

मगर कैसे करता। उसे तो जैसे सब कुछ भूल चुका था। कुछ भी याद नही आ रहा था। कह दिया—'पिताजी ' मै विवश हूँ।'

उपनिषद् की इस कथा के अनुसार, उसका उत्तर सुनकर पिता आरुणि ने कहा—'बेटा ' जानते हो अपनी इस अवस्था को क्या ? जैसे किसी अगारे से निकली चिनगारी कुछ जला नही सकती, तुम भी वैसी ही स्थिति मे हो। तुम कुछ याद नही कर सकते। ठीक है। जाओ। भोजन करो। पेट भर जाने के पश्चात् मेरे पास आना।'

श्वेतकेतु ने आज्ञा का पालन किया। खाने की इजाजत मिल गई थी। इसीलिए

देरी न की उसने। पिता ने अब उसे वही तीनो पाठ करने को कहा। ऋक्‌ साम और यजुस्‌ का पाठ करना था उसे। वह तुरन्त तेयार हो गया। पाठ करना आसान लगा उसे। मगर इसी बात ने उसे चकित भी कर दिया। कुछ देर पूर्व, भूखे पेट, वह ऐसा न कर सका, जबकि अब आसानी से कर सकता था। क्यो ?

पिता ने समझाया—'बेटा ! जिस प्रकार बुझती हुई अग्नि मे न दाह होता है न ही प्रकाश। ये दोनो क्षीण हो जाते है, मगर यदि उसमे नया ईधन डाल द, तो अग्नि तेज हो जाती है। जल उठती है। अब उसमे दाह भी हागी। प्रकाश भी होगा। सब कुछ पूर्ववत्‌।

'चूँकि पन्द्रह दिनो तक तुमने भोजन नही किया था। तुम्हारी सोलह कलाओ मे स केवल एक 'स्मृति' बची थी। जब इस स्मृति को भोजन मिल गया आहार प्राप्त हो गया, यह काम करने मे सक्षम हो गई। तीव्र हो गई। इस अवस्था मे पूछे गए सूक्तो को, वेदो को याद करना आसान हो गया। भोजन करते ही तू ऐसा कर सका।

'अब तो तुम्हे स्पष्ट हो ही गया होगा कि मन अन्नमय हे। प्राण जलमय है। वाणी तेजोमय है।'

'ठीक कहा आपने। अब मै पूरे उपदेश को आद्योपान्त समझ गया हूॅ। जो बात मै बारह वर्षो तक गुरु के पास भी न समझ सका, वह भी समझ चुका हूॅ।' श्वेतकेतु ने पिता को आश्वस्त किया।

अब वह जान चुका था कि किस कारण, किसके द्वारा अश्रुत, श्रुत हो जाता है। अमत, मत हो जाता। अविज्ञात, विज्ञात हो जाता है। यही तो पिता समझाना चाहते थे।

श्वेतकेतु की अशिष्टता

उपनिषद् की यह कथा जिस समय की है, उस समय पाचाल मे प्रवाहण जेवलि का राज्य था। वह एक शक्तिशाली तथा विद्वान् राजा था।

एक दिन की बात है ।

राजा अपने महल के ऑगन मे लेटे थे। उनके दास उनकी सेवा मे लगे थे। कोई राजा का कान खुजला रहा था कोई चम्पी कर रहा था तो कोई अगमर्दन मे लगा था।

ठीक इस समय वहॉ पर श्वेतकेतु आरुणेय पहॅुच गया। जब उसने राजा को आराम से लेटे हुए, मालिश करवाते देखा तो वह एक किनारे खडा हो गया। खडा-खडा जब बोर होने लगा तो उसने भी देखा-देखी अपना कान खुजलाना शुरू कर दिया। या फिर अनायास ही उसका हाथ अपने कान पर चला गया। पहले उँगली से, फिर तिनक से वह कान खुजलाने लगा। इसमे उसे बडा मजा आ रहा था।

उसकी तन्द्रा तब टूटी जब राजा ने ही पूछ लिया—'कौन हो ? यहॉ क्या खडे हो ?'

श्वेतकेतु ने उत्तर जरूर दिया। हॉ, इस उत्तर देने मे उसने तरीका-सलीका कुछ नही बरता। श्वेतकेतु जरा रूखा-सा होकर बोला। उसकी इस अशिष्टता के हल्के से पुट पर राजा नाराज हो गए। प्रवाहण जैवलि बोले—'बडे गॅवार लगते हो। मॉ-बाप ने कुछ सिखाया नही तुम्हे ?'

'उन्होने तो बहुत कुछ समझाया-सिखाया है। देखने मे मै जितना नासमझ लग रहा हॅू—वास्तव मे उतना हॅू नही।'

यह सुनकर राजा गम्भीर हो गए। उनका चेहरा भी तिलमिलाने लगा। थोडी कठोर भाषा मे पूछ लिया—'अच्छा मुझे बताओ कि मृत्यु के पश्चात् लोग किन मार्गो से प्रस्थान करते है ?'

'मुझे मालूम नही।' यह श्वेतकेतु का उत्तर था।

'अच्छा बताओ किस युक्ति से लोग इस ससार मे आते हे भला ?'

'मुझे इसका ज्ञान भी नही है।'

'ठीक है। तीसरा प्रश्न पूछता हूँ। मरने के पश्चात् लोग जहॉ जाते है, वह भरता क्यो नही ?'

'मे तो इसे भी नही जानता।'

'लो, मेरा अगला और चौथा प्रश्न। बताओ, कितनी बार हवि देने के बाद जल, ब्रह्म का बोधक होकर, ऊपर उठने और बोलने लगता हे ?'

'मुझे खेद से कहना पडेगा कि मे इस प्रश्न के उत्तर को भी नही जानता।'

'क्या बता सकोगे कि किस करनी के कारण मनुष्य पितृयान को जाता है ? यह तो तुम्हे मालूम ही होगा।'

राजा प्रवाहण के प्रश्नो का उत्तर न देने से श्वेतकेतु का अब मनोबल भी गिरने लगा। उसने अपने दिमाग पर जोर डाला। कुछ कहने की कोशिश म था वह। उसे वेद की एक ऋचा ध्यान मे आ गई। इसे मन-ही-मन दोहराने लगा। पक्ति थी—द्वे सुती अशृणव पितृणा अह देवाना उत मर्त्यानाम्। इसको दो बार मन ही-मन दोहरा दिया। मगर इसमे भी राजा के प्रश्न का उत्तर न था। इसमे यह जिक्र नही था जिसके बल पर मनुष्य इन यानो को जाता है। उसे कहना पडा कि वह इस प्रश्न का उत्तर भी नही दे सकता। ऐसा कहते हुए उसकी जबान कॉप रही थी। वह लज्जा अनुभव कर रहा था।

उसकी इस स्थिति को पाचालराज प्रवाहण जेवलि पहचान गए। उन्ह कुछ दया आ गइ। बोले—'कोई बात नही। आप घबराएँ मत मेरे पास रहे। मेरे मेहमान बनकर।' ऐसा कहते हुए राजा के मन मे आया था कि वह श्वेतकेतु को अपना शिष्य बनाकर उसे ज्ञान प्रदान कर कृतार्थ करेगा। उन्होने ऋषिकुमार श्वेतकेतु की आध्यात्मिक शिक्षा की कमी समझकर उसे प्रखर करने का मन बना लिया था।

इसी समय राजा को अजातशत्रु और अश्वपति का ध्यान हो आया। यदि वह कुछ प्रयत्न करे तो उनके समान बन सकते है। ऐसा विचार था उनका। विद्वान् कहते हे कि वह कजूस राजा था। खेर, यहॉ ज्ञान आबटन की बात हो रही हे। जा खर्च करने पर भी बढता रहता है।

श्वेतकेतु, इस बात मे छिपे रहस्य का ध्यान कर राजा की बात नही माना। वापिस चल पडा। सीधा अपने पिता आरुणि के पास पहुँचा। जाते ही शिकायत के लहजे मे कहा—'पिताजी ! आपने मुझे सभी विषयो मे पारगत तो कर ही दिया होगा।'

पिता को इस बात से कुछ नाराजगी भी हुई। पर वह जानते थ कि उनका बेटा कितने पानी मे है। अत बुरा नही माना। सॅभलकर बोले—'बताओ तो, मामला क्या है ?'

'क्या बताऊँ ! आज मुझे बडी लज्जाजनक स्थिति से गुजरना पडा है। ऐसा

तो मैने कभी सोचा भी न था।'

'हुआ क्या है ? बता तो।'

'एक क्षत्रिय के सामने मेरी नाक कट गई। उसने मेरे से पॉच प्रश्न पूछे। एक के बाद एक। मुझे देखो। मे किसी भी प्रश्न का उत्तर देने मे असमर्थ खडा रहा उसके सामने। पाचाल नरेश प्रवाहण जैवलि के सामने।'

'एक-एक कर, पॉचो प्रश्न बताओ।

श्वेतकेतु ने सारे प्रश्न दोहरा दिए। और कह दिया कि वह इनमे से किसी का उत्तर भी नही बता पाया।

प्रश्नो को सुनकर पिता चकित रह गए। उन्होने सॅभलकर कहा—'बेटा ! तरे से कुछ छिपाने का तो मतलब ही न था। तेरे गुरु को जो कुछ आता था, उन्होन तुझे सिखा दिया। उसके बाद जो कुछ मुझे मालूम था, मैने भी तुझे बता दिया। ये जो पॉच प्रश्न है। मेरे लिए भी नए हे। मै भी इनका उत्तर नही जानता। अच्छा हो जो हम बाप-बेटा राजा पाचाल के पास जाएँ। उनसे दीक्षा ले। इसके लिए यदि ब्रह्मचर्या करना पडे तो दोनो ही करेगे। हमारा अधूरा ज्ञान होना अच्छी बात नही। हमे उनसे सीखना चाहिए।'

श्वेतकेतु ने स्पष्ट इनकार कर दिया। वह जानता था कि राजा प्रवाहण उस पर पट्टू डालकर अपना शिष्य बनाना चाहते हे। इसके लिए वह बिलकुल भी तेयार न था। उसने स्पष्ट कह दिया—'आप भले ही उस क्षत्रिय राजा के शिष्य बन जाएँ। मै तेयार नही। मेरा मन नही मानता कि उन्हे गुरु रूप मे मान लूँ।

विद्वान् कहते हे कि यह श्वेतकेतु की गलती थी। जब राजा स्वय उसे अध्यात्म-ज्ञान देने को तेयार थे उसे इनकार नही करना चाहिए था।

खैर ! पिता ने निर्णय लिया। जा पहुँचे राजा पाचाल के पास। राजा ने उनका स्वागत किया। वहॉ पहुँचने का प्रयोजन पूछा। विश्वास दिलाया कि उनकी मनोकामना पूरी की जाएगी।

तब आरुणि गोतम ने कहा—'आपका धन्यवाद। कृपया मुझे उन प्रश्नो के उत्तर बताएँ, जो आपने मेरे बेटे श्वेतकेतु से पूछे थे। इसी इच्छा से मै यहॉ पहुँचा हूँ। यही जानना मेरी मनोकामना हे।'

इस पर पाचाल नरेश ने कहा—'देव वर मत मॉगे। वह मॉगे जो मनुष्यो के अनुरूप हो।'

यह इशारा था। विद्वान् आरुणि झट समझ गए। बोले—'राजन् ! मेरे पास सभी भौतिक वस्तुएँ मौजूद हे। मुझे इनसे अधिक पाने की इच्छा नही। मै तो केवल आपका उपदेश पाने आया हूँ।'

'कोइ बात नही। यदि अध्यात्म ज्ञान ही पाना चाहते हो ऋषिवर तो तुम्हे

मेरा शिष्य बनना होगा।'

आरुणि को इसमे कोई आपत्ति नही थी। वह तो अपने घर से ही ऐसा सोचकर चले थे। बोले—'राजन् ! मुझे मजूर है। मगर परम्परा से हटकर नही।'

'क्या है परम्परा ?'

'यही कि यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय से उपसम्पदा ग्रहण भी करते है तो यह केवल नाममात्र होती है। वे विधिवत् शिष्य नही बन सकते। इसीलिए मै भी आपका शिष्यत्व मोखिक रूप से ग्रहण करने को तत्पर हूँ।'

राजा ने स्वीकृति दे दी। वह वही रहकर ब्रह्मचर्या निभाने लगे।

अगली प्रात राजा पाचाल ने आरुणि से यो कहा—'सब जानते है कि आपके पूर्वजो ने हमारे पूर्वजो का कभी कुछ नही बिगाडा। इसी प्रकार हम एक दूसरे का कुछ बिगाडने वाले नही। अत मै जो कुछ भी कहूँ, तुम इसका बुरा मत मनाना। यह सच हे कि यह विद्या आज से पहले किसी ब्राह्मण के पास नही हुआ करती थी। आज तुम पहले ब्राह्मण हो जो इस विद्या को पा सकोगे। जिस विनयपूर्वक तुम इस विद्या की मॉग कर रहे हो, इसके इच्छुक हो, तुम्हे यह अवश्य मिलनी भी चाहिए।'

राजा पाचाल ने आरुणि को एक विराट, विशाल, अपूर्व यज्ञ के बारे म बताया। बोले—'जो यज्ञ तुम जानते हो। उसे मै भी जानता हॅू। वह तो सरल हे। सीमित हे। सुलभ हे।

इस ब्रह्माण्ड मे इस समय एक विराट यज्ञ चल रहा हे। इसका प्रसार द्युलाक से हमारे अपन प्राण तक है। जो हमे एक महायज्ञ का अग बना देता है। इसे जानना जरूरा हे। इसके रूप और आयाम भिन्न-भिन्न है। ये सारे-के-सारे एक सूत्र मे जुडे हुए हे। आरुणि जी ! जो इनके रहस्य को जान गया, वही सच्चा वेदो का जानकार हे। वही सच्चा वेद विद तथा ब्रह्मविद हे। वही सच्चा तत्त्वविद भी है। उसे ही सच्चा ब्राह्मण कहेंगे।'

'आप कहते जाएॅ। मै ध्यानपूवक सुन रहा हॅू।'

'सुनो। मे अब तुम्हे इसके द्युलोकीय रूप का उपदेश देता हॅू। यह द्युलोक ही अग्नि हे। आदित्य को समिधा माना। उसकी किरणे ही धूम हे। दिन उसकी ज्वाला हे। दिशाओ को अगारे मानो। अवान्तर दिशाएँ इससे निकलने वाली चिनगारियॉ समझो। लोग इस अग्नि मे श्रद्धा का हवन करते है।'

'इसका क्या लाभ ?'

'मै बताता हॅू। इस आहुति से सोम को राजत्व की प्राप्ति होती है।' यज्ञ का यह कोई एक रूप नही है। इसके अनेक रूप है। इसका एक रूप वह भी है जिसमे मघ ही अग्नि हे।

'सच ! क्या मेघ भी अग्नि हो सकती हे ?'

'कमाल हे। यह तो सरल-सी बात हे। जब बादलो की गर्जना होती हे तो उससे उठती आग की दमक देखी जा सकती हे। श्रुति मे भी इसका वर्णन मिलता हे। श्रुति मे बताया अश्म ही बादल है। मेघ मे जो दीप्त होती हे वह ओर कुछ नही, आग ही हे।

सवत्सर इसकी समिधा हे। वर्षाकाल मे एक पूरा सवत्सर जलकर राख हो जाता हे।

धुएँ से बनने वाले ओर धूमवत दिखने वाले और फिर उडते हुए नजर आने वाले अभ्र ही धूम हे। विद्युत इसकी लपट हे। इन्द्र का वज्र अगार हे। बादलो की गजना चिनगारियॉ हे। इसमे स्वय सोम को ही हवन किया जाता हे। इस आहुति का प्रभाव हे कि वृष्टि होने लगती हे।'

क्षत्रिय राजा प्रवाहण कहते जा रहे थे। ऋषि आरुणि बडे ध्यान से सुन व ग्रहण कर रहे थे। श्रुतियो का ऋषि को ज्ञान था। इनमे इन्द्र की बहुत प्रशसा हुई है। उनकी गजना, अट्टहास क्रोध, चीत्कार, सब दशाए गए हे। मगर यह विराट का दशन यह महायज्ञ मानवीय चेतना से प्रकृति के गर्भ तक फेला हुआ यह प्रसार। यह तो उन्हे खूब पुलकित कर रहा था। इन्द्र तो कल्पना की वस्तु बनकर रह जाता है। मगर यह तो साक्षात् है। कुछ भी तो बनाना-सॅवारना नही। अपने मन को खोलना मात्र हे। उसको अपने भीतर उतरने देना है। विराट का यह बोध सचमुच चकित करने वाला था।

उन्होने आगे अपने उपदेश मे कहा—यह लोक एक दूसरे प्रकार की अग्नि है। यहॉ एक दूसरा ही यज्ञ चल रहा है। विराट् का एक नया आयाम। उसकी यज्ञ की समिधा यह पृथ्वी है। अग्नि स्वय इसका धूम है।'

'अग्नि धूम है' यह बात आरुणि को जॅची नही। उसने स्पष्टीकरण मॉग लिया।

'धुऑ रक्तवर्ण भी तो हो सकता हे। जब शिखा जल रही हो तो वह लाली ही तो दिखाइ देती हे ओर फिर कुछ ऊपर उठते ही कालिमा दिखाई देने लगती है। होता है न ऐसा। याद होगा, जलते हुए दीपक से सटाकर जब कोई बर्तन टिकाकर रख देते हे, तब लो उससे टकराती रहती है। जब इसे हटाते हे तो बर्तन के तले पर काला-सा काजल लगा होता हे। रग पर जाने की जरूरत नही। जो कहा वैसा होता है। धूम को अग्नि से अलग मत समझो। पृथ्वी जब अग्नि रूप धारण कर ले तो यह दृश्य आग असल मे धूम का ही एक रूप होती हे।'

'आपका ज्ञान बहुत विस्तृत हे। ऐसा मै महसूस करने लगा हूँ।' आरुणि ने श्रद्धापूर्वक कहा।

'मेरी बात समझो। रात्रि ही इसकी ज्वाला है।' प्रवाहण ने आरुणि को बताया।

यह बात भी आरुणि के गले से नहीं उतर सकी फिर भी चुप्पी बनाई रखी उन्होंने। सोचा, अवश्य कोई रहस्य भरी बात होगी यह।

प्रवाहण आगे कहते गए—'मेरे भाई ! चन्द्रमा को इसका अंगार मानते हैं। नक्षत्र जो हैं वे विस्फुलिंग हैं। अच्छा बताओ तो विस्फुलिंग क्या है ?

प्रवाहण इस समय गुरु थे। गुरु की भूमिका अदा कर रहे थे। मगर फिर भी आरुणि ब्राह्मण होने के कारण क्षत्रिय गुरु द्वारा ऐसा पूछना—इसका बुरा मान रहे थे मन-ही-मन। उनका ब्राह्मणत्व जाग उठा। उत्तर देना आवश्यक समझ बोले— आपका अभिप्राय चिनगारियों से है न !

'तो आप नहीं समझे। मेरा आशय स्फुलिंग से है, चिनगारियों से नहीं। आरुणि मैं उन सूक्ष्म ज्योतिष्मान कणों की बात कर रहा हूँ, जो आग जलने पर ज्योतिष्मान रजकणों की तरह उड़ते रहते हैं।'

आरुणि ने इस विस्तार से पूर्ण सहमति जतलाई।

'याद रखो इस अग्नि में स्वयं वृष्टि की हवि देते हैं और इससे अन्न उत्पन्न होता है।

यह सुनते ही आरुणि विस्मित हो गए। उनकी इस विस्मता को देखकर प्रवाहण ने आगे कहा—'शायद तुम जानते नहीं कि पुरुष स्वयं भी तो अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है। प्राण धूम है। वाक् ज्वाला है। नेत्र अंगार हैं। श्रोत्र विस्फुलिंग हैं। इस अग्नि में देवता लोग अन्न की हवि दिया करते हैं। इसी से वीर्य की उत्पत्ति होती है। ये सब बातें पूर्णतः सही हैं और मानने योग्य हैं।'

आरुणि स्वयं ब्राह्मण था। ऋषि था। विद्वान् था। अब उसने प्रत्यक्ष में तो नहीं कहा, पर उसके मन में कुछ यों भाव उठे—'ये यज्ञ देखने में यज्ञ के अलग-अलग कल्पित रूप प्रतीत होते हैं। मगर इनका अपना एक अनुक्रम है। जो एक यज्ञ का उत्पाद है उसी की दूसरे में हवि देने की परम्परा है। ऐसा करने से एक महाहवि का चक्र स्वतः बन जाता है।

हो सकता है इसी को श्रुतियों में महाहवि कहकर स्मरण किया जाता हो। और इसी का रहस्य जान लेने के बाद देवताओं ने असुरों पर विजय पाई हो।

वह सोचे तो जा रहे थे मगर कोई छोर, कोई किनारा हाथ न लग रहा था। 'इस यज्ञ की कल्पना तो राजर्षियों ने भी की थी। देवताओं और दानवों में होने वाला युद्ध अवश्य बहुत प्राचीन रहा होगा। मगर इन यज्ञों से जो महाचक्र बन रहा है उसका अन्त भी तो सम्भव नहीं।'

अभी-अभी आरुणि का खो जाना प्रवाहण ने भी महसूस कर लिया। कुछ

विचार कर प्रवाहण ने कहा—'आरुणि मेरी बात ठीक से समझो। स्त्री स्वय भी आग है। उसका पास होना ही समिधा है। लोम धूम है। उसकी यानि अर्चि है। अन्तर्थमन्थन अगार हे। स्त्री से आनन्दावेश विस्फुलिग है। इसमे देवता लोग वीर्य की आहुति देते है। इसी से पुरुष की उत्पत्ति होती है।

उसके कर्म जब तक शेष रहते हे, तब तक वह जीवित रहता है। फिर मृत्यु को प्राप्त होता है। मृत्यु के पश्चात् अन्तिम यज्ञ हे कि उसे अग्नि तक पहुँचा दिया जाता है। इसमे सब कुछ अपने अभिहित रूप मे सामने आता है।

इसमे आग-ही-आग है। समिधा-ही-समिधा हे। धूम-ही-धूम होता है। अर्चि-ही-अर्चि होती है। अगारे-ही-अगारे होते है। विस्फुलिग-ही-विस्फुलिग होता हे। इसमे देवगण पुरुष को होम करते है और इससे पुरुष ज्योतिशेष रह जाता हे। यह दर्शन की बाते है। यही वास्तविकता है। इसका जरूर मनन करो।'

'कमाल है। ऐसा विचित्र है यह महाचक्र ' मैने तो कभी ऐसा सुना—सोचा ही न था।'

'हॉ पचाग्नियो का उपदेश तो तुम सुन ही चुके। इसे जानना जरूरी था। इसकी जानकारी के बाद गृहस्थ ठीक उसी तरह ज्योति के अभिमानी देवताओ से दिन के अभिमानी देवता को, दिन के देवता से शुक्लपक्ष के देवता को शुक्लपक्ष के देवता से षण्मास के देवताओ को, षण्मास के देवताओ से देवलोक को देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत सम्बन्धी देवताओ को प्राप्त करत हे, जिस प्रकार जगल मे श्रद्धाभाव से हिरण्यगर्भ की उपासना करने वाले सन्यासी अपने सत्य और तप के बल से इसी क्रम से इन्हे प्राप्त करते हे।

आरुणि उन विद्युत सम्बन्धी देवताओ के पास से एक मानस पुत्र आकर इन्हे ब्रह्मलोक को ले जाता है। वे उस ब्रह्मलोक मे अनन्तकाल तक रहते है। उन्हे जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति मिल जाती है, ऐसा शास्त्रो का उपदेश हे।'

'जब इतनी अधिक जानकारी आपने प्रदान कर दी है तो कृपया बताएँ देवलोक और पितृलोक को कोन जाते हे।'

आरुणि के मुँह से निकलने वाले प्रत्येक शब्द से राजा को गुरु जेसा सम्मान दिया जा रहा था।

राजा भी बडे प्यार और विनय के साथ इस ऋषि को पूरा ज्ञान बॉट रहे थ। हर प्रश्न का उत्तर दे रहे थे। अब बोले—'जो लोग यज्ञ दान और तप से लोक विजय करते हे, वे धूम को प्राप्त होते हे। धूम से वे रात्रि के देवना को, रात्रि क देवता से कृष्णपक्ष के चन्द्रमा को, कृष्णपक्ष के चन्द्रमा से दक्षिणायन के षण्माष को, उससे पितृलोक को पितृलोक से चन्द्रमा को जाते है। जहॉ वे अन्न बन जाते है क्योकि चन्द्रमा ही सोम हे ओर सोम ही अमृत आहार हे।

आरुणि अन्न या साम म बदल जाने पर दवता इसका सेवन करते हे। जब उनक कम क्षीण हा जात ह ता व इस आकाश का ही प्राप्त होते ह। आकाश स वायु का वायु स पजन्य को ओर पजन्य स पृथ्वी को प्राप्त हात ह। फिर वे पुरुष रूपी अग्नि म हवन किए जाते हे। अब व लोक के कल्याण के लिए स्त्री रूपा अग्नि म उत्पन्न होते हे ओर यह क्रम निरन्तर चलता रहता हे। इसी को निश्चित मानो।'

क्षत्रिय राजा प्रवाहण न अपना उपदेश पूरा किया। आरुणि क मन म हर पल राजा के प्रति श्रद्धा बढती गइ। मन से तो आरुणि पूरी तरह झुक चुका था। गुरु तुल्य शिक्षा पाई थी। मगर बाहर से वह उनको वास्तव मे नतमस्तक न हो पाए। उपनिषद् की इस कथा के अनुसार विद्वानो का मत हे कि वह ब्राह्मण थे इसलिए राजर्षि क चरणो पर माथा टेकना उचित न मानत थे। भले ही उन्हे जो शिक्षा प्राप्त हुई, वह किसी भी अन्य विद्वान् ब्राह्मण से प्राप्त न हो सकती थी। पंचाग्नि का जा बोध उन्ह प्राप्त हुआ उससे वह अभिभूत हो उठ थे।

हॉ आरुणि क मन मे एक अरमान व्याप्त रह गया। इतना विशाल ज्ञान पान से उनका बटा श्वेतकेतु वचित रह गया। यदि वह राजा की बात मानकर उनका शिष्य बन गया होता ता उसका जीवन ही सफल हो जाता। राजा को गुरु न धारने की जो भूल श्वेतकेतु स हुइ, उसका दु ख उसके पिता आरुणि का सदा बना रहेगा। उस बालक द्वारा दिखाइ अशिष्टता उसे महॅगी पडी ऐसा निष्कष निकाला पिता ने।



अन्न की महिमा

उपनिषद् की इस गाथा मे श्वेतकेतु ओर उद्दालक का प्रसग फिर से लौट आया हे। उद्दालक ने श्वेतकेतु को बहुत ज्ञान दिया था। कुछ ओर भी समझाया है उन्होने इस गाथा के माध्यम से।

श्वेतकेतु समझ चुका था कि अन्न का जीवन मे बहुत ही अधिक महत्त्व है। यदि अन्न हे तो प्राण भी है। अन्न नही तो प्राण ही नही बचते।

भूख लगी हो। पेट मे अन्न न जा रहा हो। आदमी निष्प्राण-सा हो जाता है। जीवित रहते हुए भी बेकर। ऐसा हाने से स्मरण-शक्ति भी जवाब दे जाती हे। प्रभु का नाम लेना भी कठिन। भूखे पेट न भजन होए गोपाला। जब भूख होने के कारण, अचेत-सी अवस्था मे आ जाने के कारण, भूखा रहने के कारण कुछ याद नही आता। मगर इसका अथ यह नही कि वह ज्ञान, वह मन्त्र, वह स्मृति रही हा नही। यह ज्ञान भीतर हे, मगर सोया हुआ। जब पेट मे अन्न पहुँचता है तो प्राण शक्ति आर स्मरण-शक्ति दोनो जाग उठती है। ऐसा समझाया था उद्दालक ने।

जब कोई नीद मे होता है तो भी वह अचेत से। चेतना रहित। हॉ पेट जरूर भरा होता है। ऐसा क्यो होता है। क्यो अचेत हो जाते है सोए हुए। इसको जानना भी अत्यन्त आवश्यक हे।

इसका उत्तर यह हुआ कि इस हालत मे, इस स्थिति मे, मनुष्य अपने स्वभाव को पा लेता है। नीद हो या स्वप्न। दोनो का अर्थ है अपने स्वभाव को पा लेना। जिस प्रकार किसी पक्षी के पॉव के साथ रस्सी बॉध दो। जरा लम्बी। वह उड जाएगा। इधर-उधर विचरण करेगा। फिर लौट आएगा। रात क समय हमारी यही स्थिति होती है। हमारी आत्मा हमारे प्राण की डोर के साथ जरूर बॅधी रहती है, मगर जाती हे इधर-उधर। यहॉ-वहॉ। बहुत दूर भी। मगर शरीर मे लौटना होता हे जिससे बॅधी है। अत लोट आती है। वेसे ही जैसे वह रस्सी से बॅधा पक्षी।

उद्दालक ने आगे कहा—'हमार जीवन जिस अन्न पर निभर है, उसका स्रोत, उसे पैदा करने वाला ले जाने वाला यह अन्न ही है।' वह रुके। फिर अपनी बात कुछ यो कही—'हे श्वेतकेतु ! यदि तुम जीवन का रहस्य जानना चाहते हो तो मृत्यु को भी अच्छी प्रकार जानो। तभी जीवन समझ मे आएगा।'

उन्होने बताया-- जब मनुष्य मर रहा होता हे त' उसका वाक् उसकी आवाज मन मे लीन हो जाती हे। तब मन प्राण मे समा जाता हे। प्राण तेज म लीन हा जाते ह। ओर यह तेज परम ब्रह्म म लीन हो जात हे। इस प्रकार कहता हूँ कि यह जो परम अणु भाव है यही तो तुम हा।'

अपनी ही बात को स्पष्ट करत हुए उद्दालक न कहा— श्वेतकेतु ! शहद की मक्खियो का तो तुमने भी देखा ह। जहॉ तहॉ स, वृक्षा पत्ता, फूला पर जाकर रस लाती ह। अपने छत्ते मे डालती जाती ह। मधु तंयार हा जाता ह।

यदि उनसे कोइ कहे कि अमुक फूल स बना शहद का भाग दिखाआ। व नही बना सकती। सब मिलकर एक हो जाता ह।

ओर यदि किसी फूल स कहा जाए कि अपने स निकल रस का इस छत्त स पहचानो। वह भी नही बता पाएगा। क्योकि सारा रस एक सार इकट्ठा हाकर एक हो चुका है। सब कण एक सार जा हो गए हे।

ठीक इसी प्रकार सत भाव को प्राप्त कर लने पर भेद दृष्टि तो रहती ही न्ही। सब एक जसा। एक सार। मधु की भॉति। मनुष्य सवमय हो उठता हे। एक सब एक एकत्व ही।

'मै कुछ ओर समझाता हूँ। अनक नदियो से बहता हुआ पानी दरिया मे पहॅुचता हे। उन नदियो के नाम अलग हो सकते हे। वे अलग-अलग दिशा स आइ हो सकती है। मगर दरिया मे मिल जाने पर न तो नाम रहता हे न ही दिशा। कोन जल दरिया मे कहॉ पडा है इसे कोइ पहचान नही सकता। जब लोग मरते है, सद्गात पाते है उस ब्रह्म मे जा मिलते हे। किसी की कोइ पहचान नही रह जाती। एकत्व को पा लेते है। आई बात समझ मे ?'

'जी ! समझ गया। श्वेतकेतु ने कहा। थोडा रुककर कह दिया— मगर पूरी तरह नहीं।'

'लो, फिर समझो। दूसरा उदाहरण देता हूँ। किसी भी बडे वृक्ष के मूल मे तने पर बडी टहनी पर कुल्हाडी से चोट लगाएँ तो ऐसे सब स्थानो से रस निकलेगा जहॉ-जहॉ कुल्हाडी से चोट पहॅुची। पूरा वृक्ष जीवित हे। मूल मे जीवन हे। तने मे जीवन हे। टहनी मे भी जीवन हे। यदि वह जीवन उसके किसी भी भाग को त्यागकर भाग खडा हो तो वह भाग सूख जाएगा। जहॉ-जहॉ से जीवन खत्म वह भाग भी खत्म हो जाएगा। हॉ, भाग की बात छोडे यदि यह जीवन पूरे वृक्ष को त्याग दे तो पूरा वृक्ष ही सूख जाएगा। अब इसमे रस नही हे। रस था तो जीवन था। जीवन है तो रस भी है।'

श्वेत केतु बडे ध्यान से सुन रहा था।

उद्दालक ने आगे कहा—'जब वृक्ष को जीवन ने छोडा तो वह सूख गया। मर

गया। इसी प्रकार जब शरीर से जीव निकल जाता है तो शरीर मर जाता ह। मगर यह जीव यह प्राण यह आत्मा ऐसे है कि शरीर से निकलकर ब्रह्म मे जा मिलता हे। यहॉ जीव कभी मरता नही। शरीर ही मरता हे।

आत्मा या जीव हमारे शरीर मे केवल अणु भाव से स्थित रहता हे। इस शरीर को छोडता भी यह अणु भाव ही है। जेस ही आत्मा शरीर से निकल जाती है तो मनुष्य का यह शरीर गलने लगता है। सडने लगता है।

'कुछ पडा पल्ले ?' उद्दालक ने पूछा।

'पूरी तरह तो नही।'

'ठीक है।' कहते हुए उन्होने बड के एक फल को श्वेतकेतु के हाथ पर रख दिया। एक स्वय भी ले लिया। उन्होने उस फल को तोडा। दिखाया। बोले—'इसमे अणु के समान छोटे-छोटे, नन्हे नन्हे बीज हे। यदि इस एक बीज को तोड दे ता इसमे कुछ दिखाई नही देता। जो अणु बीज था। इसे देखा। इसके अन्दर क्या है—नजर नही आ रहा। मगर यह अणु बीज ओर इसके अन्दर का न दिखने वाला, अणु से भी छोटा हिस्सा अपने अन्दर एक बडे बड के पेड को छिपाए है। उसका यह जन्मदाता हे। उत्पन्न करने वाला है। एक महावृक्ष इसमे अणुभाव मे छिपा है। है न कमाल। हे न चमत्कार।

इसी प्रकार तुम्हारे शरीर मे अणु रूप आत्मा है। वही आत्मा तू हे। आत्मा तू है और तू आत्मा है। है अणुभाव मे। जिसमे अणुभाव की आत्मा विद्यमान हे, वह इतना बडा शरीर इस आत्मा का ढक्कन है। वस्त्र हे। इसे सॅभाले हुए एक डिब्बे के समान।

बात तो बेहद स्पष्ट हो चुकी थी। मगर श्वेतकेतु का चेहरा अब भी लटका हुआ था।

'घबराओ मत। और समझो। और आसान कर देता हूँ इसे। मै इस नमक के डले को पानी मे डाल रहा हूँ। चाहे तो इसे साथ ले जाओ। कल इस पानी को सामने रखकर बात करेगे।'

श्वेतकेतु ने आज के लिए छुट्टी पाई। अगले दिन दोबारा उपस्थित होने की बात कह दी।

अगली प्रात श्वेतकेतु आ गया। उद्दालक आरुणी को प्रणाम कर बैठ गया। उस पानी वाले बर्तन को भी पास खिसका लिया। इसमे पिछले कल नमक की डली डाली थी।

'ठीक है। ठीक है। पानी से उस नमक के डले को बाहर निकालकर मेरे सामने रखो। उद्दालक ने कहा।

मगर पानी मे न तो डला था। न निकल मका।

उद्दालक ने उस पानी से श्वेतकेतु का आचमन करवा दिया। फिर स्वाद के बारे मे पूछा। श्वेतकेतु ने कहा—'यह नमकीन हे।'

'दखा ! मेने तुम्हे ऊपर-ऊपर क पानी से आचमन करवाया था। कुछ पाना उतारकर दूसरे बर्तन मे डालकर, मध्य भाग से आचमन करवा दिया। इसका स्वाद भी उसने नमकीन बताया। तब तकरीबन सारा पानी उँडेलकर, सबसे नीच की कुछ बूँदा का आचमन हुआ। श्वेतकेतु ने इसका स्वाद भी नमकीन ही बताया।

'देखो ! वह नमक का डला इसमे घुला। अपना आकार खत्म कर दिया। इसन सारे पानी को नमकीन कर दिया हे। यह पूरे जल मे मिल चुका है। विलीन हा गया हे। इसे किसी एक स्थान से निकाला ढूँढा नही जा सकता। यह किसी एक स्थान पर नही हे। अपना आप खोकर समग्र हो गया हे नमक का डला। बस समझ लो, यह जो अणु हे, यह जो अणिमा है। यही तू है। समग्र तू ही।'

आग ओर भी समझाया उद्दालक आरुणि ने। बोले—'यदि किसी आदमी को उसके देश से ऑखो पर पट्टी बॉधकर यहॉ लाया जाए। फिर कुछ देर बाद उसकी पट्टी खोल दी जाए, तो वह नही जान पाएगा कि उसका देश किस दिशा को हे। कहॉ है। हॉ वह उस देश का नाम तो बता देगा। मगर पट्टी बॅधकर आन के कारण रास्ता नही जान पाएगा।

'हॉ, यदि उसे जाने को कहते हुए बता दिया जाए कि उसका देश पूव मे हे। फिर वह पूर्व की ओर चलकर, एक-एक से पूछकर अपने देश को पहॅुच सकता है।

'ठीक इसी तरह इसी तरह हमारी आत्मा भी है। अपने मूल स्थान मूल आश्रय सत मे पूछता-पूछता पहॅुच जाएगा। कोशिश जरूरी है। तभी आत्मा-परमात्मा से जा मिलेगी ढूॅढते-ढूॅढते।'

अभी भी जैसे श्वेतकेतु ॲधेरे मे था। पूरी बात न समझ पाया। उसने कह भी दिया—'कृपया और स्पष्ट करे।'

उद्दालक बोले—'किसी मृत शैया पर पडे व्यक्ति को तो जरूर देखा होगा। लोग उसके आसपास आकर अपना परिचय पूछना चाहते है। उसके मुॅह से अपना नाम पूछना चाहते है। जब तक उसकी वाणी मन मे लीन नही हो जाती, तब तक वह उन्हे पहचान सकता है। नाम भी बात सकता है।

'जब उस मरणासन्न पर पडे व्यक्ति की वाणी मन मे लीन हो जाती है, फिर मन, प्राण मे लीन हो जाता है, प्राण, तेज मे और तेज परमात्मा मे लीन हो जाता है तो वह किसी को भी पहचान पाने की स्थिति मे नही रहता।

'अब ठीक से जान लो कि यह जो क्रमश लीन होकर परमात्मा मे विसजित हो जाता ह, वही तो तुम्हारा अणु रूप आत्मा हे।'

महादय ! कहते हुए मुझे शर्म भी आ रही हे। मगर यह सत्य हे कि मै अभी पूरी तरह समझ नही सका। हो सके तो एक कोशिश ओर कर मुझे लाभान्वित करे।

ठीक हे। जिम्मेवारी ली हे तो इसे पूरी तरह पूरा भी किए देता हूँ।

'सिपाही जाते हे। किसी आदमी को पकडकर ले आते है। कहते है कि यह चोर हे। इसी ने चोरी की हे।

'कैसे जाने ? इसके लिए एक लोहे की छड को गरम कर दिया गया। उसे कहा—'इसे छू दो। यदि तुमने चोरी की हे तो तुम्हे जलन होगी। यदि चोरी नही की है ओर तुम सच्चे हो तो छूने पर भी तुम्हे कुछ न होगा।'

उसने चोरी नही की थी। इस सत्य की परीक्षा मे वह सफल हो गया। लोहे की गरम छड उसको जला नही पाई। सत्य उजागर हो गया। उसे बाइज्जत जाने की आज्ञा दे दी गई।

ठीक इसी प्रकार विद्वान् पुरुष जो अपनी आत्मा के स्वरूप को भली प्रकार जानता है, उसका दोबारा जन्म नही होता। मगर जो मूर्ख है और उसने इस रहस्य को नही समझा, उसको तो जन्म मरण से गुजरना ही पडेगा। वह चाहकर भी मुक्ति नही पा सकता क्योकि उसने असली रहस्य को जानने की कभी कोशिश ही नही की।'

उठते हुए उद्दालक आरुणि ने कहा—'अब तो समझ गए होगे तुम।'

'जी ! खूब समझ गया।'

और, दोनो उठकर अपने-अपने निवास को चल पडे।

याज्ञवल्क्य के प्रयत्न

उपनिषद् काल मे भी बहु-पत्नी-प्रथा थी। याज्ञवल्क्य उस काल के ही थ। उनका राजाओ और राणो मे खूब मान-सम्मान था। धन-वेभव की भी उन्हे कोई कमी न थी। उनकी कितनी पत्नियॉ रही होगी, यह पूरी तरह मालूम नही। मगर कम-से-कम दो जरूर रही होगी।

ब्रह्मवत्ता थ याज्ञवल्कय। उनकी बडी पत्नी का नाम था कात्यायनी। छोटी थी मैत्रेयी। पति की मैत्रेयी से खूब पटती थी। उसके साथ तो वह अनेक बार ब्रह्मचचा भी कर लिया करत। उनके बाद मेत्रेयी को कोइ परेशानी न हा इसकी उन्हे चिन्ता अवश्य रहती।

कान्यायनी कुछ लालची तथा झगडालू प्रवृत्ति की थी। वह अधिक-स-अधिक सुविधाऍ पा लेना चाहती थी। अधिक-से अधिक धन भी एकत्रित कर लेना चाहती थी। उसे शिकायते करने, इसकी-उसकी बाते करने की भी खूब आदत थी। कोई-न-कोइ बखेडा खडा करना उसके बाऍ हाथ का खेल था।

कभी याज्ञवल्क्य ने अपने जाने की बात की। अपने पीछे छाटी पत्नी मेत्रेयी को बडी पत्नी कात्यायनी स कोई दिक्कत न हो। जाने वाली बात जो उन्होने की इमके दो अर्थ निकालते हे विद्वान्। एक से मतलब है कि वह इस दुनिया से दूर पारब्रह्म के पास जाने का इशारा कर रहे थे। दूसरे अर्थ से मतलब हे वह गृहस्थ का त्यागकर, छोडकर सन्यास की वात कर रहे थे।

कुछ भी हो, अपने प्रस्थान से पूर्व वह चाहते थे कि इन बडी-छाटी दोनो पत्नियो के बीच पूरी तरह बॅटवारा हो जाए। उनके बाद कोई झगडा न खडा हो। घर मे शान्ति बनी रहे। दोनो सौतनो मे प्रेम बना रहे। वे एक-दूसरे पर कीचड न उछाले। तलवारे न खीचे। बुरा-भला न कहे। शिकवे-शिकायते न करे।

बढ चुकी आयु थी याज्ञवल्क्य की। मैत्रेयी से थोडा-ज्यादा प्रेम जरूर करते होगे, मगर धमचर्चा, ब्रह्मज्ञान पर बातो के लिए अधिक समय जुटा पाते थे वह। दशन-चर्चा, शास्त्रचर्चा हो जाया करती।

मूर्त वस्तुओ के साथ मेत्रयी का लगाव कम था। वह अमूर्त चीजो का अधिक चाहती थी। अमूर्त विचार उसे अच्छे लगते।

एक दिन ।

मैत्रेयी ने अपने पति से पूछा—'स्वामी । आप तो ऊपर जाने की बाते करते है। जब आप नही होगे तो मै इस अपार धन-दौलत का क्या करूँगी ? आप बॅटवारा करना चाहते है। बहुत कुछ मेरे भाग मे भी आ जाएगा। मगर यह सब मेरे किस काम का ?'

'बॅटवारा तो करना ही है। तुम्हारा हिस्सा तुम्हे मिलना ही हे।' पति ने समझाया।

पत्नी वैसा कभी नही सोचा करती, जैसा पति सोच रहे थे। पति को इस छोटी पत्नी की चिन्ता थी। इसके साथ अधिक लगाव भी था। अत उसके हित की सोचना उनकी मजबूरी थी।

मैत्रेयी ने ही कहा—'मान लो मुझे सारे विश्व का धन मिल जाए, या आपकी सम्पत्ति का बहुत बडा हिस्सा मिल जाए तो क्या यह मुझे 'अमर' कर पाएगा ?'

याज्ञवल्कय, मेत्रेयी के स्वभाव से भली प्रकार परिचित जरूर थे। मगर उन्होने इस प्रश्न की आशा न की थी। इस प्रश्न ने उन्हे स्तब्ध कर दिया। उन्हे सोचने पर विवश कर दिया। उनके सामने एक ठोस सवाल था। आध्यात्मिक प्रश्न था। उचित उत्तर देना भी जरूरी था। पति को जाता देखकर, वैस तो हर पत्नी इस प्रकार का प्रश्न उठा सकती है। मगर 'अमर' होने की बात कहना कठिन है, जो मैत्रेयी ने पूछ लिया।

याज्ञवल्क्य बेहद प्रभावित हुए। उन्होने उत्तर भी बडा स्पष्ट दे दिया। बोले—'नही, यह धन-दौलत तुम्हे अमर नही कर पाएगा। मगर हॉ जीने के लिए जिन सुख-सुविधाओ तथा आवश्यकताओ का पूरा होना जरूरी है वह सब इस दौलत से हासिल कर पाओगी।'

'फिर क्या करूँगी मै इस सबका ? मुझे तो अमरता पाने की तमन्ना हे। यदि आप इस विधि को जानते हो तो मुझे यही बताएँ। मे इस धन-दौलत, सुख-सुविधा को त्यागकर, उसी रास्ते पर चलूँगी जो आप बताएँगे।'

'याज्ञवल्क्य बेहद प्रसन्न हो उठे। स्वय ब्रह्मवेत्ता थे। धार्मिक थे। ईश्वर से प्रेम करते थे। पत्नी के मुँह मे अमूर्त बातो के प्रति विचार सुन उन्हे बहुत खुशी हुई। बोले—प्रिय । आ । बैठ। बेठ मेरे पास। तू अपने अच्छे विचारो के कारण मुझे बहुत अच्छी लगती रही है। अब अमरता पाने का रास्ता पूछकर तूने बहुत अच्छा किया। मेरे मन मे तेरा सम्मान और भी बढ गया है। मे इसी दिशा मे प्रवचन करूँगा।'

'जी । कहिए। मै बडे ध्यानपूर्वक सुन रही हूँ।'

'मै जो कुछ कहने जा रहा हूँ, तुम्हारे लिए तो कह ही रहा हूँ। मगर मै

चाहता हूँ कि इन विचारो से और लोग भी लाभान्वित हो सके। मेरे विचार तेरे लिए सबके लिए, सब समयो के लिए सब कालो ओर युगो के लिए हे। आज भी इनस लाभ उठाया जा सकता हे। कल भी उठाया जाएगा।'

ठीक हे। जो भी, जब भी इन्हे सुनेगा, अवश्य लाभ उठाएगा। आज मै सुनूँगी। मे तो लाभान्वित हूँगी ही। आप कहिए।'

'इस बात को पक्की मानो कि इस दुनिया म सारे सम्बन्ध, सारे रिश्ते मतलब के है। स्वार्थ पर आधारित हे। सुख पाने के है। यहाँ चाहे कोई भी क्यो न हो, वह परोपकार को अपना उद्देश्य बनाकर किसी काम मे हाथ नही डालना। कोइ पत्नी यदि अपने पति से प्यार करती है तो पति के लिए नही, अपने लिए, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही प्यार करती है। यह पूर्णत सत्य हे। यदि पति बदले मे वेसा ओर उतना प्यार न करे तो पत्नी भी उसे चाहना छोड देगी। मान लो कोई अन्य पुरुष उससे अधिक प्यार करने लगे उसे चाहने लगा तो वह पति से विमुख हाते देर न करेगी।'

उन्होने पत्नी मैत्रेयी को यह भी आभास करा दिया कि उन दोनो मे आयु का काफी अन्तर है। पति बूढा हो चुका है। पत्नी अभी युवा हे। उन्होने उससे विवाह कर, अपना ही उल्लू सीधा किया न कि मेत्रेयी का। जा बडी आयु के पति ने छाटी आयु की पत्नी से विवाह किया यह पत्नी की खुशी के लिए नही अपनी खुशी के लिए किया।

उन्होने सकत-सकेत मे यह भी समझा दिया कि जो समाज सतीत्व वगेरा की बाते करते हे, यह ओर कुछ भी नही, स्त्रियो को मूख बनाकर पुरुषो के हित की बाते है। इससे नारी जगत् का कोइ भला नही होता, बल्कि यह वर्ग पगु बनकर रह जाता हे। मानसिक रूप से लॅगडा तथा पुरुषो पर निभर रहने वाला।

'औग सुना। यदि ब्रह्मविद्या की लहर न चली होती, ब्रह्मज्ञान का परिचय न उठा होता तो मै भी आज पुरातनपथियो की भाषा मे ही बात करता। मे भी सतीत्व का ढोल बजाता। इसे जरूरी तथा अति उत्तम मानता। काइ भी पुरुष यदि यह कहे कि वह स्त्री को, उसके हित के बढावे क लिए प्यार कर रहा हे ता वह उस स्त्री को मूर्ख बनाएगा। सच नही कहेगा। असली बात ता यह हे कि पुरुष किसी भी स्त्री के करीब जाएगा तो अपना मतलब साधने के लिए। अपनी जरूरत पूरी करने के लिए। उस स्त्री की क्या साच है, उसके मन पर क्या बीतती है उससे उसे कोइ वास्ता नही।'

थोडा रुककर बोले—'देखो ! यदि मे अपनी पहली पत्नी से प्यार करता उसके हित की ही सोचता तो मै दूसरा विवाह नही करता। कितनी स्पष्टवादिता ह इस ध्यान मे।

एक दिन ।

मैत्रेयी ने अपने पति से पूछा—'स्वामी । आप तो ऊपर जाने की बाते करते हे। जब आप नही होगे तो मै इस अपार धन-दौलत का क्या करूँगी ? आप बॅटवारा करना चाहते हे। बहुत कुछ मेरे भाग मे भी आ जाएगा। मगर यह सब मेरे किस काम का ?'

'बॅटवारा तो करना ही है। तुम्हारा हिस्सा तुम्हे मिलना ही है।' पति ने समझाया।

पत्नी वेसा कभी नही सोचा करती, जैसा पति सोच रहे थे। पति को इस छोटी पत्नी की चिन्ता थी। इसके साथ अधिक लगाव भी था। अत उसके हित की सोचना उनकी मजबूरी थी।

मैत्रेयी ने ही कहा— मान लो मुझे सारे विश्व का धन मिल जाए, या आपकी सम्पत्ति का बहुत बडा हिस्सा मिल जाए तो क्या यह मुझे 'अमर' कर पाएगा ?'

याज्ञवल्कय, मैत्रेयी के स्वभाव से भली प्रकार परिचित जरूर थे। मगर उन्होने इस प्रश्न की आशा न की थी। इस प्रश्न न उन्हे स्तब्ध कर दिया। उन्हे सोचने पर विवश कर दिया। उनके सामने एक ठोस सवाल था। आध्यात्मिक प्रश्न था। उचित उत्तर देना भी जरूरी था। पति को जाता देखकर, वैस तो हर पत्नी इस प्रकार का प्रश्न उठा सकती है। मगर 'अमर' होने की बात कहना कठिन है, जो मैत्रेयी ने पूछ लिया।

याज्ञवल्क्य बेहद प्रभावित हुए। उन्होने उत्तर भी बडा स्पष्ट दे दिया। बोले—'नही, यह धन-दौलत तुम्हे अमर नही कर पाएगा। मगर हॉ जीने के लिए जिन सुख-सुविधाओ तथा आवश्यकताओ का पूरा होना जरूरी है, वह सब इस दौलत से हासिल कर पाओगी।'

'फिर क्या करूँगी मे इस सबका ? मुझे तो अमरता पाने की तमन्ना हे। यदि आप इस विधि को जानते हो तो मुझे यही बताऍ। मे इस धन-दौलत, सुख-सुविधा को त्यागकर, उसी रास्ते पर चलूँगी, जो आप बताऍगे।'

'याज्ञवल्क्य बेहद प्रसन्न हो उठे। स्वय ब्रह्मवेत्ता थे। धार्मिक थे। ईश्वर से प्रेम करते थे। पत्नी के मुॅह मे अमूर्त बातो के प्रति विचार सुन उन्हे बहुत खुशी हुई। बोले—प्रिय । आ । बैठ। बैठ मेरे पास। तू अपने अच्छे विचारो के कारण मुझे बहुत अच्छी लगती रही है। अब अमरता पाने का रास्ता पूछकर तूने बहुत अच्छा किया। मेरे मन मे तेरा सम्मान और भी बढ गया है। मे इसी दिशा मे प्रवचन करूँगा।'

'जी । कहिए। मै बडे ध्यानपूर्वक सुन रही हूँ।

'मै जो कुछ कहने जा रहा हूँ, तुम्हारे लिए तो कह ही रहा हूँ। मगर मै

चाहता हूँ कि इन विचारो से और लोग भी लाभान्वित हो सके। मेरे विचार तेरे लिए सबके लिए सब समयो के लिए, सब कालो ओर युगो के लिए हे। आज भी इनसे लाभ उठाया जा सकता है। कल भी उठाया जाएगा।

'ठीक हे। जो भी, जब भी इन्हे सुनेगा, अवश्य लाभ उठाएगा। आज मे सुनूँगी। मै तो लाभान्वित हूँगी ही। आप कहिए।'

'इस बात को पक्की मानो कि इस दुनिया मे मारे सम्बन्ध सार रिश्ते मतलब के है। स्वार्थ पर आधारित हे। सुख पान के हे। यहॉ चाहे कोई भी क्यो न हो वह परोपकार को अपना उद्देश्य बनाकर किसी काम मे हाथ नही डालता। कोइ पत्नी यदि अपने पति से प्यार करती है तो पति के लिए नही अपन लिए, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही प्यार करती है। यह पूणत सत्य है। यदि पति बदले मे वेसा ओर उतना प्यार न करे तो पत्नी भी उसे चाहना छोड देगी। मान लो कोई अन्य पुरुष उससे अधिक प्यार करने लगे, उसे चाहने लगा तो वह पति से विमुख होते देर न करेगी।'

उन्होने पत्नी मैत्रेयी को यह भी आभास करा दिया कि उन दोनो मे आयु का काफी अन्तर हे। पति बूढा हो चुका हे। पत्नी अभी युवा हे। उन्होने उससे विवाह कर अपना ही उल्लू सीधा किया न कि मेत्रेयी का। जो बडी आयु क पति ने छोटी आयु की पत्नी से विवाह किया यह पत्नी की खुशी के लिए नही अपनी खुशी के लिए किया।

उन्होने सकेत-सकेत मे यह भी समझा दिया कि जो समाज सतीत्व वगैरा की बाते करते हे, यह और कुछ भी नही स्त्रियो को मूर्ख बनाकर पुरुषो के हित की बाते है। इससे नारी जगत् का कोइ भला नही होता, बल्कि यह वग पगु बनकर रह जाता हे। मानसिक रूप से लॅगडा तथा पुरुषो पर निभर रहने वाला।

'और सुनो। यदि ब्रह्मविद्या की लहर न चली होती, ब्रह्मज्ञान का परिचय न उठा होता तो मै भी आज पुरातनपथियो की भाषा मे ही बात करता। मे भी सतीत्व का ढोल बजाता। इसे जरूरी तथा अति उत्तम मानता। कोइ भी पुरुष यदि यह कहे कि वह स्त्री को, उसके हित के बढावे के लिए प्यार कर रहा हे ता वह उस स्त्री को मूर्ख बनाएगा। सच नही कहेगा। असली बात तो यह हे कि पुरुष किसी भी स्त्री के करीब जाएगा तो अपना मतलब साधने के लिए। अपनी जरूरत पूरी करने के लिए। उस स्त्री की क्या साच है, उसके मन पर क्या बीतती है, उससे उसे कोइ वास्ता नही।'

थोडा रुककर बोले—'देखो ! यदि मे अपनी पहली पत्नी से प्यार करता उसक हित की ही सोचता तो मै दूसरा विवाह नही करता।' कितनी स्पष्टवादिता हे इस ध्यान मे।

याज्ञवल्क्य कहते थे— अक्सर ऐसा होता है कि किसी की बात सुनते-सुनते मन भटकने लगता है। विचलित हो जाता हे। शरीर वही पडा होता है जबकि मन कही अन्यत्र पहुॅच जाता है। कहो मेत्रेयी ! मैने जो कुछ पहले कहा, उसे तुमने ठीक से सुना-समझा भी या नही ?'

'हॉ प्राणनाथ ! मुझ पर सन्देह न करे। जो कुछ आपने कहा, ओर जो उसका अर्थ था, मकसद था मै खूब समझ गई हूॅ। यदि कहे तो मै दोहरा दूॅ। सुना दूॅ ?'

अरी नही। समझ गई हो तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है मेत्रेयी ! पुत्र इसलिए प्रिय नही होता कि वह पुत्र है, बेटा है। माता-पिता एक ही पुत्र पाकर खुश हो जाते। मगर नही। वे अधिक बेटे इसलिए चाहते है ताकि वे धनोपार्जन कर सके। घर की जरूरते पूरी कर सके। बुढापे का सहारा बन सके। उनकी वृद्धावस्था मे उनके लिए घर, भोजन, दवा तथा सुखो का प्रबन्ध कर सके।

अधिकतर पिता तो अपने पुत्रो को पशु नौकर के स्थान पर प्रयोग कर, अपने लिए सुविधाऍ पाते हे। यह स्वार्थ ही तो हुआ।

'धन को ही ले। लोग धन से इसलिए प्यार नही करते कि यह धन है। यदि ऐसा होता तो इसका आनन्द मिल-बॉटकर उठाते। विद्या, सगीत गीत कला, साहित्य की तरह बॉटते, मिल बेठते और मजा लेते। छिपाते नही। अपने-पराये का अन्तर न समझते। मेरे पास रहे या तेरे पास, इसकी भी चिन्ता न करते। सब लोग धन को अपने लिए चाहते है। अपने लिए प्यार करते है। अपना बनाकर रखना चाहते। इससे होने वाले सारे लाभ अपने लिए उठाना चाहते हे। बॉटने से दूर भागते है।'

'आप तो बहुत स्पष्टवादी होकर, हर ठीक बात समझा रहे है। मै आपकी आभारी रहूॅगी।'

'ब्राह्मण का जिक्र करे। ब्राह्मण के भले के लिए कोई ब्राह्मण को आदर नही देता। अपने ही भले के लिए, अपने ही मतलब के लिए आदर करते है।'

यदि कोई ब्राह्मण योग्य नही है मगर है तो ब्राह्मण। उसका आदर नही किया जाएगा। चूॅकि वह पूजा-पाठ, यज्ञ के लिए काम नही आ सकता, इसलिए उसे आदर भी नही मिलेगा।

'इसी प्रकार क्षत्रिय की बान है। लोगो की बात है। जब स्वार्थ पूरा होने की आशा हो तो प्रेम आदर, अपनापन अन्यथा नही। इसी प्रकार देवताओ की बात हे। यदि देवता से लाभ होने की आशा हो तो देवता की पूजा, अर्चना आराधना की जाएगी, वरना तू कौन तो मै कोन। देवता होते हुए भी आदर नही मिलेगा।

हर बात मे, हर जगह मतलब, स्वार्थ ऊपर होता है।'

याज्ञवल्क्य का यह भाषण बहुत लम्बा था। उन्होने अनेक उदाहरण देकर मैत्रेयी को सही ज्ञान देने मे कोइ कसर न उठा रखी। समझा दिया कि धन-दौलत मे सुख-सुविधाओ मे, रिश्ते-नातो मे, अमरत्व नही हे। अमरता पाने के लिए इन सबसे ऊपर उठना पडता है।

अब उन्होने समझाया—'अपना होना या अपना न होना ही आत्मत्व प्रिय अप्रिय का बोध कराता है। निर्धारण करता है। सच्ची बात यह है कि यह आत्मा ही सुनने योग्य है। आत्मा ही जानने योग्य है। आत्मा ही मनन करने योग्य है। यही ध्यान देने योग्य है। मैत्रेयी, इसी को देखने सुनने जानने से इसी का अनुचिन्तन करने से बाकी सबका ज्ञान हो जाता हे।'

कहते-कहते याज्ञवल्क्य रुके। थोडा सोचकर फिर कहा—'शरीर के बाहर और भीतर की भिन्नता के कारण अपने ओर पराये के बोध के कारण कुछ को अपना और शेष को पराया मानने के कारण ही दुनिया के अनेक झगडे सामने आते हे। जिन्हे हम अपना नही बना पाते, वे हमे कभी अपना नही बनाएँगे। हम अपना समझेगे, तभी दूसरे भी अपना मानेगे।

'जो लोक को अपने से अलग मानता हे लोक उसका विरोधी हा जाता हे। उसको हानि पहुँचाने पर तुल जाता है।

'जो देवताओ को अपना नही मानता देवता उस समाप्त करने पर उतारू हो जाते हे।

'जो भूतो को अपने से भिन्न मानते है भूतगण उसे पराजित कर देते हे। जो सबका अपना शत्रु मानता हे, सभी उसके शत्रु हो जाते हे।

'मेत्रेयी ! याद रहे यह नानाजन, वर्ण विभाग सम्प्रदाय प्राणी, देवता, भूतगण आत्मा से भिन्न नही होते। इनका आत्मा से विरोध कभी हुआ ही नही। बस जरूरत है आत्मा को अपना मानने की। सब कुछ मानने की। इससे सबको अभिन्न मानो।'

याज्ञवल्क्य ने अपना प्रवचन अभी जारी रखा था, कि मैत्रेयी ने बीच मे टोकफर अपना प्रश्न दाग दिया। प्रश्न था—'आप तो ठीक कह रहे है। मगर क्या आत्मा को समझाना, इसे देखना, पकडना, अपने बस मे रखना अपनी इच्छानुसार चलाना सम्भव है ?'

प्रश्न थोडा टेढा था। याज्ञवल्क्य के लिए इसका उत्तर देना बिलकुल भी कठिन नही था। मगर क्या उसकी बात मैत्रेयी की समझ मे आसानी से आ जाएगी, यही समस्या थी।

यह ऐसा प्रश्न था जो जनक के साथ कई बार चर्चा मे आया। सवाद हुए।

याज्ञवल्क्य कहते थे—'अक्सर ऐसा होता है कि किसी की बात सुनते-सुनते मन भटकने लगता है। विचलित हो जाता हे। शरीर वही पडा होता है जबकि मन कही अन्यत्र पहॅुच जाता है। कहो मेत्रेयी ! मेने जो कुछ पहले कहा, उसे तुमने ठीक से सुना-समझा भी या नही ?'

'हॉ प्राणनाथ ! मुझ पर सन्देह न करे। जो कुछ आपने कहा ओर जो उसका अर्थ था मकसद था, मै खूब समझ गई हूॅ। यदि कहे तो मै दोहरा दूॅ। सुना दूॅ ?'

'अरी नही। समझ गई हो तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती हे मेत्रेयी ! पुत्र इसलिए प्रिय नही होता कि वह पुत्र है बेटा है। माता-पिता एक ही पुत्र पाकर खुश हो जाते। मगर नही। वे अधिक बेटे इसलिए चाहत हे ताकि वे धनोपार्जन कर सके। घर की जरूरते पूरी कर सके। बुढापे का सहारा बन सके। उनकी वृद्धावस्था मे उनके लिए घर, भोजन, दवा तथा सुखो का प्रबन्ध कर सके।

'अधिकतर पिता तो अपने पुत्रो को पशु नौकर के स्थान पर प्रयोग कर अपने लिए सुविधाऍ पाते ह। यह स्वार्थ ही तो हुआ।

'धन को ही ले। लोग धन से इसलिए प्यार नही करत कि यह धन हे। यदि ऐसा होता तो इसका आनन्द मिल-बॉटकर उठाते। विद्या सगीत, गीत कला, साहित्य की तरह बॉटते, मिल बेठते ओर मजा लेते। छिपाते नही। अपने-पराये का अन्तर न समझते। मेरे पास रहे या तेरे पास, इसकी भी चिन्ता न करते। सब लोग धन को अपने लिए चाहते है। अपने लिए प्यार करते है। अपना बनाकर रखना चाहते। इससे होने वाले सारे लाभ अपने लिए उठाना चाहते हे। बॉटने से दूर भागते है।'

'आप तो बहुत स्पष्टवादी होकर, हर ठीक बात समझा रहे है। मै आपकी आभारी रहॅूगी।'

'ब्राह्मण का जिक्र करे। ब्राह्मण के भले के लिए कोई ब्राह्मण को आदर नही देता। अपने ही भले के लिए, अपने ही मतलब के लिए आदर करते हे।'

यदि कोई ब्राह्मण योग्य नही है, मगर हे तो ब्राह्मण। उसका आदर नहीं किया जाएगा। चूॅकि वह पूजा-पाठ यज्ञ के लिए काम नही आ सकता, इसलिए उसे आदर भी नही मिलेगा।

'इसी प्रकार क्षत्रिय की बात हे। लोगो की बात है। जब स्वार्थ पूरा होने की आशा हो तो प्रेम आदर अपनापन अन्यथा नही। इसी प्रकार देवताओ की बात हे। यदि देवता से लाभ होने की आशा हो तो देवता की पूजा अर्चना आराधना की जाएगी, वरना तू कोन तो मे कोन। देवता होते हुए भी आदर नही मिलेगा।

हर बात मे, हर जगह मतलब, स्वार्थ ऊपर होता है।'

याज्ञवल्क्य का यह भाषण बहुत लम्बा था। उन्होने अनेक उदाहरण देकर मेत्रेयी को सही ज्ञान देने मे कोइ कसर न उठा रखी। समझा दिया कि धन-दौलत मे, सुख-सुविधाओ मे रिश्ते-नातो मे, अमरत्व नही हे। अमरता पाने के लिए इन सबसे ऊपर उठना पडता है।

अब उन्होने समझाया—'अपना होना या अपना न होना ही आत्मत्व, प्रिय अप्रिय का बोध कराता है। निर्धारण करता है। सच्ची बात यह है कि यह आत्मा ही सुनने योग्य है। आत्मा ही जानने योग्य है। आत्मा ही मनन करने योग्य हे। यही ध्यान देने योग्य है। मैत्रेयी, इसी को दखने, सुनने जानने से, इसी का अनुचिन्तन करने से बाकी सबका ज्ञान हो जाता है।'

कहते-कहते याज्ञवल्क्य रुके। थोडा सोचकर फिर कहा—'शरीर के बाहर और भीतर की भिन्नता के कारण, अपने ओर पराये के बोध के कारण, कुछ को अपना और शेष को पराया मानने के कारण ही दुनिया के अनेक झगडे सामने आते है। जिन्हे हम अपना नही बना पाते वे हमे कभी अपना नही बनाएँगे। हम अपना समझेगे तभी दूसरे भी अपना मानेगे।

'जो लोक को अपने से अलग मानता हे लोक उसका विरोधी हो जाता हे। उसको हानि पहुँचाने पर तुल जाता है।

'जो देवताओ को अपना नही मानता, देवता उस समाप्त करने पर उतारू हो जाते है।

'जो भूतो को अपने से भिन्न मानते हे, भूतगण उसे पराजित कर देते है। जो सबको अपना शत्रु मानता है, सभी उसके शत्रु हो जाते है।

'मैत्रेयी ! याद रहे यह नानाजन, वर्ण विभाग, सम्प्रदाय, प्राणी, देवता भूतगण आत्मा से भिन्न नही होते। इनका आत्मा से विरोध कभी हुआ ही नही। बस जरूरन है आत्मा को अपना मानने की। सब कुछ मानने की। इससे सबको अभिन्न मानो।'

याज्ञवल्क्य ने अपना प्रवचन अभी जारी रखा था कि मैत्रेयी ने बीच मे टोकक़र अपना प्रश्न दाग दिया। प्रश्न था—'आप तो ठीक कह रहे है। मगर क्या आत्मा को समझाना, इसे देखना, पकडना, अपने बस मे रखना, अपनी इच्छानुसार चलाना सम्भव है ?'

प्रश्न थोडा टेढा था। याज्ञवल्क्य के लिए इसका उत्तर देना बिलकुल भी कठिन नही था। मगर क्या उसकी बात मैत्रेयी की समझ मे आसानी से आ जाएगी, यही समस्या थी।

यह ऐसा प्रश्न था जो जनक के साथ कई बार चर्चा मे आया। सवाद हुए।

बार-बार के ध्यान और चिन्तन के बाद भी अनेक शकाएँ सामने आई। यह हो सकता है। वह भी हो सकता है। ऐसा नही। हॉ वैसा है। जैसे अनेक वाक्य हर उत्तर के साथ जुडते रहे। ऐसे प्रश्न के उत्तर को जब याज्ञवल्क्य समझाएँगे तो क्या यह मेत्रेयी को, आसानी से, समझ मे आ जाएगा। ऐसा नही लग रहा था याज्ञवल्क्य का। उनकी पत्नी को गम्भीर विषयो के बारे मे जानकारी नही है, अत इस कठिन विषय के उत्तर को आसान कैसे बनाकर बताया जाए ? पता न चल रहा था।

वह इसी सोच मे परेशान हो उठे थे। दिमाग पर बार-बार जोर डालते रहे। आखिर उन्हे एक उपमा सूझी। एक किरण नजर आई। एक रास्ता दिखाई दिया। आशा बॅधी।

अमूर्त को पकडना चाहो तो नही पकड सकते। हॉ यदि मूर्त को पकडा जाए तो उसी के माध्यम से अमूर्त ओर मूत, दोनो काबू मे आ जाएँगे। हॉ यदि भौतिक जगत् को समझ ले तो आत्म-तत्त्व अधिक सुगमता के साथ समझा जा सकेगा। ऐसा उन्होने सोचा। यही रास्ता था जो उन्हे नजर आ रहा था।

याज्ञवल्क्य के मन ने कहा—‘मै क्या करता रहा हूॅ अब तक भला ' यही तो सबको समझाता रहा हूॅ। आत्मा को पकडने के लिए अपनी इन्द्रियो को अपने बस मे करो। यही पहला प्रयास हो सकता हे। इन्द्रियो की बाहर की दौड रुक गइ इनके पीछे परेशान होना बन्द कर दिया विषयो मे रुचि लेना बन्द हो जाए तो अपने आप पर नियन्त्रण हो जाएगा। आत्मनियन्त्रण हो सकेगा।

यदि काम क्रोध, लोभ, मद, मत्सरता से मुक्ति पा सके तो ही आत्मा के होने का बोध भी होगा। जान सकेगे आत्मा को। उसकी आवाज भी सुन पाएँगे। आत्म साक्षात्कार भीं होगा। तभी तो आत्म-विजय भी पाई जा सकेगी। यहॉ पहॅुचकर तो तेरी-मेरी भी खत्म हो जाती है।’

याज्ञवल्क्य का मन कह रहा था—‘है कोइ जो दुदुभि की आवाज को पकड पाए ? ऐसा सम्भव नही है। यदि आवाज उठेगी—तो जहॉ तक जा सकती है, जरूर पहुचेगी। ओर अगर हम दुदुभी को पकड ले, तब तो दुदुभी और उसकी आवाज, दोनो एक साथ हमारे वश मे आ जाएँगी। यदि इच्छा हो तो इसे बजा ले, यदि इच्छा न हो तो न बजाएँ। आवाज भी ऊँची या कम निकाल सकते हे। लगातार भी बजा सकते है रोक-रोक कर भी। सूक्ष्म का ज्ञान स्थूल के माध्यम से ही हो सकता है।’

यह, ठीक इसी प्रकार से याज्ञवल्क्य ने अपनी छोटी पत्नी मेत्रेयी को समझा दी। और उसक पल्ले भी पड गई। पत्नी के चेहरे पर चमक दखकर पति जान गए कि उनका समझाना-बताना काम आया। ठीक बैठा।

याज्ञवल्क्य ने आज अपनी पत्नी के ज्ञान मे निरन्तर वृद्धि करने का मन बना रखा था। उन्होने उसे वेद और शास्त्र की भ्रामकता को स्पष्ट करना था। पुरातनपथी बार-बार वेद की दुहाई देकर अनर्गल विचारो और मान्यताओ को लादते रहे है। इसी से हमारी समझ बिगडती रही है। मलिन भी होती रही हे। ज्ञान से प्रकाश फूटे तभी अच्छा। यदि यह अन्धकार पैदा करे तब क्या फायदा इसका।

पूछने पर पत्नी ने बताया कि वेद-शास्त्रो मे उसकी पूरी आस्था रही हे। आगे भी बनी रहेगी।

याज्ञवल्क्य का मन मानता है कि जिन्होने वेद-शास्त्र लिखे उन्होने अपने हित को जरूर सामने रखा। उन्होने अपने आपको ऊॅचा सिद्ध करने की पूरी कोशिश की। इसके लिए अपने ज्ञान का उपयोग जरूर किया मगर अपने भले के लिए। प्रकाश और उष्मा के स्थान पर गीली लकडी डाल धुऑ पैदा कर दिया। यह ठीक नही।

याज्ञवल्क्य के मन मे वेदो-शास्त्रो के प्रति पूरा आदर था। मगर जो बात भ्रामक हैं, उसे कहने मे कोइ हर्ज नही।

मैत्रेयी ने पूछ लिया—'माना कि यह सारा ज्ञान भ्रामक है तो ऐसा क्या ह जो भ्रामक न हो ? यदि इनसे प्रकाश न पाकर धुऑ पाते हे तो प्रकाश कहॉ से प्राप्त होगा।'

जो कुछ भी याज्ञवल्क्य ने उत्तर मे कहा, उसका हिन्दी रूपान्तर यह होगा—'प्रकाश का स्रोत यह बोध हे। यही है समस्त ऐद्रिय विषयो का अयन, अन्तिम आश्रय या विलय स्थली हमारी अपनी इन्द्रियॉ है ओर इस तरह बाह्य जगत् हमारे भीतर भी विद्यमान होता है।

जिस प्रकार समस्त जलो का अयन या स्रोत और विलय स्थल समुद्र है, उसी प्रकार समस्त स्पर्शो का एक अयन हमारी त्वचा है। समस्त गन्धी का एक अयन नासिका है। समस्त रसो का एक अयन जिह्वा है।

समस्त रूपो का एक अयन चक्षु है। समस्त शब्दो का एक अयन कान हे। समस्त सकल्पो का एक अयन मन है। समस्त विधाओ का एक अयन हृदय हे। समस्त कार्यो का एक अयन हाथ है। समस्त आनन्दो का एक अयन उपस्थ है।

समस्त विसर्गो का एक अयन गुदा है। समस्त मार्मो का एक अयन चरण है। समस्त वेदो का एक अयन वाणी है।'

कहते-कहते याज्ञवल्क्य थोडा रुके। विराम के बाद फिर आगे कहा—' अपनी अन्तिम परिणति मे हम स्वय क्या है ?

समुद्र से अलग हुए, सूखकर नमक का डला ही तो बने। देखे तो उसमे समुद्र जेसी कोई बात है ही नही। यदि यह पृथकता का, अलग होने का बोध

समाप्त हो जाए, नमक का डला उसी पानी मे घुल जाए, तो उसे पानी से अलग नही देखा जा सकता। नही पहचाना जा सकता। उसी मे खो गया। समा गया।

प्रकाश का स्रोत यह बोध है। यदि हम देवबद्धता और इन्द्रियबद्धता से आजाद हो जाएँ तो हमारी अपनी स्थिति भी नही रहेगी। हमारी विशेष पहचान भी खत्म हो जाएगी।'

आइए, जाने और क्या सोचते थे याज्ञवल्क्य। 'मै तत्त्वदर्शी हूँ'। मेरे लिए मृत्यु की कल्पना मुक्ति की कल्पना से अलग नही है। मुक्ति पाने के लिए मरना जरूरी नही। अपने स्वरूप का ज्ञान कर लेने मात्र से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।'

मगर मैत्रेयी की सोच कुछ अलग थी। वह मृत्यु को अलग तरह से समझती थी। समग्रत विलीन हो जाने की कल्पना उसके लिए बहुत व्यग्र करने वाली थी। वह स्त्री होने के कारण डरपोक थी। दुर्बल स्वभाव की थी।

ब्रह्मवादी मानते है–'एक ही ब्रह्म या परम सत्ता से निकले और मृत्यु के बाद उसी मे विलीन हो जाने वाले है सभी प्राणी।'

मैत्रेयी ने कहा था–'हे प्राणनाथ ' आपने तो यह कहकर मुझे मोह मे डाल दिया कि शरीर के अवसान के बाद व्यक्ति की कोई पृथक् सत्ता या सज्ञा ही नही रह जाती।'

याज्ञवल्क्य को लगा कि जहॉ से चले थे, फिर वही पहुँच गए। सारा परिश्रम बेकार। यह तो गुड-गोबर हो गया। धीरे-से बोले–'नही। मेरा ऐसा कोई अभिप्राय नही है। तेरे मन मे मोह पैदा करने को नही कहा मैने केवल उस ब्रह्मतत्त्व का विज्ञान कराने के लिए कहा है मैने। जिस अमरता की तू बात पूछ रही थी। वही तो है यह।

मै तो कह रहा था कि किसी इतर का स्पर्श करना, इतर को देखना इतर को सूँघना, इतर को सुनना, इतर का मनन करना, यह सारा भेद हमारी बुद्धि के कारण होता है। देखो ' जहॉ यह भेदबुद्धि समाप्त हो गई पृथकता मिट गई, वही सब ठीक। तब न तेरा न मेरा। तब तो सब कुछ ही आत्मामय हो जाता हे। ब्रह्ममय समझो। न ऑख स्वय को देख सकती हे। न त्वचा अपने को छू सकती है। न नाक अपने को सूँघ सकती है। जिह्वा अपना स्वाद नही चख सकती।

इसीलिए कहा है कि ब्रह्ममय हो जाने पर पृथकता का बोध नही रह जाता।

ऋषि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी अब बेहद प्रसन्न थी। उसके चेहरे के भाव स्पष्ट कह रहे थे कि उसे प्रकृति, जीव, ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो गया है। उसके मन पर बैठा ॲधेरा छॅट गया है। याज्ञवल्क्य के प्रयत्न फल लाए।

अन्न ही ब्रह्म है

इन्द्र बहुत बदनाम होते रहे है। उन पर परस्त्री के प्रति आसक्ति व्यभिचार आदि अनेक दोष मढे जाते रहे है। जिस स्थान पर इस समय इन्द्र ने कब्जा किया हुआ था देवा मे यह श्रेष्ठतम पद कभी वरुण के पास था। वरुण भी वही कुछ करते रह थे जो उनके बाद आने वाल इन्द्र ने किया था। दोनो पर-पत्नी-सुख पाते रहे ह, इसमे सन्दह नही।

उपनिषद् की इस कथा के नायक वरुण के कारनामो की धाक जमी रही। अनेक ऋषि-मुनियो को उनकी सन्ताने माना जाता रहा हे। इन्द्र का साथ चन्द्रमा भी देते रहे। चन्द्रमा ने वरुण का भी खूब साथ दिया। व्यभिचार मे वे सहयोगी रहते रहे। इसलिए कुछ ऋषियो को दोनो की सन्ताने माना जाता रहा हे।

जो ऋषि वरुण से, इन्द्र स, चन्द्रमा से या किन्ही दो के प्रयन्ना और खुरापातो के कारण पेदा हुए, उन्हे अन्य ऋषियो से बेहतर माना जाता रहा। क्योकि एक तो उनमे देवताओ का बीज था, दूसरे देवताओ से कृपा उपदेश शिक्षा भी उन्हे मिलती रही हे। महर्षि वसिष्ठ, अगस्त्य को इसी कारण अधिक सम्मान मिलता रहा। भृगु पर वरुण की विशेष कृपादृष्टि रही हे। वह वरुण की पूजा भी करते हे। उन्हे पिता के साथ अपना गुरु भी मानते हे। उनकी नजरो मे इन्द्र तो शून्य था तथा वे इन्द्र की पूजा भी नही करते।

वसिष्ठ आदि ऋषि म यह कट्टरपन न था। वह दोनो की आराधना कर लिया करते थे।

ऋषि भृगु के मन मे कोई प्रश्न उठे। इनका उत्तर चाहिए था। जा पहुँचे वरुण के पास सीधे। प्रणाम करने के बाद विनयपूवक कहा—'मेरे पिता भी आप ही ह। मेरे गुरु भी आप ही हे। मेरा मार्गदर्शन आप करते रहे हे। आज भी करे।'

'हॉ-हॉ, बेटा पूछो, क्या पूछना है।'

'लोग ब्रह्म के विषय मे पूछते है। उनकी जिज्ञासा बढती जा रही है। मे भी जानना चाहता हूँ, ताकि प्रश्नकर्ता को उत्तर तो दे सकूँ। कृपया मुझे बताएँ।'

'हॉ बताता हूँ। बेटा भृगु ' याद रखो कि अन्न प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी ये सभी ब्रह्म के रूप हे। ब्रह्म की सिद्धि क निश्चित द्वार। जो कोइ इन सभी

को समझ सके, वही ब्रह्म को भी जान जाएगा। कोशिश की जा सकती हे।

और ब्रह्म उसे कहते है जिससे पूरा भूत जगत् पैदा होता है। उसी के आसरे जीवित रहता है। अन्त समय मे वह उसी मे लीन भी हो जाता है। उसे ही ब्रह्म कहेगे। प्रयत्न करो। उस ब्रह्म को अवश्य जानो।'

ऋषि भृगु ने वरुण की बात को मन मे बिठा लिया। शुरूआत भी अन्न से ही की। भृगु ने अन्न को ब्रह्म मानकर चिन्तन शुरू किया। उन्हे लगा कि यह अन्न ही तो है जिससे वीर्य का निर्माण होता है। इसी वीर्य से प्राणी बनते हें। सृष्टि की वृद्धि होती हे। ऋषि भृगु ने अब जान लिया कि अन्न ही ब्रह्म का प्रथम लक्षण हे।

यदि किसी को भोजन न मिले अन्न की प्राप्ति न हो, वह मर जाएगा। मरने के बाद वह भी अनेक जीवो का भोजन बनेगा। भूमि मे समा जाएगा। अत अन्न हे तो जीवन भी है। यही बात भृगु ने लौटने के बाद पिता वरुण से कह दी। वरुण बहुत प्रसन्न हुए।

तब वरुण ने ऋषि भृगु से कहा—'इतना काफी नही। जाओ और तप करो। ब्रह्म को और अधिक जानने का प्रयत्न करो।'

ऋषि ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। अन्न ही ब्रह्म हे तो जान गए थे। अब तक के फल पर वह जान सके कि प्राण ही ब्रह्म है।

ब्रह्म के जो लक्षण अरुण देव ने उन्हे बताए थे, वे सारे प्राण मे मौजूद थे। वह जान गए कि लोग प्राण के कारण ही जीवित रहते है। अन्त मे प्राणो के निकल जाने के साथ ही प्राणी भी समाप्त हो जाता है। वरुण के पास गए। जाकर अपनी खोजबीन की 'रिपोर्ट' जमा करवा दी। कह दिया कि मै ब्रह्म को पूरी तरह जान गया हूँ। प्राण ही ब्रह्म है।'

'नही बेटा, नही। अभी तुम्हारी साधना मे कुछ कमी है। और कठिन तपश्चर्या करो। ब्रह्म को अन्न और प्राण तक सीमित मत रखो। ओर बारीकी से ढूँढो।'

ऋषि भृगु को लगा कि कही कोई कसर बाकी है। लौट गए। जा बैठे तपोभूमि मे। खूब चिन्तन किया और मन को ब्रह्म मानकर वरुण को सूचित किया। ठीक है, तुम्हारी नजरो मे सच्चाई निकट आ रही है। तुम मन को ब्रह्म कहते हो यह ठीक है। मगर अभी भी अधिक प्रयत्न की जरूरत है। एक कोशिश और करो।

अन्न, प्राण, मन तक का गहन चिन्तन और निष्कर्ष निकाल चुके थे ऋषि भृगु। अगले प्रयत्न के बाद, और अधिक चिन्तन के बाद उन्होने विज्ञान को ब्रह्म कहा। इसका उन्हे भरोसा भी था।

अगली कोशिश के अन्त मे ऋषि भृगु ने 'आनन्द' को ब्रह्म माना। सोचने

लगे—'आनन्द ही ब्रह्म हे। आनन्द से ही सभी प्राणी पदा होते ह।' इस विचार के आत ही भृगु बेफिक्र हो गए। वह सोच रहे थे—'आनन्द मे ही लाग लीन ग्हते ह। आनन्दपूवक जीते हे। अत आनन्द ही ब्रह्म हे। यह यकीनन बान ह।' कुछ इस प्रकार सोचकर वह फिर वरुण स मिले। आश्वस्त हाकर अपना निष्कष बता दिया। साथ ही कहा—

'वरुण देव' अब मेरा निष्कष अधूरा नही हा सकता। ना आनन्द म्वरूप ब्रह्मा को जान लेता ह उसकी प्रतिष्ठा बढनी है। उम किसी पदाथ क्री कमी नही होती। वह अन्नवान हो जाता हे। उसे नाना प्रकार के भोग्य पदार्थो की प्राप्ति हो जाती हे। उसकी हैसियत बाकी सबसे ऊपर हो जाती हे। उसका परिवार बढता रहता हे। वश चलता रहता है। उसे अन्न, धन, पशु-धन की भी कमी नही होती। वह ब्रह्मतेज पाता हे। उसके चेहरे पर नूर होता हे। उसका सब सम्मान करत ह। यह सब कह दिया ऋषि भृगु ने पिता वरुण से। ओर फिर सन्तुष्ट होकर खडे हो गए।

इससे पूव कि वरुण से कोइ उत्तर आता स्वय भृगु सोचन लगे—'कही मे गलत तो नही। मान लो किसी को अन्न नही मिला। उसका पट खाली हे। भूख से तडप रहा है। कहॉ से पाएगा आनन्द। वह आनन्द जिसे मेने अन्तिम मानकर ब्रह्म कहा है वह भूखे व्यक्ति को तो मिल ही नही सकता। अत अन्न पहले। आनन्द बाद मे। अन्न ही तो परम ब्रह्म हे। अन्न नही तो प्राणी जीवित नही रह सकता। प्राण भी बाद मे।'

वह सोच रहे थे—'बिना अन्न शरीर का पालन सम्भव नही। शरीर हे तो इसमे प्राण रहेग। इस प्रकार अन्न ही अन्न मे स्थित है। जो इस बात को खूब जान-समझ लेता है, उसे किसी प्रकार की कमी नही रहती। उसे सारे लाभ प्राप्त हो जाते हे। उसे वे सभी मान सम्मान, प्रतिष्ठा मिल जाती है जा ब्रह्म को आनन्दरूप मे जानने से उपलब्ध होती है।'

वरुण तो अपने ध्यान मे बेठे थे। मगर ऋषि भृगु आगे सोच रहे थे—'वे मूख है जो अन्न का आदर नही करते। इसे सम्मान नही देते। इसकी यदा-कदा अवहेलना किया करते है। अन्न ही व्रत है। अन्न ही जल हे और जल ही अन्न है। अन्न ही ज्योति आनन्द है।

'जल मे ज्योति प्रतिष्ठित है। और ज्योति मे जल है। इसे ठीक माने तो अन्न अन्न मे लीन है। प्रतिष्ठित है।'

सोचते-सोचते मन मे विचार आया—'भोतिक विकास भी जरूरी हे। अधिक-से-अधिक अन्न होगा तो अधिक-से-अधिक प्राण सुरक्षित रह पाएँगे। यही व्रत है।

'मे तो कहूँगा कि पृथ्वी स्वय अन्न है। पृथ्वी मे आकाश और आकाश मे पृथ्वी प्रतिष्ठित है। एक बार फिर अन्न मे अन्न का प्रतिष्ठित होना जाना जा सकता हे। सच्ची बात तो यह भी है कि जो इस सूक्ष्म रहस्य को समझ लेता है। भौतिक पक्ष को भी ठीक मानने लगता हे।

'उस मनुष्य को किसी प्रकार की कमी नही होगी। वह प्रतिष्ठित हो सकेगा। उसका परिवार सुखी हागा। बढता रहेगा। उसका तेज बढता है। लोग मान करते हे। चारो ओर उसका यश फेलता है।'

अत अन्न ही ब्रह्म है। ऐसा सोचते-सोचते भृगु ऋषि भी समाधिस्थ हो गए। उनके चेहरे पर सन्तोष का तेज स्पष्ट दिखाई देने लगा। उन्हे जो पाठ वरुण ने अभ्यास करने के माध्यम से दिया, यह उनके मन पर चिरस्थायी प्रभाव बनाए रखेगा। वह जान गए कि ब्रह्म क्या है, यही तो उनका प्रश्न भी था।



मधुविद्या की जानकारी

आज की उपनिषद् की यह कथा मनुष्य का सिर काटकर उस पर हाथी का सिर जोड देने, फिर इस सिर को कभी न हटा पाने से शुरू होती हे। आगे, आदमी का सिर काटकर उस पर घोडे का सिर लगाने, एक बार फिर इस घोडे के सिर को हटाने तथा आदमी का सिर लगाने जैसी घटनाओ से आगे बढते हुए अपनी परिणति को प्राप्त करती है।

आदमी का सिर काटकर उस पर हाथी का सिर चिपकाने का कमाल भगवान् शिव ने किया था। पार्वती को नाराज करना, उसके कहे को न मानना उनके बस से बाहर की बाते थी। उसी हाथी का सिर लगे शरीर को मगलकारी सकट दूर करने वाला, विघ्नो को हरने वाला, सबसे पहले पूजित देवता बनाकर सबके लिए कल्याण का माग खोल दिया मॉ पार्वती तथा भगवान् शिव ने। मगर वह, इस हाथी के सिर को कभी भी, किसी भी अवस्था मे, मनुष्य के शरीर से अलग न कर पाए।

आगे देखिए। एक विनोदी ब्रह्मवादी ने इससे भी थोडा आगे बढने ओर शल्य चिकित्सा का कमाल दिखाने का कमाल कर दिखाया। हमारा मतलब हे कि अश्विनीकुमारो ने उस काल मे, जब बडे-बडे ऑपरेशन थियेटर न थे, इस कार्य को कुछ ही पलो मे कर दिखाया। आदमी का सिर कटा। उस पर घोडे का सिर जोडा। जब फिर जरूरत नही रही घोडे के इस सिर की, इसे हटा दिया। फिर लगा दिया आदमी का सिर। ओर यह सिर ठीक प्रकार से, पूववत् अपना कार्य करता रहा। बाल उगते रहे। दाढी-मूँछ आती रही। नाक चलती रही। सूँघती रही। कान सुनते रहे। दॉत बजते रहे। भोजन चबाते रहे। गले से भोज उतरता रहा। पानी पीता रहा। मुँह बोलता रहा। वाणी अपना काम करती रही। पूववत् थूकना तक जारी रखा इस आदमी के सिर ने। इससे बडा कमाल क्या होगा। शल्य चिकित्सा की इससे बडी मिसाल और कौन-सी होगी। कोई भी नही। ब्रह्मवादी सब कुछ कर सकते है, इस घटना से तो यही नतीजा सामने आता है। तभी तो कहते है कि शल्य-चिकित्सा के ये आदि आचार्य थे।

आगे देखिए। सफलता सिर चढकर बोलती है। अपना अस्तित्व दिखाती है।

अपना आभास कराए बिना रह नही पाती। अश्विनीकुमारो की इस सफलता ने उन्हे इतना व्यग्र कर दिया कि वे उलट-पुलट करने मे आनन्दित होते। सीधा काम करने मे उन्हे कम मजा आता।

विश्पला लाचार हो गई। टॉग टूट गई। एक जगह से नही। बल्कि एक ही टॉग के कई टुकडे हो गए। हड्डी स्थान-स्थान से टूट गई। इसको जोड तो देते अश्विनी कुमार, मगर सोचा कि यह कही लॅगडाती न फिरे उन्होने तब (उस जमाने मे) एक धातु की टॉग बनाई और स्थापित कर दी विश्पला के शरीर मे। कुछ ही दिनो मे विश्पला भागने लगी। क्या कर सकता था कोई अन्य ऐसा उस काल मे ? बिलकुल नही।

अश्विनीकुमारो को जब कभी मधु पीने की इच्छा होती, मधुपान को मन करता, यम को बुला लेते। पीपल के वृक्ष के तले, आसपास या ऊपर बैठकर चोकडी जमा लेते। मिलकर पीते। प्याले बदलते। गप्पे हॉकते। ऐसो को भला मोत से डरने की क्या आवश्यकता थी !

महर्षि च्यवन बूढे हो गए। मगर मन मे आया कि जवानी वाले कारनामे फिर से किए जाऍ तो ही मजा हे। युवावस्था का फिर से और भरपूर आनन्द लिया जाए तभी असली मौज होगी। तभी आनन्द आएगा। अश्विनीकुमारो तक पिता की यह इच्छा पहॅुची। कह दिया—'पिताजी ! चिन्ता मत करे। यौवन से भरपूर जीवन फिर से बिता पाऍगे आप। हम जो है आपकी सेवा मे। और सच कर दिखाया। च्यवन अभूतपूर्व यौवन के स्वामी बन गए। लगे दण्ड बैठके करने। मौजमस्ती मे झूमने। यह कमाल था इन अश्विनीकुमारो का ही। इस घटना के पूर्व अथवा बाद मे, फिर कभी कोई बूढा पूरी तरह नौजवान नही हो पाया।

उस काल मे मधुविद्या का पूरे ससार मे, एक ही पूरी तरह ज्ञाता था। नाम था दध्याग आथर्वण। अश्विनीकुमारो को मधुविद्या का पूर्ण ज्ञान पाने की ललक सवार हो गई। इन्द्र, मरुतो और अश्विनीकुमारो को मधु से जितना प्रेम था, प्यार था, उतना किसी अन्य को न हुआ करता। अश्विनी कुमार चाहते थे कि वह इस विद्या को पूरी तरह जान-समझ ले और उनकी इस इच्छा को पूर्ण करने के लिए उन्हे सोमदेव के पास जाना पडा।

दध्याग था भी अथर्व परम्परा से जुडा हुआ। उसी का अभिन्न अग समझे। अथर्ववेद को लिखने वाले थे अथर्वागिरस। उनकी चमत्कारी शक्तियॉ अभूतपूर्व मानी जाती थी। इस वेद मे अनेक जादू-टोने, चमत्कार, असम्भव को सम्भव करने वाले फार्मूले मौजूद है।

कभी मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य की जिज्ञासा पूरी करते हुए अमरता का उपदेश दिया था। वह उपदेश और कुछ नही, मधुविद्या ही तो है। यदि यह कहे कि यह

मधु ही अमृत है, तो कोई गलती न होगी। यह हम नही कह रहे, इसे तो हमारे पवित्र वेद भी स्वीकारते है।

जब अश्विनीकुमारो ने मधु का, अमृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया तो फिर उन्हे डर किसका ' मौत से कभी नही डरे। जब जी मे आया मौत से गले मिलने चल पडे। बल्कि मौत को ही डराते रहे। धमकाते रहे। घर मे मधु, रास्ते मे मधु, पडाव के समय मधु। यह उनके जीवन का हिस्सा बन गइ। बहुत शोकीन हो गए वे मधु के।

एक समय था जब लोग अश्विनीकुमारो को केवल अश्वपालक ही मानते थे। मगर जब उनके हाथो मे मधुविद्या पूरी तरह आ गई ओर जी भरकर इसका सेवन भी शुरू कर दिया, तब वह तरह-तरह की युक्तियाँ तरह-तरह के कारनाम करने लगे। लोगो मे अपनी पहचान बनाने लगे। लोग उन्हे जानने लगे।

अश्विनीकुमारो को सीधे तोर पर तो लोग जुडवॉ भाइ मानते थ। यह सत्य है या नही हम इस वाद-विवाद मे क्यो जाएँ। हॉ, उनको सदा एक साथ देखा जाता। जो कहते एक साथ कहते। जो खाते, एक साथ खाते। कुछ पीने की इच्छा होती तो वह भी एक साथ ही। स्वभाव ऐसा रहा था कि वे जरूर जुडवॉ भाइ रह होगे। वास्तव मे जुडवॉ भाइ भी इस प्रकार का व्यवहार नही करते, जेसा ये करते थे।

कुछ विद्वानो का मानना है कि ये एक ही जुए मे एक साथ जुडने वाले दो जीव थे। बाद मे इनका मानवीकरण किया गया। दैवीकरण कहे तो भी कोइ गलती न होगी। आगे देखिए विद्वानो की दलील। वे कहते ह—'अश्विनी' या 'घोडी का बेटा' कोई आदमी नही होता।

कोई कुछ कहे, कोई कुछ माने, मगर यह एक सत्य हे कि मधुविद्या बहुत ऊँची है। कमाल का ज्ञान है यह। इसे पाना अश्विनीकुमारो ने अपना लक्ष्य बना लिया था। इसीलिए जा पहुँचे दध्यग की शरण मे। विनयपूर्वक कहा। हाथ जोडे। चेहरे पर मासूमियत लाए। अपनी इच्छा बताई। मधुविद्या को इस ज्ञान को पाने की प्रबल कोशिश की।

महर्षि दध्यग, जो मधुविद्या के खूब जानकार थे, बल्कि अकेले ही इस ज्ञान का जानते थे, सकट मे पड गए। शरण मे आए अश्विनीकुमारा को विद्या देना चाहते थे। उनकी झोली खाली नही रखना चाहते थे। उनकी श्रद्धा का उपहास नही करना चाहते थे। मगर उन पर एक पाबन्दी थी। यह पाबन्दी इन्द्रदेव ने लगा रखी थी। उन्हे यह अधिकार नही था कि वह मधुविद्या का ज्ञान किसी और को भी दे।

दध्यग बडी लाचारी से गुजरने लगे। मधुविद्या अश्विनीकुमारो को सिखा देते

है तो शर्त व पाबन्दी की अवहेलना के कारण इन्द्र उनका सिर काट देगे। मध्यग इस बात से परिचित थे। वह अपना सिर बचाएँ या अश्विनीकुमारो को मधुविद्या सिखाएँ, इन दो मे से उन्हे एक को चुनना था। बडे ही सकट मे फँस गए ऋषि मध्यग। उनके सिर पर तलवार लटकने लगी। जिज्ञासु व श्रद्धालु खाली जाएँ, अथवा वह अपना सिर कटवाएँ। यही था प्रश्न।

इन्द्रदेव कुछ भी कर सकते थे। सक्षम थे। साथ ही उनकी नीयत ऐसी थी कि वह कुछ भी गलत करने मे जरा भी पीछे नही रहते थे। कुटिला उनमे कूट-कूटकर भरी थी। ईर्ष्या उन्हे अपने शिकजे मे घेरे रहती। लोभ भी उन्हे कम न था। ऐसा देव—इन्द्रदेव कुछ भी कर सकता था।

मधुविद्या कोई छोटी मोटी विद्या न थी। भला इसे हर कोई क्यो जाने ? तब तो किसी का, किसी का डर भी नही रहेगा। त्वाष्ट्र विद्या ही मधुविद्या है। इसी को सूर्य सम्बन्धी विद्या कहते है।

आथर्वण दध्यग का नाम लेने से अनेक भाव सामने आ जाते है। दधीचि को भी याद किया जाता हे। उन्हे इन्द्र का भय खाता जा रहा था। मन इसलिए भी बेचैन था कि शरणागत को सुपात्र को वह यह विद्या नही दे पाएँगे। करे तो क्या ? रोके तो कैसे ? ज्ञान बॉटे तो कैसे ? दुविधा से गुजर रहे थे दध्यग। उनसे रहा न गया। वास्तविकता बता दी अश्विनीकुमारो को। इन्द्र की शर्त उसका प्रतिबन्ध सब सुना दिया।

अश्विनीकुमारो ने इसे सुना। उन्हे जैसे यह डर, डर न लगा। यह शर्त, शर्त न लगी। प्रतिबन्ध भी बेकार लगा। विद्या देने के बाद जो सकट दध्यग पर आने वाला था, उसका भी हल था इन अश्विनीकुमारो के पास।

अश्विनीकुमारो ने सहज भाव से कह दिया दोनो ने एक साथ—'हम आपसे विद्या अवश्य लेगे। यदि आपको अपने सिर के कट जाने का भय है, तो इसका उपचार हम पहले ही कर देते है।'

'वह क्या ?'

'हम दोनो आपका सिर काटेगे। इसे कही छिपा देगे। इन्द्र बेचारा इसे ढूँढ न पाएगा। आपके धड पर हम घोडे का सिर लगा देगे। यही घोडे का सिर हमे मधुविद्या का ज्ञान देगा। ऐसा होने पर इन्द्र चुप नही बैठेगा। वह झट से आपका सिर काट फेकेगा—घोडे वाला सिर एक ओर जा पडेगा। तब हम, फिर से आपका असली सिर आपके धड पर लगा देगे। तुरन्त। शल्य चिकित्सा से। आप निश्चिन्त होकर, अपने ही सिर के साथ जीवित बने रहेगे। इन्द्र का प्रतिबन्ध भी पूरा हो जाएगा, हमे मधुविद्या देने का आपका सकल्प भी पूरा हो जाएगा।

आप तुरन्त हमारा उपनयन करे। और हम अपना कार्य आरम्भ करते है।'

यह सब दोनो अश्विनीकुमारो ने एक साथ कहा।

एक विद्वान् का कहना है—'मे इससे सहमत नही आदमी का दिमाग ता आदमी के सिर मे होता है। यदि दध्यग का सिर कही अन्यत्र पडा होना था आर घाड क सिर ने ज्ञान देना था, तो उसमे घोडो की मति ही होनी थी। आदमी की बुद्धि नही।'

खर ! उपनिषद् की यह कथा जिस प्रकार उस ग्रन्थ म आगे बढनी ह, हम भा उसी प्रकार इसे आगे लिये चलते हे।

अब देखिए उस जमाने को। जरूर शल्य-चिकत्सा इतनी उन्नत रही होगी जो ऋषि दध्यग ने भी इसे सहर्ष मान लिया। सिर कटवाना ओर लगवाना हो सकता हे एक साधारण क्रिया हो। अथवा कटा हुआ सिर तब तक जीवित रहा होगा जब तक अश्विनीकुमार मधु-विद्या का उपदेश सुनते रहे हाग। ठीक ही होगा यह सब तभी तो यह उपनिषदो का हिस्सा बना हे। चिकित्सा आर दशन दानो की यह एक खास मिसाल ह।

इस घटना से इन्द्र ने अपने प्रतिबन्ध को तोडने की सजा दे दी। अश्विनीकुमारो की झोली खाली नही रही। दध्यग की इच्छा कि वह उपदेश अवश्य दे, भी पूरी हो गइ। तीनो ने अपना लक्ष्य पा लिया।

क्या था दध्यग का मधुविद्या वाला उपदेश ? आइए ! इसे भी जाने। वह बोले—'ईश्वर ने आरम्भ मे, सबसे पहले दो पैरो वाले जीवो की उत्पत्ति की। बाद मे चोपायो का निर्माण किया। पहले वह पक्षी बनकर सबके शरीरो मे प्रवेश कर गया। तभी तो परमात्मा का नाम 'पुरुष' पडा। पुरिशय या काया मे शयन करने वाला ही पुरुष कहलाया।'

इतनी बात सुनकर अश्विनीकुमार मुस्करा उठे। दोनो भाइ—मन्द-मन्द मुस्कराहट बिखरने लगे। दध्यग की नजर पडी। उन्हे बुरा लगा। इसका कारण पूछ लिया—'क्यो, कुछ गलत कहा है मैने ?'

'आप गलत केसे कह सकते हे। जब भी कुछ कहेगे युक्त ही कहेगे, अयुक्त नही। आप जो कहते हे वह दिव्य-शक्ति से ओतप्रोत होता है। दैवी वाक् आपके अधीन है। इसीलिए आपके मुँह से जो बात निकलेगी, वह सदा सच होगी। यह दैवी वाक् के आवेश का प्रभाव है।'

दोनो भाई जरा रुके। सॉस ली। फिर एक साथ बोले—'मान लो आपने कुछ गलत ही कह दिया गलत, मलत नही रहेगा। अयुक्त अयुक्त नही रहेगा यह हमारा अटल विश्वास है।'

हमारी हॅसी का, मुसकराहट का अन्य कारण हे। हमने तो सुना था कि शरीर पिजरा है। इसी के अन्दर हमारी आत्मा रहती हे। हड्डियो से, अस्थियो से

बना पिजरा हे यह। हमने अब तक यही सुना था। मगर मैने इस बात को कभी माना नही। मुझे यह बात कभी जॅची नही। आज जो आपने उपदेश दिया ह। समझाया हे इससे असली बात दिमाग मे बेठ गई है। हमारी भ्रान्ति ही जाती रही। आपके इस बहुमूल्य प्रवचन से सारा ॲधेरा साफ हो गया।'

ऋषि ने सुना। यह उनकी प्रशसा थी अथवा सत्य ही। मगर उनका आगे बात बढाने का अवसर मिला। बोले—'अश्विनीकुमारो इस दुनिया मे ऐसा कुछ भी नही, जिसम परमात्मा की उस पुरुष की उपस्थिति न हो। वह स्वय वहॉ व्याप्त न हो।'

दोनो भाई ऋषि के प्रवचनो को बडे ही ध्यान के साथ सुन रहे थे। उन्हे सब कुछ अच्छा व ज्ञानवर्धक लग रहा था। वे बडी रुचि ले रहे थे ऋषि की बातो मे।

दध्यग ने अपने उपदेश को आगे कहा—'आपने अवश्य पढा होगा वेद मे। मै इन्हे यहॉ दोहरा रहा हूँ—

रूप-रूप प्रतिरूप बभू तत् अस्य रूप प्रतिचक्षणाय इन्द्र मायाभि पुरुष रूप ईयते युक्ता हि अस्य हरय शता दश।'

मगर, उस पिता ने उस ब्रह्म ने अपनी सृष्टि मे ही अपने आपको सम्मिलित कर लिया है। वह स्वय ही हर रूप, हर आकार मे समा गया है। हर जीव मे वह स्वय विद्यमान है। इसे ही उसकी माया का आवरण कहे या नानात्व ठीक ही हे। उसके नाना रूप है। नाना नाम है। नाना उपाधियॉ है।' ये इन्द्रियॉ ही उसके शरीर रूपी रथ मे जुडे हुए हजारो घोडे है।

अश्विनीकुमारो यहॉ दस कहो चाहे दस सौ, या दस हजार, अथवा अनन्त ही। सबका अर्थ एक है। एक जैसा है। उसके सामने सख्या का अर्थ तो बेमाने हो जाता है।'

अब तक दोनो भाई इतने मस्त हो गए थे कि प्रवचन सुनते समय उनके सिर भी जुड गए थे। जैसे ही दध्यग ने बोलना बन्द किया उन्होने ऑखे खोली। अपने आपको झटका दिया। तब उनके सिर छूटकर, अलग-अलग हो गए। अलग शरीर, अलग सिर। बेहद प्रसन्न थे अश्विनीकुमार। इतना अधिक ज्ञान पाकर प्रसन्न तो होना ही था।

फिर भी दोनो ने एक ही ध्वनि मे ऋषि दध्यग से निवेदन किया—'थोडा और विस्तार से समझा दे। बडी कृपा होगी।'

दध्यग का उपदेश कुछ इस प्रकार आगे बढा—'अश्विनीकुमारो । वह अनन्त है। अपूर्व है। अनपर है। अनन्तर है। अबाह्य है। हमारी आत्मा ही सबका, सब कुछ समझने और अनुभव करने वाला ब्रह्म है। यही तुम जानना चाहते थे। आशा है अब सब स्पष्ट हो गया होगा।

जेसे ही ऋषि दध्यग ने रहस्य खोला इन्द्र ने उसका घोडे वाला सिर फाट फका। ऐसा होना ही निश्चित था। अश्विनीकुमारो ने समय नही गँवाया। ऋषि का अपना सिर झाडियो मे से उठा लाए और उनके धड पर चिपका दिया। वह पूववत् हो गए।

गहन उपदेश ले चुके थे अश्विनीकुमार। उपदेश का शायद प्रभाव उन पर कम हुआ। वरना वह समझ लेते कि सब एक हे। अनन्य हे। जिसने काटा वह भी वही। जिसका कटा वह भी वही। अनन्य। क्या जरूरत है। अगला कदम उठाने की। इसे जोडने की। खैर जो होना चाहिए था वही होता जा रहा ह उपनिषदो की इस कथा मे। निर्धारित उपदेश, निधारित परिणति की ओर हम बढ रहे हे।

एक विद्वान् का कहना है—'बीच मे अश्विनीकुमारो के सिर जुड गए थे। उन्हे नीद आ गई थी। कुछ सुना। कुछ नही सुना। कुछ केवल उनीदे मे ही सुना। कुछ समझा। कुछ नही समझा। चलो यही ठीक हुआ।'

एक अन्य विद्वान् का कहना है— ऋषि दध्यग ने जो कुछ बताया, डरते-डरते बताया। खुलकर नही बताया। उपदेश का कुछ भाग शायद छिपा भी लिया था उन्होने। मधुविद्या के बारे मे पूरा ज्ञान नही खोला। कुछ अपनी ही पिटारी मे रखे रखा। उन्होने अश्विनी कुमारो को यह नही बताया कि मधु-विद्या वास्तव मे क्या है। इसका ज्ञान क्या है। इसका यह नाम क्यो पडा।' हो सकता है इसकी पूरी जानकारी ऋषि दध्यग को न हो। इसका कुछ भाग किसी अन्य महर्षि के कब्जे मे हो। उससे दूसरे लोगो ने भी हासिल कर ली हो। (इस कहानी का अगला भाग 'साभार' यहाँ प्रस्तुत कर रहे है)

—जो लोग मधुविद्या के बारे मे अन्तत जान पाए। उनकी सूची बहुत लम्बी है। पूरी का पता लगाना भी कठिन है। मगर जो नाम नीचे दे रहे है उनमे एक विद्वान् मधुछन्दा वैश्वामित्र का भी होना चाहिए था, मगर हे नही। उन्हे तो इस विद्या का इतना ज्ञान था कि उनका नाम ही बदलकर यह नया नाम रखा गया जिसका अर्थ है—शहद का छत्ता।

मधुविदो के नाम—

(1) पौतिमाष्य, (2) कौशिक (3) शाडिल्य, (4) गौपवन, (5) कोडिन्य, (6) अग्निवेश्य, (7) सैतव (8) गौतम, (9) आनभिम्लात, (10) भारद्वाज बैजपायन (11) पराशर्यायण, (12) आसुरी, (13) माटि, (14) गालव, (15) काप्य, (16) वात्स्य, (17) प्राचीनयोग्य (18) घृतकौशिक (19) कौशिकायनि, (20) जातूकर्ण्य (21) आगरिस, (22) बाभ्रव (23) अयास्य, (24) सनातन (25) व्यष्टि, (26) प्राध्वसन (27) प्रध्वसन, (28) वत्सनपातु, (29) सनारु, (30) विप्रचित्ति,

(31) एकर्षि, (32) पाराशर्य (33) ओपजधनि, (34) माटि (35) आत्रेय, (36) कुमार हारित, (37) वात्स्य, (38) आभूति त्वाष्ट्र, (39) मृत्यु, (40) विश्वरूप त्वाष्ट्र आदि-आदि। लगता हे बहुत-से नाम इस सूची मे सम्मिलित नही किए जा सके।

हो सकता है जब मधुविद्या का रहस्य एक बार रहस्य न रहा होगा, तब ही अनेक विद्वान् इस ज्ञान को किसी-न-किसी मार्ग से पा सके होगे।

विद्वानो का मत है कि दध्यग ने मधुविद्या का कुछ हिस्सा अवश्य छिपा लिया होगा इन्द्र के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भय के कारण ही।

वे कहते है—'यह भी बताना जरूरी हो जाता था कि इस दुनिया मे कुछ भी तो स्थिर नही रहता। बदलता रहता है। हर विनाशशील वस्तु अथवा जीव किसी न-किसी अन्य प्राणी या जीव का आहार हे। पूरी सृष्टि की एकात्मा का यह भी एक हिस्सा है।'

यह विद्वान् अपनी बात को आगे इस प्रकार समझाते है—'आदित्य देवताओ के लिए मधु है। घ्यूलोक वह बॉस है जिस पर वह लटका है। अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणे ही शहद की मक्खियॉ है। इसकी पूर्व दिशा की किरणे उस छत्ते के पूर्वाभिमुख छिद्र हे। ऋक् मधुप है। ऋग्वेद पुष्प हे। साम पीयूष है। ऋचाओ से ही ऋग्वेद अभितप्त है। ओर इस अभितप्त ऋग्वेद से ही यश, तेज, वीर्य और अन्नाद्य रूप रस उत्पन्न हुआ है।

सबसे पहले यश जाकर आदित्य का अरुण रूप बना और इसने उसके पूर्व भाग मे आश्रय लिया।   इस आदित्य की दक्षिणाभिमुख किरणे इसके दक्षिणाभिमुख मधुछिद्र है। यजु की श्रुतियॉ भ्रमर है और यजुर्वेद पुष्प। इसका रस अमृत है।

इससे भी यश, तेज इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य रूप रस पैदा हुआ। इस रस ने आदित्य के दक्षिणी भाग मे आश्रय लिया और यही सूर्य की श्वेतता हे। शुभ्रता है। सफेदी है।'

इतना ही नही। उन्होने आगे बताया—'पश्चिमवर्ती रश्मियॉ पश्चिमी मधुनाडियॉ है। इनके मधुकर साम के मन्त्र हे और फूल सामदेव हे। इनमे उत्पन्न सोम आदि इसका रस है। इससे उत्पन्न यश ने आदित्य मे प्रवेश करके पश्चिम भाग मे आश्रय लिया। यही आदित्य का कृष्ण रूप है।

इसी प्रकार उत्तर दिशा की किरणो का सम्बन्ध उत्तर की नाडियो से है। जिसकी मधुमक्खियॉ अथर्ववेद की श्रुतियॉ है और फूल है इतिहास ओर पुराण।

इसके उत्पादको का रस आदित्य के उत्तर मे जा विराजा और यही आदित्य का तमस वर्ण है।

'यह विस्तृत दर्शन है। विस्तृत ज्ञान है। इसमे तो बहुत कुछ निहित है। इसमे तो यह भी कहा गया है—'ऊर्ध्वाभिमुख रश्मियॉ ऊर्ध्ववर्ती मधुनाडियॉ है। गुह्य

आदेश भ्रमर है और ब्रह्म ही पुष्प है। इनसे उत्पन्न रस ने ऊपर आश्रय लिया। यही आदित्य के मध्य का क्षोभ है।

इस तरह वास्तविक रस ये अरुण, शुक्ल कृष्ण, अतिकृष्ण और क्षुभित रस है। वेद ही रस है। ये ही अमृतो के अमृत हे।

इसके प्रथम रस या आरुण से वसु आदि अग्निप्रधान देवता जीवन धारण करतं है। वे न खाते है, न पीते है। इस अमृत को देखकर ही तृप्न हो जाते हे। इसके रूप को देखकर ही उदासीन और उत्साहित होते रहत है। इम अमृत रूप को जानने वाला वसुओ मे से एक होकर, इसे देखकर तृप्त और उदासीन तथा उत्माहित होता हे।

इसी प्रकार दूसरे से रुद्र आदि इन्द्रप्रधान देवता प्रकट हुए ओर वे भी खाने-पीने की झझट से मुक्त होकर इसे देखकर तृप्त हो जाते है। और इसं जानने वाले की भी वही गति होती हे।

तीसरे से वरुण प्रधान आदित्यगण पेदा होकर इसके दर्शन लाभ सं तृप्त होते हे और इसके जानकार की भी वही गति होती है।

चोथे से मरुतो की उत्पत्ति होती हे। और सभी बाते समान रहती हे।

पॉचवे रस से ब्रह्मा के प्राधान्य वाले देवता विग्रह धारण करते हे ओर उसी तरह तृप्ति, उदासीनता और उत्साह पाते हुए इस रस के जानकारो के लिए अपनी गति प्रदान करते है। ऊर्ध्वगत होकर उदित होने पर वह न तो फिर कभी उदित भाग होगा न अस्त और इस गति को पाने वाला ब्रह्म का अश हो जाएगा।'

विद्वान् आगे कहते है—'यह जो ब्रह्मोपनिषद् है, इसका ज्ञान ब्रह्मा ने विराट् प्रजापति को दिया। प्रजापति ने मनु को। मनु ने प्रजावर्ग के लिए इसे कहा और अपने ज्येष्ठ पुत्र आरुणि उद्दालक को दिया था और कहा था कि इस ज्ञान को अपन ज्येष्ठ पुत्र और सुयोग्य शिष्य को छोडकर किसी को न बताएँ।

वह यदि इसके बदले समुद्र-परिवेष्ठित, धन-धान्य से परिपूर्ण, सारी पृथ्वी दन को तैयार हो जाए तो भी नही।

यही ब्रह्मविद्या ही मधुविद्या है। यही सारे वेदो का सार हे। इसीलिए यह ज्ञान वेदो के अध्ययन से भी ऊपर है। जो इसे जानता है वही इतने से ही सन्तुष्ट हो जाएगा।

मधुविद्या का सार क्या हे ? यह उपनिषद् की इस कथा के अन्तर्गत नही आया। आरुणि ने इस ज्ञान को अपने पुत्र को भी समझाया था। इसका वर्णन अन्यत्र मिलेगा। उपनिषद् की यह कथा यही समाप्त हो गई है।

अग्निविद्या

बालक जाबाल ही जाबालि या सत्यकाम था। उपनिषद् की एक कथा के अनुसार सत्यकाम को उसके आचार्य हारिद्रुमत गौतम ने अनुभव जनित शिक्षा प्रदान की जो गुरुकुल से बाहर, पशुओ पक्षियो और अग्नि के द्वारा सम्पन्न की गई।

सत्यकाम को उसके आचार्य ने गउओ को चराने का एक लम्बा और कठिन कार्य सौपकर ब्रह्मचर्या मे रखा और इसे सफलतापूर्वक पूर्ण भी होने दिया। उस समय सत्यकाम ने यह शिक्षा पूर्ण की। इसका फल भी प्राप्त किया। मगर तब उसने इस शिक्षा के महत्त्व को ठीक से नही जाना था।

मगर जब वह स्वय गुरु-दक्षिणा ओर गुरुकुल दक्षिणा से उऋण होने के लिए आश्रम चलाने लगे, गुरु द्वारा चलाई प्रथा को आगे बढाने लगे तथा अपने विद्यार्थियो को, शिष्यो को अनुभव जनित शिक्षा देने लगे, तब उन्हे इस परिपाटी के सही महत्त्व का अनुभव हुआ।

सत्यकाम भी अब गुरु थे। उन्होने अपने सभी शिष्यो का समावर्तन सस्कार कर दिया। हॉ, एक अपवाद भी है। एक शिष्य, जिसका नाम कामलायन था, उपकोसल से शिक्षा ग्रहण करने के लिए उनके पास आया था। उस शिष्य के पिता का नाम कमल था। या तो पिता के नाम से या फिर देश के नाम से, इस विद्यार्थी को कामलायन का नाम दिया गया तथा वह इसी नाम से प्रसिद्ध भी हुआ। गुरु सत्यकाम ने इस शिष्य का समावर्तन सस्कार नही करवाया, इसे सब जानते थे।

समावर्तन सस्कार न हो पाने के कारण यह शिष्य बहुत परेशान रहने लगा। उसके उदास व खिन्न मन रहने की बात गुरु-पत्नी तक पहुॅची। उन्हे भी बुरा लगा। उन्होने इस बात का अपने पति गुरु सत्यकाम से भी किया। उन्होने पत्नी की बात सुनी जरूर, मगर इस पर गौर नही किया। पत्नी ने तो यह भी कह दिया कि बालक के साथ अन्याय हो रहा है।

जब पति नही माने, तो पत्नी ने अपने पति को यह कहकर डराने की कोशिश भी की कि—'जिस किसी भी शिष्य ने अग्नि की विधिवत् परिचर्या की है, उसे यदि समावर्तन सस्कार न करवाया जाए तो अग्नियॉ आचार्य की ही निन्दा किया करती है। इससे अनिष्ट होने की सम्भावना भी बनी रहती है।'

पति ने यह सब भी सुना। मगर इसने उन पर कोई प्रभाव न किया। वह न माने। जो होगा देखा जाएगा—ऐसा सोचा उन्होने।

कामलायन, जो कि उपकोशल से आया था गुरु सत्यकाम के इस व्यवहार स बहुत दुखी हो गया था। उन्होने अपनी पत्नी की धमकी की भी परवाह नही की, इससे वह और भी खिन्न हो उठा। आव देखा न ताव—कर दी घोषणा। अनशन करने का मन बना लिया।

उसकी यह घोषणा गुरु-पत्नी तक पहुॅची। अब उसे इसका बहुत बुरा लगा। वह नही चाहती थी कि उनके आश्रम मे कोई शिष्य भूखा रहे। अनशन कर। इसका कारण परेशान हो। या फिर मृत्यु को ही प्राप्त हो जाए।

वह स्वय आई। भूख-हडताल पर बैठे इस कामलायन के पास पहुॅची। उसे अनशन को त्यागकर भोजन करने को प्रेरित करती रही।

अब क्या उत्तर देता वह। अपने गुरु पर सीधा इलजाम लगाना, उनकी पत्नी के मन को दुखाना भी उसे अच्छा न लगा। उसने बहानेबाजी का सहारा लेकर अपनी लॅगडी दलील दे डाली—'माता ! मे भूख की पीडा को भली प्रकार समझता हूॅ। भोजन करना जरूरी तो है, मगर इसके साथ-साथ मनुष्य की कुछ आग भी इच्छाएॅ और भी कामनाएॅ होती है। वह चाहता हे कि ये कामनाएॅ भी अवश्य पूरी हो। मुझे ऐसी ही चिन्ताएॅ हे। इसी कारण मे परेशान हूॅ। दुखी हूॅ। खिन्न हूॅ। मेरी स्थिति से आप भी भली प्रकार परिचित हे। सिवा भूख-हडताल के मेरे पास और रास्ता ही नही बचा। माता जब तक मेरे गुरुदेव मुझे मेरी चिन्ता स मुक्त नही करा देते, मै भूखा ही रहूॅगा। अन्न का एक दाना भी ग्रहण नही करूॅगा। यह मेरा अटल निश्चय है। सकल्प है। फेसला है।'

जब अग्नियो को विदित हो गया कि आचार्य सत्यकाम ने कामलायन की अवहेलना कर दी है। उसे उपदेश देने से इनकार कर दिया है जबकि उस परिश्रमी विद्यार्थी ने उन सभी अग्नियो की विधिवत् परिचर्या पूर्ण की हे। उन्होने एकजुट होकर निर्णय लिया—'न सही। हम स्वय इस ब्रह्मचारी को उपदेश देगी। इसे निराश नही करेगी।'

वे इकट्ठी होकर आकाश-मार्ग से नीचे आई। सीधी ब्रह्मचारी के पास पहुॅची। जाते ही उपदेश आरम्भ कर दिया—'बेटा ! चिन्तित मत होना। जो हम कहे उसे ध्यानपूर्वक सुनना।

याद रहे प्राण ब्रह्म हे। क ब्रह्म हे, 'ख' भी ब्रह्म है।'

इस कूट उपदेश का अर्थ निकालना इस ब्रह्मचारी के बस मे न था। तभी ता कहा हे कि गुरु बिन गत नही। उसने बिना समय गॅवाए वहाॅ पहुॅची सभी अग्नियो से प्राथना की— धन्यवाद ! मगर ये 'क' ओर 'ख' क्या हुए। मेरी ता

अग्निविद्या

बालक जाबाल ही जाबालि या सत्यकाम था। उपनिषद् की एक कथा के अनुसार सत्यकाम को उसके आचार्य हारिद्रुमत गौतम ने अनुभव जनित शिक्षा प्रदान की जो गुरुकुल से बाहर, पशुओ, पक्षियो और अग्नि के द्वारा सम्पन्न की गई।

सत्यकाम को उसके आचार्य ने गउओ को चराने का एक लम्बा और कठिन कार्य सौपकर ब्रह्मचर्या मे रखा और इसे सफलतापूर्वक पूर्ण भी होने दिया। उस समय सत्यकाम ने यह शिक्षा पूर्ण की। इसका फल भी प्राप्त किया। मगर तब उसने इस शिक्षा के महत्त्व को ठीक से नही जाना था।

मगर जब वह स्वय गुरु-दक्षिणा और गुरुकुल दक्षिणा से उऋण होने के लिए आश्रम चलाने लगे, गुरु द्वारा चलाई प्रथा को आगे बढाने लगे तथा अपने विद्यार्थियो को शिष्यो को अनुभव जनित शिक्षा देने लगे तब उन्हे इस परिपाटी के सही महत्त्व का अनुभव हुआ।

सत्यकाम भी अब गुरु थे। उन्होने अपने सभी शिष्यो का समावर्तन सस्कार कर दिया। हॉ, एक अपवाद भी है। एक शिष्य, जिसका नाम कामलायन था, उपकोसल से शिक्षा ग्रहण करने के लिए उनके पास आया था। उस शिष्य के पिता का नाम कमल था। या तो पिता के नाम से या फिर देश के नाम से, इस विद्यार्थी को कामलायन का नाम दिया गया तथा वह इसी नाम से प्रसिद्ध भी हुआ। गुरु सत्यकाम ने इस शिष्य का समावर्तन सस्कार नही करवाया इसे सब जानते थे।

समावर्तन सस्कार न हो पाने के कारण यह शिष्य बहुत परेशान रहने लगा। उसके उदास व खिन्न मन रहने की बात गुरु-पत्नी तक पहुॅची। उन्हे भी बुरा लगा। उन्होने इस बात का अपने पति गुरु सत्यकाम से भी किया। उन्होने पत्नी की बात सुनी जरूर, मगर इस पर गौर नही किया। पत्नी ने तो यह भी कह दिया कि बालक के साथ अन्याय हो रहा है।

जब पति नही माने, तो पत्नी ने अपने पति को यह कहकर डराने की कोशिश भी की कि—'जिस किसी भी शिष्य ने अग्नि की विधिवत् परिचर्या की है, उसे यदि समावर्तन सस्कार न करवाया जाए तो अग्नियॉ आचार्य की ही निन्दा किया करती है। इससे अनिष्ट होने की सम्भावना भी बनी रहती है।'

पति ने यह सब भी सुना। मगर इसने उन पर कोई प्रभाव न किया। वह न माने। जो होगा देखा जाएगा—ऐसा सोचा उन्होने।

कामलायन, जो कि उपकोशल से आया था, गुरु सत्यकाम के इस व्यवहार से बहुत दुखी हो गया था। उन्होने अपनी पत्नी की धमकी की भी परवाह नही की इससे वह और भी खिन्न हो उठा। आव देखा न ताव—कर दी घोषणा। अनशन करने का मन बना लिया।

उसकी यह घोषणा गुरु-पत्नी तक पहुँची। अब उसे इसका बहुत बुरा लगा। वह नही चाहती थी कि उनके आश्रम मे कोई शिष्य भूखा रहे। अनशन कर। इसका कारण परेशान हा। या फिर मृत्यु को ही प्राप्त हो जाए।

वह स्वय आई। भूख-हडताल पर बेठ इस कामलायन के पास पहुँची। उसे अनशन को त्यागकर भोजन करने को प्रेरित करती रही।

अब क्या उत्तर देता वह। अपने गुरु पर सीधा इलजाम लगाना, उनकी पत्नी के मन को दुखाना भी उसे अच्छा न लगा। उसने बहानेबाजी का सहारा लेकर अपनी लॅगडी दलील दे डाली—'माता ! मै भूख की पीडा को भली प्रकार समझता हूॅ। भोजन करना जरूरी तो है, मगर इसके साथ-साथ मनुष्य की कुछ ओर भी इच्छाएँ ओर भी कामनाएँ होती हे। वह चाहता है कि ये कामनाएँ भी अवश्य पूरी हो। मुझे ऐसी ही चिन्ताएँ है। इसी कारण मे परेशान हूँ। दुखी हूँ। खिन्न हूँ। मेरी स्थिति से आप भी भली प्रकार परिचित है। सिवा भूख-हडताल के मेरे पास और रास्ता ही नही बचा। माता, जब तक मेरे गुरुदेव मुझे मेरी चिन्ता से मुक्त नही करा देते, मै भूखा ही रहूँगा। अन्न का एक दाना भी ग्रहण नही करूँगा। यह मेरा अटल निश्चय हे। सकल्प है। फेसला है।'

जब अग्नियो को विदित हो गया कि आचार्य सत्यकाम ने कामलायन की अवहेलना कर दी हे। उसे उपदेश देने से इनकार कर दिया है, जबकि उस परिश्रमी विद्यार्थी ने उन सभी अग्नियो की विधिवत् परिचर्या पूर्ण की हे। उन्होने एकजुट होकर निर्णय लिया—'न सही। हम स्वय इस ब्रह्मचारी को उपदेश देगी। इसे निराश नही करेगी।'

वे इकट्ठी होकर, आकाश-मार्ग से नीचे आई। सीधी ब्रह्मचारी के पास पहुँची। जाते ही उपदेश आरम्भ कर दिया—'बेटा ! चिन्तित मत होना। जो हम कहे उसे ध्यानपूर्वक सुनना।

'याद रहे प्राण ब्रह्म हे। 'क ब्रह्म हे 'ख भी ब्रह्म है।'

इस कूट उपदेश का अर्थ निकालना इस ब्रह्मचारी के बस मे न था। तभी ता कहा हे कि गुरु बिन गत नही। उसने बिना समय गॅवाए वहाॅ पहुॅची सभी अग्नियो से प्राथना की—'धन्यवाद ! मगर ये 'क' आर 'ख' क्या हुए। मेरी ता

कुछ समझ मे नही आया।

कहा था न चिन्ता मत करो। हमी समझाती हे। जो 'क ह उमे ही ख' समझा। ख ही को 'क' भी मानो। 'क और 'ख दोनो को ब्रह्म माना। वसे 'क' का मतलब हे प्राण तथा 'ख का मतलब हे आकाश। दोनो अभिन्न हे प्राण और आकाश।'

ठीक। मे समझ गया।'

सभी अग्नियाँ पक्तिबद्ध खडी थी। गार्हस्पत्य अग्नि आगे आई। बालक क कन्धे पर हाथ रखा। कहा—'जिज्ञासु ' यह पृथ्वी, अग्नि अन्न आदित्य—चारा मेरे ही भिन्न-भिन्न रूप ह। मे ये चारो हूँ। आदित्य मे बना पुरुष मे हूँ। अग्नि हूँ। जो आदित्य को इस रूप मे अराधता है वह अवश्य ही अग्निवान लोको को पा लेता हे। उसे दीघायु मिलती हे। उसका जीवन अति सुखमय व सुविधाजनक होता हे। ऐसे उपासक की वश परम्परा आगे बढती चली जाती हे। ऐसा आदमी इस लोक मे अग्निया की रक्षा पाता हे। अगले लोक मे भी वे पूरा आश्रय देती हे। पालना करती हे। मरी इन बाता को पल्ले बाँध लो।'

ब्रह्मचारी ने ध्यान से सुनकर इस उपदेश को अपने मन मे बिठा लिया। पूछा कुछ नही।

अब आगे आई अन्वाहार्यपचन अग्नि। यही तो हे दक्षिणाग्नि। शिक्षा आरम्भ—'मेर चार रूप है। जल दिशा, नक्षत्र ओर चन्द्रमा। चन्द्रमा के अन्दर मै हूँ। कोई पुरुष नही। कोई चरखा कातने वाली बुढिया नही। उसमे मे ही विद्यमान हूँ। मेरे इसी रूप को ठीक प्रकार से जानकर, इसकी उपासना करनी चाहिए। पाप तो रहेगे ही नही।

ऐसा उपासक लोकवान हो जाता हे। वह दीघ आयु प्राप्त करता है। उसकी ओढनी न मैली होती ह न ही उसमे कोई दाग ही लग सकता है। उसका वश बढता रहता हे। सन्तानो की कमी नही हुआ करती। मे ही उसकी पालना की जिम्मेवारी लेती हूँ। यहाँ इस लोक मे तथा परलोक मे भी।'

अब बारी थी आहवनीय अग्नि की। उसने भी आकर बालक कामलायन के सिर पर हाथ रखते हुए कहा—'मे चार रूपो मे विद्यमान हूँ। ये हे—प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत। विद्युत मेरा शरीर है। विद्युत मे नजर आने वाला पुरुष मै ही हूँ। मेरी इस रूप मे उपसना करने वालो का सदा कल्याण हाता है। हर प्रकार की सुख समृद्धि, सन्तान, दीर्घ आयु नीरोगता, भरण-पोषण भी हा जाता हे, जिसकी देखभाल मे ही करती हूँ।'

अपना-अपना उपदेश तीनो अग्नियो ने दे दिया। एक बार फिर इकट्ठी खडी हो गइ—पक्तिबद्ध। सबने ब्रह्मचारी को एक साथ कहा—'हमारा कार्य था तुम्हे अग्निविद्या का उपदेश देना। यही आत्मविद्या भी हे। यह तुम्हे अपने गुरु से प्राप्त नही हो रही थी। हमने दे दी, अपने आप।

इसक बाद का उपदेश तुम्हारे गुरु आचाय सत्यकाम ही दगे। ओर ये तीना वहाँ स प्रस्थान कर गइ। ब्रह्मचारी उपकोस कामलायन प्रसन्न होकर खडा आनन्दित होता रहा—बहुत देर तक।

आचाय सत्यकाम घर पर नही थे। इसी दरम्यान ब्रह्मचारी कामलायन को अग्निया द्वारा जो शिक्षा मिली थी उससे उसके चेहरे पर ब्रह्मवेत्ताओ जेसा तेज उभरकर आ गया। आचार्य ने आत ही स्थिति भॉप ली। बोल—'अरे कामलायन ! म क्या देख रहा हूँ। तुम तो ब्रह्मवेत्ताओ से लग रहे हो। मेने तो तुम्हे ऐसी कोइ शिक्षा दी नही। किसने तुम्हे यह ज्ञान दिया। मुझे शीघ्र बताओ।'

कामलायन अब चाहकर भी छिपा न सकता था। स्पष्ट कह दिया। सत्य ही। आचाय की चतुराइ के सामने वह ढीला पड गया।

वास्तविकता कुछ ओर ही थी। कामलायन आचार्य के सभी शिष्यो म से श्रेष्ठ था। इसी बात को सिद्ध करने के लिए उन्होने अवसर का निमाण किया। स्वय तो खिसक गए। बहाना था कि वह इस ब्रह्मचारी को यह शिक्षा देना नही चाहते। वास्तव मे वह चाहते थे कि कामलायन की श्रेष्ठता साबित करने के लिए अग्नियॉ ही उसे शिक्षा दे। अवसर बना। एसा ही हुआ। इसे जानकर सत्यकाम आचाय मन ही मन बहुत खुश हो गए।

मगर अब तक कामलायन अवाक् खडा था। आचार्य ने जब अपना प्रश्न कठोर शब्दो मे दोहरा दिया तो वह धीरे-से बोला—'गुरुदेव ! मुझे क्षमा करे। इसमे मरा कोई दोष नही। अग्नियॉ स्वय प्रकट हुइ। उपदेश दिया। फिर अन्तधान हो गइ। मे आपसे अपनी किसी भी धृष्टता के लिए क्षमा चाहता हूँ।'

जब आचार्य सत्यकाम ने अपने इस शिष्य से अग्नियो द्वारा दी पूरी शिक्षा की जानकारी पा ली तो वह बोले— इन्होने तो तुझे केवल लोको का उपदेश दिया हे। मे तुम्हे वह उपदेश देता हूँ जिसे जानना जरूरी हे। इसे सुनकर तुम्हे पाप ग्रसित नही कर पाएगा। पापियो क बीच मे रहकर भी तुम पापमुक्त रहोगे। ठीक उस ही जैसे जल मे होने हुए कमलपत्र भी बेअसर रहता है।'

शिष्य की उत्सुकता बढ गइ।

इसे देखकर आचाय ने कहा—'याद रखना, नेत्रो मे दिखने वाला पुरुष ही आत्मा हे। आत्मा सदा अमर हे। इसे किसी का भय आतकित नही कर सकता। यही अमृत है। यही ब्रह्म हे।'

इतना सुनकर कामलायन अत्यधिक हषित हो उठा। वह उठा। गुरु सत्यकाम क चरण स्पर्श कर कहा— मै महामूर्ख हूँ। मे समझता रहा कि आप रुष्ट हे। मगर आज पता चला कि अग्नियो से उपदेश दिलाने की यह एक योजना थी जिसे आपने ही बनाया था।'

कुछ समझ मे नही आया।

कहा था न चिन्ता मत करो। हमी समझाती हे। जो क' हे उमे ही ख' समझा। ख' ही को 'क' भी मानो। 'क' ओर ख' दोना का ब्रह्म मानो। वसे क' का मतलब हे प्राण तथा 'ख' का मतलब है आकाश। दोनो अभिन्न है, प्राण ओर आकाश।'

'ठीक। मे समझ गया।'

सभी अग्नियॉ पक्तिबद्ध खडी थी। गाहस्पत्य अग्नि आगे आई। बालक क कन्धे पर हाथ रखा। कहा—'जिज्ञासु ! यह पृथ्वी, अग्नि अन्न आदित्य—चारो मरे ही भिन्न-भिन्न रूप हे। मे ये चारो हूॅ। आदित्य मे बना पुरुष म हूॅ। अग्नि हूॅ। जो आदित्य को इस रूप मे अराधता हे वह अवश्य ही अग्निवान लोको को पा लेता हे। उसे दीर्घायु मिलती हे। उसका जीवन अति सुखमय व सुविधाजनक हाता हे। एसे उपासक की वश-परम्परा आगे बढती चली जाती हे। एसा आदमी इस लोक मे अग्नियो की रक्षा पाता हे। अगल लोक मे भी वे पूरा आश्रय दती हे। पालना करती हे। मरी इन बातो को पल्ले बॉध लो।

ब्रह्मचारी ने ध्यान से सुनकर इस उपदेश को अपने मन मे बिठा लिया। पूछा कुछ नही।

अब आगे आइ अन्वाहार्यपचन अग्नि। यही तो हे दक्षिणाग्नि। शिक्षा आरम्भ— मेरे चार रूप है। जल दिशा नक्षत्र ओर चन्द्रमा। चन्द्रमा के अन्दर मै हूॅ। कोइ पुरुष नही। कोइ चरखा कातने वाली बुढिया नही। उसमे मे ही विद्यमान हूॅ। मेरे इसी रूप का ठीक प्रकार से जानकर, इसकी उपासना करनी चाहिए। पाप तो रहेगे ही नही।

ऐसा उपासक लोकवान हो जाता है। वह दीर्घ आयु प्राप्त करता है। उसकी ओढनी न मेली होती हे न ही उसमे कोइ दाग ही लग सकता हे। उसका वश बढता रहता हे। सन्तानो की कमी नही हुआ करती। मे ही उसकी पालना की जिम्मेवारी लेती हूॅ। यहॉ इस लोक मे तथा परलोक मे भी।'

अब बारी थी आहवनीय अग्नि की। उसने भी आकर बालक कामलायन के सिर पर हाथ रखते हुए कहा—'मे चार रूपो मे विद्यमान हूॅ। ये हे—प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत। विद्युत मेरा शरीर है। विद्युत मे नजर आने वाला पुरुष मे ही हूॅ। मेरी इस रूप मे उपसना करने वाला का सदा कल्याण हाता हे। हर प्रकार की सुख समृद्धि सन्तान, दीर्घ आयु नीरोगता, भरण पोषण भी हो जाता हे, जिसकी देखभाल मे ही करती हूॅ।'

अपना-अपना उपदेश तीनो अग्नियो ने दे दिया। एक बार फिर इकट्ठी खडी हो गइ—पक्तिबद्ध। सबने ब्रह्मचारी को एक साथ कहा—'हमारा कार्य था तुम्हे अग्निविद्या का उपदेश देना। यही आत्मविद्या भी है। यह तुम्हे अपने गुरु से प्राप्त नही हो रही थी। हमने दे दी, अपने आप।

इसक बाद का उपदेश तुम्हारे गुरु आचाय सत्यकाम ही दग।' ओर वे तीनो वहाँ म प्रस्थान कर गइ। ब्रह्मचारी उपकोस कामलायन प्रसन्न होकर खडा आनन्दित हाता रहा—बहुत देर तक।

आचार्य सत्यकाम घग पर नही थे। इसी दरम्यान ब्रह्मचारी कामलायन का अग्निया द्वारा जा शिक्षा मिली थी, उससे उसके चेहरे पर ब्रह्मवेत्ताआ जेमा तेज उभरकर आ गया। आचार्य ने आते ही स्थिति भॉप ली। बोले— अरे कामलायन ! म क्या देख रहा हूँ। तुम तो ब्रह्मवत्ताओ स लग रहे हो। मेने तो तुम्हे ऐसी कोइ शिक्षा दी नही। किसने तुम्हे यह ज्ञान दिया। मुझे शीघ्र बताओ।'

कामलायन अब चाहकर भी छिपा न सकता था। स्पष्ट कह दिया। सत्य ही। आचाय की चतुराइ के सामने वह ढीला पड गया।

वास्तविकता कुछ ओर ही थी। कामलायन आचार्य के सभी शिष्यो म मे श्रेष्ठ था। इसी बात को सिद्ध करने क लिए उन्होने अवसर का निमाण किया। स्वय तो खिसक गए। बहाना था कि वह इस ब्रह्मचारी को यह शिक्षा देना नही चाहते। वास्तव मे वह चाहते थे कि कामलायन की श्रेष्ठता साबित करने के लिए अग्नियॉ ही उसे शिक्षा दे। अवसर बना। ऐसा ही हुआ। इसे जानकर सत्यकाम आचार्य मन-ही मन बहुत खुश हो गए।

मगर अब तक कामलायन अवाक् खडा था। आचाय ने जब अपना प्रश्न कठार शब्दो मे दोहरा दिया तो वह धीरे-से बोला—'गुरुदेव ! मुझे क्षमा करे। इसमे मेरा कोई दोष नही। अग्नियॉ स्वय प्रकट हुइ। उपदेश दिया। फिर अन्तधान हो गइ। मे आपस अपनी किसी भी धृष्टता के लिए क्षमा चाहता हूँ।

जब आचार्य सत्यकाम न अपने इस शिष्य से अग्नियो द्वारा दी पूरी शिक्षा की जानकारी पा ली तो वह बोले—'इन्हाने ता तुझे केवल लोको का उपदश दिया हे। मे तुम्हे वह उपदेश देता हूँ जिसे जानना जरूरी है। इसे सुनकर तुम्हे पाप ग्रसित नही कर पाएगा। पापियो के बीच मे रहकर भी तुम पापमुक्त रहाग। ठीक वेसे ही जेसे जल मे होने हुए कमलपत्र भी बेअसर रहता हे।'

शिष्य की उत्सुकता बढ गइ।

इस देखकर आचार्य ने कहा—'याद रखना, नेत्रा मे दिखने वाला पुरुष ही आत्मा ह। आत्मा सदा अमर हे। इसे किसी का भय आतकित नही कर सकता। यही अमृत हे। यही ब्रह्म हे।'

इतना सुनकर कामलायन अत्यधिक हषित हो उठा। वह उठा। गुरु सत्यकाम के चरण स्पश कर कहा—'मे महामूर्ख हूँ। मे समझता रहा कि आप रुष्ट हे। मगर आज पता चला कि अग्नियो स उपदश दिलाने की यह एक योजना थी जिसे आपने ही बनाया था।'

कुछ समझ मे नही आया।'

'कहा था न चिन्ता मत करो। हमी समझाती हे। जो क हे उमे ही 'ख समझा। 'ख' ही को क भी मानो। 'क' ओर ख' दाना को ब्रह्म माना। वेसे 'क का मतलब हे प्राण तथा 'ख' का मतलब हे आकाश। दोनो अभिन्न हे, प्राण ओर आकाश।'

ठीक। मे समझ गया।

सभी अग्नियॉ पक्तिबद्ध खडी थी। गार्हस्पत्य अग्नि आगे आई। बालक क कन्धे पर हाथ रखा। कहा—'जिज्ञासु ! यह पृथ्वी अग्नि अन्न आदित्य—चारो मेर ही भिन्न-भिन्न रूप ह। मै ये चारो हूँ। आदित्य मे बना पुरुष मै हूँ। अग्नि हूँ। जो आदित्य को इस रूप मे अराधता है वह अवश्य ही अग्निवान लोको को पा लेता है। उस दीर्घायु मिलती हे। उसका जीवन अति सुखमय व सुविधाजनक होता हे। ऐसे उपासक की वश परम्परा आगे बढती चली जाती हे। ऐसा आदमी इस लोक मे अग्निया की रक्षा पाता हे। अगले लाक म भी वे पूरा आश्रय देती हे। पालना करती ह। मरी इन बातो को पल्ले बॉध लो।

ब्रह्मचारी ने ध्यान से सुनकर इस उपदेश को अपने मन मे बिठा लिया। पूछा कुछ नही।

अब आगे आइ अन्वाहायपचन अग्नि। यही तो हे दक्षिणाग्नि। शिक्षा आरम्भ—'मेर चार रूप है। जल दिशा नक्षत्र ओर चन्द्रमा। चन्द्रमा के अन्दर मे हूँ। कोइ पुरुष नही। कोई चरखा कातने वाली बुढिया नही। उसमे मै ही विद्यमान हूँ। मेरे इसी रूप को ठीक प्रकार से जानकर इसकी उपासना करनी चाहिए। पाप तो रहेगे ही नही।

ऐसा उपासक लोकवान हो जाता हे। वह दीघ आयु प्राप्त करता है। उसकी ओढनी न मेली होती हे न ही उसमे कोई दाग ही लग सकता है। उसका वश बढता रहता ह। सन्तानो की कमी नही हुआ करती। मे ही उसकी पालना की जिम्मेवारी लेती हूँ। यहॉ इस लोक मे तथा परलोक मे भी।'

अब बारी थी आहवनीय अग्नि की। उसने भी आकर बालक कामलायन के सिर पर हाथ रखते हुए कहा—'मै चार रूपा मे विद्यमान हूँ। ये हे—प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत। विद्युत मेरा शरीर हे। विद्युत म नजर आने वाला पुरुष मे ही हूँ। मेरी इस रूप मे उपसना करने वालो का सदा कल्याण हाता हे। हर प्रकार की सुख समृद्धि सन्तान, दीर्घ आयु नीरोगता, भरण पोषण भी हो जाता हे, जिसकी देखभाल मे ही करती हूँ।'

अपना-अपना उपदेश तीनो अग्नियो ने दे दिया। एक बार फिर इकट्ठी खडी हो गइ—पक्तिबद्ध। सबने ब्रह्मचारी को एक साथ कहा—'हमारा कार्य था तुम्हे अग्निविद्या का उपदेश देना। यही आत्मविद्या भी है। यह तुम्हे अपने गुरु से प्राप्त नही हो रही थी। हमने दे दी अपने आप।

इसक बाद का उपदेश तुम्हार गुरु आचाय सत्यकाम ही दगे।' ओर ये नीनो वहाँ स प्रस्थान कर गइ। ब्रह्मचारी उपकास कामलायन प्रसन्न होकर खडा आनन्दित हाता रहा—बहुत देर तक।

आचाय सत्यकाम घग पर नही थे। इसी दरम्यान ब्रह्मचारी कामलायन का अग्नियो द्वारा जा शिक्षा मिली थी उससे उसके चेहरे पर ब्रह्मवेत्ताओ जेसा नेज उभरकर आ गया। आचाय ने आते ही स्थिति भॉप ली। बोले—'अरे कामलायन ' म क्या देख रहा हूँ। तुम तो ब्रह्मवेत्ताओ से लग रहे हो। मेने तो तुम्हे ऐसी काइ शिक्षा दी नही। किसने तुम्हे यह ज्ञान दिया। मुझे शीघ्र बताओ।'

कामलायन अब चाहकर भी छिपा न सकता था। स्पष्ट कह दिया। सत्य ही। आचाय की चतुराई के सामने वह ढीला पड गया।

वास्तविकता कुछ ओर ही थी। कामलायन आचाय के सभी शिष्या म से श्रेष्ठ था। इसी बात को सिद्ध करने के लिए उन्होने अवसर का निमाण किया। स्वय ता खिसक गए। बहाना था कि वह इस ब्रह्मचारी को यह शिक्षा दना नही चाहते। वास्तव मे यह चाहते थे कि कामलायन की श्रेष्ठता साबित करने के लिए अग्नियॉ ही उसे शिक्षा दे। अवसर बना। ऐसा ही हुआ। इसे जानकर सत्यकाम आचाय मन-ही-मन बहुत खुश हो गए।

मगर अब तक कामलायन अवाक् खडा था। आचाय ने जब अपना प्रश्न कठार शब्दो मे दोहरा दिया तो वह धीरे-से बोला—'गुरुदेव ' मुझे क्षमा करे। इसम मेरा कोई दोष नही। अग्नियॉ स्वय प्रकट हुइ। उपदेश दिया। फिर अन्तधान हो गइ। मे आपसे अपनी किसी भी धृष्टता के लिए क्षमा चाहता हूँ।'

जब आचार्य सत्यकाम ने अपने इस शिष्य से अग्नियो द्वारा दी पूरी शिक्षा की जानकारी पा ली ता वह बोले—'इन्होने तो तुझे केवल लोका का उपदेश दिया है। मे तुम्हे वह उपदेश देता हूँ जिसे जानना जरूरी है। इसे सुनकर तुम्हे पाप ग्रसित नही कर पाएगा। पाप्पियो क बीच मे रहकर भी तुम पापमुक्त रहोगे। ठीक वेस ही जेसे जल मे होने हुए कमलपत्र भी बेअसर रहता है।'

शिष्य की उत्सुकता बढ गइ।

इसे देखकर आचाय ने कहा—'याद रखना नेत्रो मे दिखने वाला पुरुष ही आत्मा हे। आत्मा सदा अमर हे। इसे किसी का भय आतकित नही कर सकता। यही अमृत हे। यही ब्रह्म हे।'

इतना सुनकर कामलायन अत्यधिक हर्षित हो उठा। वह उठा। गुरु मत्यकाम क चरण स्पश कर कहा—'मे महामूख हूँ। मे समझता रहा कि आप रुष्ट हे। मगर आज पता चला कि अग्नियो से उपदेश दिलाने की यह एक योजना थी जिसे आपने ही बनाया था।'

ब्रह्म के चार पद

ब्रह्माण्ड तो ब्रह्माण्ड ही हे। कितना विशाल, कितना बडा कितना विस्तृत कुछ कह नही सकते। सब कुछ इसमे समाहित है। इसी मे बना, छिपा, विद्यमान।

ब्रह्माण्ड क इस महास्वरूप के सूक्ष्मतम, क्षुद्रतम ब्रह्मा को जानना आसान नही। वही तो सारी विविधताओ का अन्तिम निचोड है। सार है। यदि उसे पूरे ब्रह्माण्ड क समान माने तो भी ठीक। क्योकि यह क्षुद्रतम भाग पूरे ब्रह्माण्ड मे, हर कण मे हर प्राणी म समाया हुआ है।

ब्रह्माण्ड क क्षुद्रतम अश को पूरी तरह समझ पाना आसान बात नही हे। सच कहे ता ब्रह्मा को उसकी अपनी समग्रता मे समझ लेने के पश्चात् ओर कुछ तो वचा रहता ही नही जानने के लिए।

आज की उपनिषद् की इस कहानी को सत्यकाम के वर्णन स समझाते हे। कभी वह स्वय शिष्य था। बहुत पढा। बहुत सीखा। बहुत जाना। ओर उनके शिष्य हुए। फिर शिष्य बडे होकर कुछ अन्य शिष्यो के गुरु बन गए। तीसरी पीढी क मुखिया-पद तक पहुँच गए सत्यकाम।

प्रकृति ओर पुरुष के रहस्या को जानते रहे। समझते रहे। आगे भी समझाते रहे। क्या वह इन रहस्यो का पार पा सके, आइए इस ही जाने।

एक विद्वान् कहते हे कि जेसे ऑख अपने आपको नही देख सकती वेसे ही मन अपने आपको नही जान सकता। पर क्या हमारा मन दूसरो के मन को जान सकता हे ? यह भी रहस्य भरा मामला है।

सत्यकाम जो जानना चाहते थे उसके लिए निरन्तर प्रयत्नरत भी रहे। वह जानते हे कि किसी के मन तक पहुँचने के लिए उसका चेहरा उसके होठो की स्पन्दता उसके नाक की नासिकाओ मे फुलाव चेहरे के रग-रूप, उसका स्वभाव, सकोच की मात्रा आवश उन्मेष, चेष्टाएँ, उक्तियॉ बात कहने का ढग बात करने का लहजा, सॉस लेन का तरीका, खाने-पीने, वस्त्र पहनने चलने देखने का ढग जेसे अनेक रास्त ह जिनसे किसी के मन को जाना जा सकता हे। टोह ली जा सकती हे। मगर इन सब बातो का देखते-देखते जानते-जानते कही भूल हो सकती हे। कही बात रुक सकती हे। कही बात कट सकती हे। अन्तिम किनारा

तक जब तक न पहुँचे किसी के मन को, किसी के मन की बात का पूरी तरह नही जाना जा सकता। अनुमान अधूरा रह सकता हे। गलत भी हा सकता हे।

मनुष्य सीधा-साधा मात्र मनुष्य नही हे। इसके अनेक रूप हे। हर रूप मे भी अनेक रूप छिपे हे। मॉ केवल मॉ नही होती। वह बेटी ह। वह पत्नी ह। वह भाभी हे। वह चाची मामी, मोसी हे। वह प्रेयसी हे। वह सास हे। वह नानी हे। दादी हे। पता नही क्या-क्या हे। इतने रूप हे उसके। सब रूपा मे जह भिन्न-भिन्न तरीको से बात करती ह। व्यवहार करती हे। पेश आती हे। सोचती ह आर काय करती है। कही प्रेम ह। कही वात्सल्य है। कही क्रोध हे। कही बदला लेन का मन हे। बहुत कुछ छिपा हे उसमे। उसका ही पार पाना कठिन हे। फिर भला ब्रह्म का पार पान कहॉ सुगम हे। कहॉ सरल हैं। कहॉ सम्भव हे।

मॉ सुन्दर होती है। अति सुन्दर भी। वात्सल्य की मूर्ति। गील पर खाकर सूखे पर सुलाने वाली। अपनी चिन्ता न कर, सन्तान की चिन्ता करन वाली। भूख रहकर बच्चे का पेट भरने वाली। छाती मे दूध न उतर सकने पर भी दूध पिलाने का पयत्न करने वाली।

इस मॉ की भी यही कहानी थी। मगर थी बडी ददनाक। बेचारी किसी फरेबी के हाथ चढ गई। उसकी सुन्दरता ही उसका अभिशाप बनी। कुँवारी का मॉ बनना पडा। अपना काम निकालकर वह जाता रहा। कहॉ गया किसी को पता न चला। मॉ का बेटा हुआ। किसका बटा है ? बेटा जाबालि कुल का था। इस बारे म मॉ को पता नही कहॉ-कहॉ, कितना झूठ बोलना पडा।

मॉ क्या बताती कि पिता कोन हे। उनका गोत्र क्या है। सबसे बडी बात तो यह थी कि जाबालि को भी अपने गोत्र का पता न था। वह पत्नी को क्या बताता। वह अपने बेटे को बताए तो क्या ? लागो के प्रश्नो के उत्तर दे तो कैस ? पिता का नाम बताना कठिन। कौन था वह जिसने बीजारोपण किया ओर बालक हुआ यहॉ वताने को कुछ था ही नही।

मॉ से कई बार बालक सत्यकाम ने पिता के विषय मे जानना चाहा। क्या बताती वह। ऑखो से ऑसू बह निकलते। वह बिलख-बिलख कर रोने लगती। बालक मॉ को दुखी देखकर चुप कर जाता। सोचता शायद पिता नही रहे। मृत्यु को प्राप्त कर चुके हे। पति के गम मे मॉ रो रही हे।' वह चुप हो जाता। नही पूछता। कई बार ऐसा हुआ। कभी-कभी पूछता ओर फिर कभी न पूछने की भी सोचता। मगर रह न पाता। फिर से पूछ बेठता। वह अपने पिता को उसके नाम को, उसके गोत्र को जानना चाहता था। बडी उत्सुकता थी उसके मन मे।

आज फिर बालक ने मॉ को पूछ लिया। जिद की। बताने को विवश भी किया।

'मत पूछ इसे।'

'क्यो ?'

'मै नही बता सकती।

'आखिर क्यो ? क्या कठिनाई है आपको। मै बेटा हूॅ। तुम मॉ हो। मै अपने पिता के विषय मे क्यो न जानूॅ। यह मेरा हक हे। बताओ तो।'

'यह प्रश्न मेरे लिए समस्या बनकर खडा है। तुम इस प्रश्न को न ही दाहराओ तो अच्छा होगा।

'मै पिता का नाम ओर गोत्र, केवल इतना पूछना चाहता हूॅ। यह बताने से इनकार क्यो ? वह कौन थ, कहॉ थे, कैसे मृत्यु को प्राप्त हुए ऐसा मुझे कुछ नही जानना। मात्र नाम और गोत्र ही। बस।'

'तुम क्यो जिद कर रहे हो ?'

'मॉ। अब मै बडा हो गया हूॅ। ब्रह्मचर्या करने का मन बना लिया है। किसी भी गुरु के पास जाऊॅगा, किसी भी आचार्य से मिलूॅगा, वह भी तो यही पूछेगा। नाम और गोत्र तो वहॉ भी बताना ही पडेगा। बस, इसीलिए जिद कर रहा हूॅ।'

मॉ अब विवश थी। रोते हुए, भरी हुई ऑखो से एक सत्य, एक वास्तविकता झलक रही थी। एक सच्ची गाथा बाहर आने को उछल रही थी। वह कहने लगी–'बेटा ! चिन्ता मत कर। तुझे कोई बुरा-भला नही कह सकता। अपने मन को हल्का कर। शान्त कर निश्चिन्त हो जा।'

बालक जाबालि के नाम से जाना जाता था। वह अपनी मॉ के उत्तर को सुनकर विस्मित हो गया। मॉ क्या कह रही है। उसे कोइ उपनीत नही करेगा। ठीक हे। मॉ का कहा ठीक हे। ऐसा ही होगा। मगर पूरी बात तो बता दे मॉ, तभी मन को शान्त कर पाएगा वह। इसी प्रकार बैठा कुछ-कुछ सोचता रहा यह बालक। उसे यह जरूर लगा कि मॉ के शब्द सच होगे। मगर क्यो ? यही तो वह नही जानता था। यही पूछ लिया उसने।

मॉ ने अपने पुत्र को गोदी मे खीच लिया। सिर पर हाथ फेरा। कन्धो और पीठ को सहलाया। अपने ऑसुओ को रोका। बडे स्नहपूर्वक बोली–'जाबालि हो तुम। तुम्हारा नाम सत्यकाम इसलिए रखा कि जीवन भर तुम सत्य से कभी विमुख मत होना। मेरा क्या ? लोगो के प्रश्नो के उत्तर देते समय कई बार झूठ बाला। झूठी कहानियॉ सुनाकर उन्हे इतबार दिलाया। इसकी जरूरत भी थी। मेरी मजबूरी भी थी। ऐसा झूठ बोलते हुए मै जो कहती, मै ऊपर वाले मन से कहती। अन्त करण से नही। अत यह पाप न होता।

हर पल यही सोचती कि मरा बेटा कभी झूठ न बोले। वह जीवन मे मेरी तरह ऐसी कोइ भूल भी न करे, जिस कारण बेटे को झूठ का सहारा लेना पडे।

सदा यही कामना करती रही, प्राथना करती रही कि मेग बेटा मत्यवादी हो। सही माग पर चल। उसे कभी लज्जित न होना पडे। इसी दिशा मे प्रयत्न भी करती रही। सत्यकाम नाम रखकर, इस आशय को जीवित रखती रही।

बेटा ! अब वह घडी आ गइ हे जब मे सत्य कहने को विवश हूँ। कम-से कम तुम्हारे साथ तो झूठ बोलने का कोई औचित्य भी नही। अत जो सत्य है, उसे ही कहूँगी। अभी कहूँगी। तुम्हे अधिक प्रतीक्षा नही करवाऊँगी। कहते-कहते माँ रुक गई।

'माँ ! मै आभारी रहूँगा। जो भी सत्य हे, उसी को सुनने को लालायित हूँ। भले ही यह सत्य कडवा क्यो न हो।' सत्यकाम ने हाथ जोडकर कहा। साथ ही कह दिया—'माँ ! इतने दिन चुप क्यो रही ?'

'बेटा ! अनेक युवतियाँ होती हे। उनका जीवन रक्षित होता ह। मेरा अरक्षित था। उनके जीवन मे स्थिरता होती है। मेरे जीवन मे अस्थिरता थी। उनक जीवन मे ठहराव होता है। मेरे जीवन मे मेरी युवावस्था म ठहराव तो था ही नही। केवल भटकाव ही था। अनेक पुरुषो के साथ रहना पडा। तू किस पिता की सन्तान हे। यह नही बता सकती। हाँ इतना अवश्य कह सकती हूँ कि तू मेरी ओर केवल मेरी सन्तान हे। मेरी कोख से जन्म लिया हे। मेरे वक्ष का दूध पिया हे। मेरे स्नेह मे बडा हुआ हे। मेरे वात्सल्य मे पलता रहा हे। यही तेरे जानने की बात हे। इसी से प्रसन्न हो जाना चाहिए तुझे।'

बेटे ने सब सुना। बडे ध्यान के साथ सुना। उसके मन मे माँ के प्रति प्यार-आदर पूर्ववत् बना रहा। कोई घृणा नही। ग्लानि नही। नफरत नही नाराजगी नही। उसकी नजरो मे माँ जितनी पहले पवित्र थी, उतनी ही अब बनी हुइ है। बनी रहेगी।

बेटा माँ के चरणो मे झुक गया। अपने आँसुओ से माँ के चरण धोने लगा। प्रसन्नचित्त था वह। माँ ने सत्य-सत्य कह दिया, यही उसकी खुशी का कारण था। माँ भी सँभली। इस तेरह-चौदह वर्षीय को अपने अक मे भरकर प्यार करने लगी।

धीरे-धीरे बेटे की आँखे ऊपर उठी। भीगी भीगी आँखे। इस समय उसकी आँखे तो गीली थी, माँ की पूरी तरह सूख चुकी थी। माँ भारमुक्त हो चुकी थी। झूठ स बचकर, सत्य कह चुकी थी। बेटे से कुछ भी न छिपाकर उसको तसल्ली हुई। सुख मिला। सुकून मिला। जरूर सोचती रही होगी कि इस पवित्रता को, इस सत्य को पहले ही उद्घाटित कर दिया होता तो अच्छा होता। न वह आँखे छिपाती, न बेटा बार-बार पूछता।

'माँ ! मुझ मेरे प्रश्नो का सही उत्तर मिल गया। मुझे जो सुनना चाहिए था सुन लिया। अब मै अवश्य ब्रह्मचया करूँगा। मुझे कोई रोक नही सकता। माँ,

तुम्हारे वचन सुनकर तुम्हारी बात सुनकर, सत्यता जानकर मेरा मनोबल बढा हे। घटा नही।'

वह सोचने लगा—अब तक गुरुजनो के प्रश्नो का वह उत्तर न दे सक। कतराते रहे। मा से जानते रह। परेशान होते रहे। अब वह किमी भी आचार्य के पास जाएँगे तो भी कुछ छिपाएँगे नही। सत्य ही कहेगे। लेशमात्र झूठ बोलकर माॅ द्वारा उद्घाटित सत्य को कलुषित नही करेगे। सत्यकाम ने यह निश्चय कर लिया। माॅ ने जो कहा उसे छिपाएँगे भी नही तथा उनके नाम को कोई क्षति नही पहुँचने देगे।

इस प्रकार काफी भाग-दौड मे सत्यकाम जिन-जिन को मिले, उन्होने उसे उपनयन करवाने से इनकार ही कर दिया। उन्हे जो अन्तिम आचार्य मिले उनका नाम था 'हारिद्रुमत गौतम'। ब्रह्मवादियो के लिए सत्य सबसे ऊपर था। उत्तम था। जिसने सत्य बोल दिया उसके सारे दोष मुआफ। उन्होने जाति की भी चिन्ता नही की, जो सत्य पर आश्रित रहे। मधुविद्या तो वेदो के समय की है। अत इसकी लोकप्रियता को बनाए रखना वे जरूरी भी मानते थे।

हारिद्रुमत गोतम ने भी पूछताछ तो पूरी ही की। जात-पॉत का प्रश्न भी पूछा। जब गौतम ने जाति-वर्ण विषय मे जोर देकर पूछना चाहा तो सत्यकाम ने अपनी माॅ के साथ हुई पूरी बात ज्यो-की-त्यो सुना दी। इस सच्चाई मे से कुछ भी नही छिपाया।

हारिद्रुमत गौतम ने अपनी महानता दिखाई। उनका कहना था कि सत्य बोलने वाला अवश्य ही ब्राह्मण होगा। अत उन्होने सत्यकाम को भी ब्राह्मण अथवा ब्राह्मण-पुत्र मानकार स्वीकार कर लिया। उनके अनुसार सत्यकाम को शिक्षा-दीक्षा तो मिलनी ही चाहिए। और कह भी दिया—'जाओ बेटा ' समिधा इकट्ठी करके ले आओ। मै तुम्हारा उपनयन करने को तैयार बैठा हूॅ।'

जाबालि (सत्यकाम) का गुरु ने उपनयन करने के पश्चात् उसे चार सौ बहुत कमजोर गाये दे दी। कहा—'ले जाओ इन्हे। इनकी सेवा करो। इनका सवर्द्धन होने दो। जब गायो की सख्या एक हजार हो जाए तो चले आना। तब मे तुम्हे शिक्षा दूॅगा।' यही तुम्हारे लिए अति सरल व सुगम रास्ता है।

मानना पडा जाबालि को। मरता क्या न करता। 'हारिद्रुमत गौतम' जो महान् बनने चले थे, ऐसा कर स्वय तो सुखी हो गए मगर सत्यकाम को एक बडी मुश्किल मे डाल दिया। बडी ही कठिन परीक्षा भी थी यह। कुछ गाये ऐसी जो शायद ही जीवित रहती—बहुत कमजोर। कुछ बूढी थी कि गर्भ धारण ही कर सकने मे असमर्थ। जो छोटी थी। बछियॉ थी, उन्हे गर्भधारण करने योग्य होने मे समय लगना था। मतलब यह कि ऋषि गौतम ने उस अनाथ लडके का नाजायज

फायदा उठा उसे परशानी मे डाल दिया। इसके लिए भी वह तत्पर हो गया। ले ली सारी जिम्मेवारी अपने हाथ मे।

गोतम आचार्य का यह नया शिष्य चार सौ मरियल-सी गाया को लकर जगल-जगल घूमने लगा। अपने दायित्व को निभाने लगा। उसका भाग्य कहिए कि सभी गायो तथा सॉडो (बैलो) ने लडके को पूरा सहयोग दिया। नग नही किया। बिदकना, भागना, इधर-उधर निकल जाना तो जेसे उन गाया न साखा ही न हा। वह भी उनको खूब प्यार करता उनका पूरा ध्यान रखता। सॉड भी अपना काय नित्य प्रति करने लगे ओर गायो की सख्या भी बढती गइ। बालक सत्यकाम का कठिन काय आसानी से होने लगा। उसे दूध की भी कभी कमी न होन दी गायो ने।

एक विद्वान् का कहना हे कि सॉड अथात् वृष भी इस बालक के साथ पूरी सहानुभूति जताकर उसे वह शिक्षा देने लगा जो उसे ऋषि से मिलनी थी। ऋषभ ओर वृषभ को एक जेसा बताया हे इस विद्वान् ने। इन्होने ता इतन तक कह दिया कि गुरु ने ही इस सॉड को यह सब सिखा-समझाकर भेजा था।

सॉड ने अपने दायित्व को पूरी तरह निभाते हुए एक दिन बालक सत्यकाम से कह दिया—'मैने अपना कार्य पूरा कर दिया है। जाकर गिन लो। गाया की सख्या एक हजार से ऊपर हे। सभी तन्दुरुस्त हे। हृष्ट-पुष्ट हे। अब म भी ऋषि के आश्रम को लौटना चाहता हूँ। हमे ले चलो। आपका काम भी पूरा हुआ हे। गुरु से शिक्षा लेने का समय आ चुका है।'

'ठीक हे। चलते हे आश्रम की ओर ! पर मेरे मित्र सॉड ! अब मुझे वहॉ जाने मे झिझक हो रही है। एक डर-सा लग रहा हे। कही ऐसा न हो कि गुरु मुझे कुछ और कमजोर तथा बूढी गाये देकर इनकी देखभाल के लिए भेज दे। बाद मे 'गोपाल' की उपाधि से सुसज्जित कर दे। इसी को मेरे लिए उपयुक्त शिक्षा कहकर मुझे सन्तुष्ट कर दे।'

'मेरे भाइ सत्यकाम ! चिन्ता मत करो। ब्रह्मवाद की शिक्षा के लिए ग्रन्थो पर निर्भर रहना बेकार है। मै ही तुम्हे दूँगा अपने जीवन के अनुभवो पर आधारित शिक्षा। मेरे पास पूरी शिक्षा सार रूप मे मोजूद है। मै इस पूण ब्रह्मज्ञान का एक चोथाई भाग तुम्हे समझाने को तैयार हूँ। बोलो। हे इच्छा क्या ?' सॉड ने सत्यकाम से कहा।

'कमाल है। आप मुझे शिक्षा देने के लिए तैयार हो, ओर मे इनकार करूँ। ऐसा कैसे हो सकता हे ?' कहते-कहते सत्यकाम ने हाथ जोड दिए।

'हे सत्यकाम ! मै आरम्भ करता हूँ। तुम ध्यानपूवक सुनो। ब्रह्म के प्रथम

पाद का ज्ञान सुनो। इस ज्ञान का एक चोथाइ या ब्रह्म का सोलहवॉ भाग यह पूव की दिशा है। एक सोलहवॉ भाग पश्चिम की दिशा है। एक अन्य सोलहवॉ भाग (या एक कला) यह दक्षिण दिशा मानी जाती है। एक और तथा चौथी कला उत्तर दिशा है।

'इस प्रकार यह चार कलाओ वाला ब्रह्म का पहला पॉव है। ज्ञानी लोग इस प्रकाशवान पद कहते हे।' एक सॉड के मुॅह से इतना गहन ब्रह्मज्ञान सुनकर सत्यकाम चकित हो गए। हॉ, साथ-ही-साथ सोचने लगे कि क्या काम आएगा यह ज्ञान उनके ? सॉड कोई साधारण सॉड न था। सब जान गया। दुविधा को पहचानकर बोला– मूख सत्यकाम ! मेरी मान। ब्रह्म के इस चतुष्कल पद की उपासना कर। यह उपासना फलीभूत होगी। तू प्रकाशवान हो उठेगा। इससे तू समस्त प्रकाशवान लोका पर विजयी हो जाएगा।'

सत्यकाम ने सुना मन मे बिठाया। माने या न माने यह निणय लेना कठिन था। फिर यह सोचकर कि कोई आदमी तो गलत राह दिखा सकता है। मगर इतना ज्ञानी-ध्यानी सॉड गलत बात कभी नही कहेगा। मान ही लेना अच्छा रहेगा। बडा सोच-समझकर सत्यकाम ने पूछा–'बडे भाई ! क्या काइ ऐसा है जिसन मेरे से पहले यह उपासना की हो तथा उसमे समस्त प्रकाशवान लोको पर विजय हासिल की हो ?

'हॉ हॉ, एसे वहुत लोग हे।'

सत्यकाम के मन न कहा–'लगता है यह सॉड भी झूठ बोल रहा हे। इसक स्वामी ने ऋषि हारिद्रुमत गोतम ने मुझे कहा कुछ, किया कुछ। बनाया शिष्य ओर भेज दिया गौएँ चरान। शिक्षा का कार्यक्रम बाद मे चलेगा। ऐसा कह दिया। अब यह सॉड भी उल्टी-सीधी बाते करने लगा है।'

सत्यकाम साच रहा था–'मे ऐसे अनेक ब्राह्मणो को जानता हूँ, जो झूठ बोलते रहे हे। ऋषि ने भी उपनयन करवा तो दिया। मगर शिक्षा को लम्बे समय के लिए टाल दिया। यह सॉड भी कह रहा है कि वह ऐसे अनेक लोगो को जानता हे, जिन्होने उपासना करके समस्त प्रकाशवान लोको पर विजय पा ली है।' उसका मन इस पर विश्वास करने को इनकार कर रहा था।

सॉड न ही कह दिया–'लगता है छोटे भाई ! तुम दुविधा मे फॅस गए हो। कहो, क्या हे तुम्हारे मन मे।'

'तुम्हारी बात कोइ जॅची नही। अनेक लोगो ने सभी प्रकाशमान लोको को जीत लिया हो, यह कैसे हो सकता है। क्या उनमे झगडा नही हुआ ? ओर फिर उनके बाद वाले लोगो ने उनसे कुछ प्रकाशमान लोक या इन लोको का कुछ भाग भी जीता या छीना ही होगा ! यही बात तो मेरी समझ से बाहर है।'

सत्यकाम की बात सुनकर साँड हँसने लगा। फिर थोडा नियन्त्रित होकर बाला—'बहुत भोले हो। जानते तो कुछ हो नही। जितना मै बता रहा हूँ उसे भी ठीक नही मानते। प्यारे यह ब्राह्म गणित हे। यदि पूरे मे से पूरा भी निकाल दे तो भी पूरा शेष बचा रह जाता है। तभी तो यह प्रकाशवान लोक पूरा जीता जाने के बाद भी दूसरो द्वारा जीता जाने के लिए, पूरा-का-पूरा बचा रहता ह।' साँड अपनी बात कहते-कहते रुक गया।

कुछ रुककर उसने आगे कहा—'तुम्ही बताओ, तुम्हे मैने अपना पूरा ज्ञान दे दिया। दिया हे न ! मगर मेरा क्या गया ? फिर से पूरा-का-पूरा ज्ञान मेरे पास बचा हुआ है।

अब इन गायो पर नजर दौडाओ। ठीक से देखो। क्या तुम्हारे दखन के बाद मेरे द्वारा देखने के लिए कुछ नही बचा ? अरे सब कुछ तो हे जा मे भी फिर से दख सकता हूँ।

आवाज को ही देखे। किसी ने यदि अभी कुछ कहा तो वह तुम्हारे कान म भी उतना ही जाएगी, जितनी मुझे सुनाइ देगी। ऐसा तो हे नही कि जितना भाग तुमने सुना मुझे उसके बाद का या पहले का सुनाइ दे। दोनो सुनगे पूरे-का-पूरा ही। बँटी तो नही।'

सत्यकाम चुपचाप सुनता रहा। एक साँड उसे ऐसे उदाहरण दे रहा था जिनकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी।

साँड न अपना प्रवचन शुरू कर दिया—'देखो ! मेरी मानो। ब्राह्म गणित मे बहुत कुछ ऐसा आता है, जो तुम्हारी लोकिक गणित के अनुसार ठीक नही लगता। मगर होता है यह ठीक।

जो ब्रह्म सत, चित और आनन्द स्वरूप है और उससे यदि पूण निकाल भी लिया जाए तो वह पूर्ण ही रहता है।

इसी प्रकार जीत के भी कुछ ऐसे उच्चतर रूप ह कि विजित होने पर पराजय अखरती नही। बल्कि आनन्द की वृद्धि होती है। सत्यकाम, यहाँ हारने वाले का कुछ घटता नही। बल्कि उसका आत्मविस्तार होता हे। वह प्रेम, भक्ति, ज्ञान मे खो जाता है।

जिस समय तुमने यह सोचना शुरू कर दिया कि इस चतुर्दिक म तुम्हारा अपना ही विस्तार होना है, इसी के साथ-साथ जब तुम समग्र आकाश या समग्र दिशाओ मे स्थित ग्रह पिडो का अपने ही रूप का विस्तार मान लो तो इस बोध के साथ ही क्या समस्त पिडो पर तुम्हारी जीत नही हो जाती। ऐसा होने से क्या समस्त प्रकाश लोको पर तुम्हारा आत्मराज्य कायम नही हो जाता क्या ? बोलो ! तुम्हे क्या लगता है ? क्या मे गलत हूँ कही ?'

सत्यकाम का अब प्रश्न था—'बार-बार उपासना की बात क्यो करते हो तुम ?'

'पशुओ के साथ रहते-रहते तुम भी वैसी ही सोच-समझ वाले होते जा रहे हो। मै फिर भी तुमसे अच्छा सोच सकता हूँ। कह सकता हूँ। मेरा ज्ञान मेरी सोच तुमसे बहुत आगे की हे। अरे जिसे जान लिया उसे पा लिया ही समझो। यह ज्ञान से आगे की स्थिति हे। ज्ञान को आत्मसात् करने मे ही हमारी सफलता हे। यही हमारी सवेदना का अग हे। इसे अपना बनाकर रखने मे ही मजा हे।'

सॉड ही समझा रहा था—'सत्य को जानना आसान है। मगर इसे अपनाना कठिन। जीवन मे, व्यवहार मे लाना कठिन। इसके लिए कोशिश की जरूरत हे। कठिन साधना की आवश्यकता हे। चिन्तन करने की जरूरत हे।

'ऐसा भी समय आता हे, जब स्वय से भी सघर्ष करने की आवश्यकता होती हे। जब भी कभी अपने ही खट्टे-मीठे अनुभव परेशान करने लगते है तो अजित ज्ञान भाग खडा होता है। यह ऐसा वक्त होता है जब अपने मन को बल देना जरूरी हो जाता हे। आस्था मे मजबूती लानी पडती हे। ऐसा करना ही उपासना करना कहलाती है। इसके बिना तो कुछ भी सम्भव नही। कुछ भी निश्चित नही।'

बालक सुन रहा था। सॉड समझा रहा था। सॉड का अपना ज्ञान अति विस्तृत था। इसीलिए उसने आगे कहा— सत्यकाम ! याद रखना ज्ञान पाने के लिए किसी आचार्य की, गुरु की शरण ली जा सकती है। वह भी ज्ञान दे सकते है। मगर इस पर अभ्यास तो स्वय को ही, खुद को ही करना पडेगा। तभी लाभ होगा।

'इस दुनिया मे सीखने, जानने, अध्ययन करने को जितना है, उससे अधिक कार्य तो इसे अपने व्यवहार मे लाने का होता है। इसे अपनाने के लिए धैर्य की आवश्यकता है। बुरा मत मानना, तुम भी मानव जाति से हो, इसलिए जरा सोचकर कहना पडता है, मगर है यह सत्य। आप मे बडे-बडे ज्ञानी मनुष्य होते हुए भी मनुष्य नही बन पाते। हमारी बात वेसी नही है।'

सत्यकाम हर बात को मन्त्रमुग्ध होकर सुनता रहा। बोला कुछ भी नही। बीच-बीच मे विस्मित जरूर होता रहा।

सॉड ने अपना दर्शन कुछ यो सुनाया—'अरे, अपने ही मन की लो। तुम जरूर सोचते रहे होगे कि आचार्य ने तुम्हे बहकाया है। तुम्हारे साथ झूठ बोला है। कहा कुछ, किया कुछ और मैने भी झूठ बोला है। इस दिशा मे मै तुम्हे समझाना चाहूँगा कि सत्य के ऐसे उच्चतर रूप भी हे जो लौकिक दृष्टि से झूठ प्रतीत होते है। ऐसा हमारे अपने कारण, हमारी बुद्धि के कारण ही महसूस होता है। वास्तव मे है नही। तुम सुनकर चकित जरूर होगे कि अतिमानवीय ज्ञान के लिए

ऋषि मुनि हम पशुओ को तकलीफ देते रहे है।

'देखो, समझो, मै जो कहता हूँ। ज्ञान ने आदमी के बोध का खण्डित जो कर दिया है। आचार्य ने कहा था कि ऐसी सच्ची वाते ता कवल ब्राह्मण ही करता है। इसका अथ यह भी हुआ कि उन्होने जन्म स ब्राह्मण होने की बात कही नही। उनके कथन के अनुसार तुम ब्राह्मण हुए।'

'मेरे भाइ सत्यकाम ' वह ब्रह्म जिसकी प्राप्ति के लिए अत्यधिक साधना की जाती हे, मत्य के अलावा तो कुछ हे ही नही। जिसके हृदय मे सत्य क प्रति इतनी अधिक निष्ठा हो वह भी ब्राह्मण ही हुआ। यह तो मानना ही पडगा।

सत्यकाम की हर भावना को, हर विचार को सॉड ने भॉप लिया था। उसकी हर दुविधा का भी बिना पूछे, सॉड उत्तर देता रहा। स्पष्टीकरण देकर, मन मे बिठाता रहा।

सॉड ने सत्यकाम की तगभग खिचाई करते हुए यह भी कह दिया—'जो मोचा सो सोचा। जो हुआ सो हुआ। आने वाल समय के लिए सावधान रहना। एसी शकाएँ फिर नही करना।

'जहॉ तक मेरी बात है मे तो इससे आगे कुछ कहने समझाने से रहा। हॉ, पहला भाग तो पूरा हुआ। ब्रह्म के दूसरे चतुष्कल या पाद की शिक्षा तुम्ह अग्निदव दगे। उस अवसर की प्रतीक्षा करो और उनसे अमूल्य ज्ञान की प्राप्ति करो।

'हॉ अब चलो आचार्य के आश्रम की ओर। हमे भी ले चलो। उनकी इच्छा पूण हुइ है। हजार से अधिक गाये है अब तुम्हारे पास। मुझे भी उनके साथ धम चचा करने की बडी इच्छा हो रही है। हे सत्यकाम ' तुम्हारा गायो की वृद्धि का काम तो मेने किया ही, तुम्हारे ज्ञान मे वृद्धि की भी कोई कमी नही रखी। इसको ध्यान म रखना। याद रखना। जितना सम्भव हो अभ्यास भी करना।' कहते-कहते साड चुप हो गया।

सत्यकाम ने भी हाथ जोडकर सॉड का आभार प्रकट किया।

उपनिषद् की यह कथा आगे बढती हे। इसके अनुसार सत्यकाम ने सॉड की बात मान ली। वैसे भी आचर्य द्वारा रखी शर्त भी पूरी हो चुकी थी। वह एक हजार से भी अधिक गायो को लेकर चरागाह से आश्रम की ओर चल पडा। उस ज्ञान देने वाला सॉड, कुछ अन्य सॉड तथा छोटे-छोटे बछडी-बछडे भी साथ थ।

ये सब प्रात ही चल पडे थे। चलते रहे। दिन भर चलते रहे। छाटा को कुछ कठिनाई जरूर आई मगर उनकी माताएँ उन्हे बार-बार दूध पिलाकर, बार-बार चाटकर उनकी थकान दूर करती रही। चरागाहो ओर आश्रम मे बहुत दूरी थी। जव ॲधरा होने लगा तो उन्होने रात भर यही डेरा डाले रहने का निश्चय किया।

थकावट भी इतनी थी कि वे आगे चल भी नही सकते थे। अँधेरे मे गिर जाने या रास्ता भटक जाने का भी डर था।

आग जला दी गई। मगर यह क्या, आग जलाते ही इससे अग्निदेव प्रकट हो गए। कोई दिव्यशक्ति जानकर, सत्यकाम ने प्रणाम किया। आशीर्वाद देते ही आग न कहा– मे तुम्हे उपदेश देने के लिए पकट हुआ हूँ। मैने देखा है कि तुम शिक्षा पाने के लिए सुपात्र हो। सॉड ने तुम्हे जो कहा, तुमने ध्यानपूर्वक सुना। इससे मुझे प्रसन्नता हुई। मै भी आस-पाम उपस्थित था।

सॉड ने कहा था कि शिक्षा का अगला पाठ मै पढाऊँगा।'

'ठीक कहा आपने। आप कृपा करे। मे आपके प्रवचन बडे ध्यान से सुनूँगा।' सत्यकाम ने हाथ जोडकर धन्यवाद किया और आगे कहने की प्रार्थना की।

अग्नि ने कहना शुरू किया—'सत्यकाम ! मेरी बात ध्यान से सुनना। इस दरम्यान इधर-उधर ध्यान मत करना। एकाग्रचित्त होकर सुनने मे बडा लाभ होता है।

'यह पृथ्वी उस ब्रह्म के इस चौथ पॉव का चतुर्थाश हे। दूसरा चतुथाश हे अन्तरिक्ष। तीसग द्युलोक और ओर चौथा समुद्र मानो। इन सभी चार कलाओ से बना यह दूसरा पद अनन्तवान माना जाता है। मेरे उपदेश का यह भाग बहुत मनन करने योग्य हे।'

आग से इतना उपदेश पा लेने के बाद जिज्ञासु सत्यकाम ने बीच मे ही कह दिया—'कृपया बताएँ कि द्युलोक क्या प्रकाशवान ब्रह्म से कही अलग है क्या ?'

'मेरे भाई ! तुझे जो सॉड से उपदेश मिला, वह दिशाओ के मे बारे था। दिशाओ से सम्बन्धित। आकाश की समझ लो। मै जो बता रहा हूँ वह पिडो की बात हैं।

यह पृथ्वी, इसके जगल, पहाड और दरिया—ये सब ब्रह्म के ही रूप हे। और बाहर का यह सारा अन्तरिक्ष लोक तथा द्युलोक सबके सब ब्रह्म के ही रूप हे। उसी के अश। उसके एक पाद के अश।'

आग ने कहा। सत्यकाम न सुना जरूर। मगर उसके पल्ले कुछ न पडा। उसकी समझ मे न आया। यह बात आग से भी छिपी न रही। उसके अन्दर उठ रहे प्रश्नो को, शकाओ को आग जानकर भी अनजान बनी रही। पूछ लिया—'सत्यकाम ! क्या बात है। कुछ पूछना चाहते हो तो पूछो।'

'मेरे विचार से अन्तरिक्ष का अपना कोई लोक है ही नही। अभी तक तो मै यही समझता रहा हूँ। यह तो द्युलोक और पृथ्वी के बीच का आकाश ही है। कहिए, ऐसा ही हे क्या ?' सत्यकाम ने नि सकोच अपने मन की बात कह दी।

आग ने भी सत्यकाम के मन म उठ विचारा का सही दिशा देने के लिए कहा– एक बात जान लो। सब लाक अलग अलग प्रकार से अलग-अलग पदार्थो स बने हे। पृथ्वी को ही दखे–यहॉ वन हे, वन सम्पदा है पहाड ह, खेत-खलिहान हे–बहुत कुछ हे इस पृथ्वी की प्रकृति मे।

तुम्हे इस पृथ्वी से इसके गुणो से बाहर निकलना होगा। इससे हटकर साचना होगा। इसस बार निकलकर सोचा। तुम चकित हो जाआगे कि लाका का कोइ अन्त ही नही। यदि तुम्हारे मन मे यह बात बेठ जाए कि जहॉ एक द्रव्य ह वहॉ कोई दूसरा नही हो सकता तो सृष्टि को समझने मे जरूर कठिनाइ आएगी।

इससे तो तुम पार्थिव द्रव्यो को भी नही समझ सकोगे।

मेरी बात मानो। यह अन्तरिक्ष सूक्ष्म द्रव्यो से बना हे। इस अन्तरिक्ष मे पवन ओर पर्जन्य वास करते हे। पवन को ही ले। सर्वत्र एक जेसी एक समान नही हे। इसकी अलग स्तर पर अलग स्थिति है। इस प्रकार की उनचास स्थितियॉ ह। यह भी याद रखना कि ये सभी पवन एक साथ, एक समय मे कभी नही चलते।

ये सारे पवन एक दिशा मे भी नही चलते। इन सबकी अपनी-अपनी दिशाएँ हे। हे तो सभी पवन नाम को पवन मगर सब एक द्रव्य से नही बने हाते। अन्तरिक्ष भी बडा विचित्र हे। इसे हिरण्मय पात्र कहे तो भी कोइ गलती न हागी। सूर्य के सभी गुणो को, सूय के पूर्ण प्रकाश को, सूर्य की पूर्ण तपिश को य पृथ्वी पर नही आने देता। जहॉ मोका लगा लील गया।

सत्यकाम सूर्य को मरीचियो का पान कहते हे। इसी पर ये निर्भर है। यही भोजन भी हे। एक बात और भी जान लो, यदि सूय की पूरी तपिश पृथ्वी तक आ जाए तो यहॉ कुछ नही बचेगा। जल जाएगा। राख हो जाएगा। यह अन्तरिक्ष लोक ही तो हे जिसने पूरी धरती को सॅभाल रखा हे। रक्षा कर रहा हे। जेसे मॉ अपने बच्चे को धूप से, ताप से ठण्डक से, हवा से बचाने के लिए अपनी गादी म छिपा लेती हे। इस पर आवरण डाल देती है। यही काय धरती की रक्षा के लिए अन्तरिक्ष करता हे। अन्यथा सूर्य इसे जलाकर रख देता। अतनी गर्मी हे सूर्य के प्रकाश मे।'

सत्यकाम एकाग्रचित्त होकर सुन रहा था।

आग ने आगे प्रवचन दिए–'ध्यान रहे, ब्रह्म के इस चतुष्कल पद को अनन्तवान कहते हे। जो इसकी इस रूप मे उपासना करता है वह भी अनन्तवान हा जाता है। यह सत्य है।'

'सच कह रहे है न आप ?' यह स्पष्ट प्रश्न था। बिना चाहे सत्यकाम क मुॅह से निकल गया। फिर हाथ जाडकर क्षमा मॉगते हुए सत्यकाम ने कहा–'मेरा अभिप्राय आप पर अविश्वास करने का कभी नही हुआ। मे ता वास्तव मे यह

जानना चाहता हँ कि इसकी उपासना केसे की जाती है। यही बतलाएँ।'

'कोइ बात नही। तुम बालक हो। जिज्ञासु हो। सब कुछ तुरन्त जान लेना चाहते हो। इसलिए मै तुम्हारे किसी प्रश्न का बुरा नही मानूँगा। तुम्हारी बात का उत्तर दे रहा हूँ।

'याद रहे कि इस उपासना की एक ही विधि हे। एक ही तरीका। आत्मचिन्तन करे। ज्ञान को आत्मसात् करे। इसे अपने जीवन मे दिनचर्या मे उतार ले। अपना ले। यही तो ब्रह्म के रूप हे। इतना करने से ही बात बन जाती हे।

'यह भी स्मरण रखना कि तुम स्वय भी ब्रह्म से अलग नही। ब्रह्म के ही रूप हो तुम भी। तभी तो इन सबमे कुछ भी ऐसा कहाँ जो तुमसे अलग हो। न ही तुम किसी से अलग हो। सब एक रूप। एक जेसे। एक ही के रूप।

'यदि तुम इनमे से किसी को भी नष्ट करोगे, मलिन करोगे, बरबाद करोग तो तुम स्वय ही नष्ट हा जाओगे। मलिन हो जाओगे। यह भी सत्य हें कि वह ब्रह्म भी मलिन होता हे। नष्ट होता हे। अत ऐसा कोई प्रयत्न न करे।

'मान लो तुमने किसी का कहना नही माना वह भी तुम्हारा नही मानेगा। ये सबके सब तुममे से हे। ओर तुम उनमे से हा। याद रहे, तुम्हारा जीवन इन सब पर निर्भर करता हे। इस धरती पर, इस भूमि पर जो कुछ भी हे उस पर भी इससे बाहर अन्तरिक्ष मे उससे भी दूर द्युलोक मे जा कुछ है सब तुम्हारा ही आत्मविस्तार है ऐसा मानो। तुम इन सबके अगभूत हो।

'कहने को तो तुम्हारा परिवेश तुमसे बाहर है। वह तुम्हारे भीतर भी हे। याद रखो पर्यावरण को नष्ट करके तुम भी बच नही सकते।

'पयावरण की रक्षा परम आवश्यक है। इसके साथ तुम्हारा अपना जीवन भी जुडा हे। इस पर निर्भर है। पर्यावरण की पूजा करने की जरूरत नही। इसकी रक्षा करना, तुम्हारी अपनी रक्षा होना हे। यदि इसे बरबाद करोग, या होने दोगे तो तुम स्वय भी बरबाद हो जाओगे। इस बात को अपने मन मे बिठा लो।'

आग ने कुछ भी छिपाकर नही रखा। जो भी कहना था, जो उपदेश देना था, बहुत स्पष्ट दिया। तभी तो सत्यकाम विस्मित होता जा रहा था। हर पग पर चकित-सा। इस बार पूछ भी बैठा—'अग्निदेव ! बडी कृपा कर रहे हे आप। हमे रक्षा करनी चाहिए हर शै की। इसे नष्ट होने से बचाना चाहिए। मगर जो भी फल, फूल, सब्जी, अन हम तोडते काटते, खाते है, उससे भी तो कुछ-न-कुछ नष्ट ही होता हे। ऐसा न कर ता अपना निर्वाह ही करना कठिन होगा। कृपया समझाएँ।

'अरे ! मेरा यह मतलब तो हे ही नही। हमारे लिए कुछ भी वजित नही। जीवन के भिन्न-भिन्न रूप भी एक-दूसरे पर पूरी तरह निभर रहत हें। एक-दूसर म जीवित। ऐसा क्यो सोच रहे हो कि कुछ भी तोडना खाना नही चाहिए। मान ला

जीवन देन वाला तथा जीवन ग्रहण करने वाला दोनो ही नष्ट हो जाएँ तब ता प्रकृति भी कहाँ रही ? पर्यावरण भी कहाँ बचा ?

ओर सुनो। यह लकडियाँ ही देखो। इनमे नन्ही-नन्ही चिनगारियाँ छिपी पडी है। ये आग के जलने पर सामने आई हे। इससे पूर्व तो इनका आभास भी नही हो सकता था।

ठीक इसी प्रकार मै तुम्हे ज्ञान दे रहा हूँ। इसका सामना तो गहर चिन्तन से ही सम्भव हे। इसे पाने के लिए प्रज्ञावान व्यक्तियो की आवश्यकता ह। मान लो बढिया पकवान तैयार हे। खाने की इच्छा हो रही है। मुँह मे पानी आ रहा हे। खाइए। खाते जाइए। पेट भरकर खाइए। इससे भी अधिक। बस ! बदहजमी होन लगगी। यह कइ रास्तो से फूट निकलेगा।

जिस अन्न को, जिन पकवानो को खाया, वे भी बरबाद। जिसने खाया वह भी खराब। इसलिए कहते है कि सीमा के अन्दर रहकर प्रकृति का भोग करो। जीने के लिए खा लो। कोई इनकार नही करता।'

कुछ देर सत्यकाम चुप बैठा रहा। खोया-खोया-सा। जा उसने सुना, उस पर मनन करता रहा। आग ने भी कोई हस्तक्षेप नही किया। फिर बोली— अति ठीक नही होती। सीमा के अन्दर रहकर प्रकृति का, यहाँ के पदार्थो का प्रयोग करन म कोई हर्ज नही। उतना खाना चाहिए, जितनी भूख हो। उतना पीना चाहिए जितनी प्यास हो। अहकार ठीक नही। यह बढेगा तो विनाश का कारण बनेगा। प्रकृति मे उगे वृक्ष काटो फल-सब्जियाँ तोडो। मगर आवश्यकता को पूरा करने के लिए। भण्डार बनाने के लिए नही। सत्यानाश के लिए भी नही। तभी पयावरण बच पाएगा। तभी तुम भी बच पाओगे। मानव बच सकेगा। अपनी भी रक्षा कर सकगा। सही विज्ञान को समझे। अज्ञान को ही विज्ञान का नाम देकर पृथ्वी, पहाड, अन्तरिक्ष जल प्रकृति इसका विनाश न करे।'

आग की बात अभी पूरी न हुई थी कि सत्यकाम ने पूछ लिया—'अज्ञान तो मै जानता हूँ। जो समझाया उसे भी समझा। मगर विज्ञान क्या है। जरा सक्षेप मे कृपया बताएँ।'

'हे सत्यकाम ! तुम्हे मे बहुत ही सरल शब्दो मे समझा रहा हूँ ! यह ज्ञान कि अपने परिवेश और प्रतिवेश तथा पर्यावरण को नष्ट करने का अर्थ है अपने आपको नष्ट करना। जीने के लिए खाओ। जितने मे निर्वाह हो सके उससे ऊपर मत तोडा। मत फोडो। बल्कि उसकी रक्षा करो। बचा रहेगा तो दूसरो के काम आएगा। उनके जीवन की भी रक्षा होगी। वे भी बच पाएँगे।

पशु, पेड पाधे, पक्षी, मनुष्य सभी को आगे आने दो। बढने दो। मगर केवल एक सीमा तक। सीमा से अधिक तुम भी मत बढो। उनकी भी सीमाएँ हो।

तुम्हारी भी। इसी मे जीना सीखो। इसी मे जीवन हो। यही तो विज्ञान है। विज्ञान की यही रक्षा भी।'

एक और प्रश्न घूमने लगा सत्यकाम के मन मे। आग की ओर से जानने पूछने की पूर्ण स्वतन्त्रता ही थी। पूछ लिया उसने—'अविद्या से मृत्यु को केसे पार किया जा सकता है, मे यह जानना चाहता हूॅ। कृपया बताऍ।'

'तो ध्यानपूर्वक, मन-चित्त लगाकर सुनो—'जिस ज्ञान से केवल इन्द्रियो का विस्तार होता है, यन्त्र और उपकरण बनते है। भोग्य वस्तुओ का निर्माण होता हे। जीवन रक्षा के उपाय किए जाते हे, वह विद्या तो हे ही नही। इसे ही तो अविद्या नाम दिया जाता है। यह अविज्ञान हे। विज्ञान नही।

इससे जीवन निर्वाह के साधन जरूर जुटाए जाते है। मौत से बचने के ढग ढूॅढे निकाले जाते है। ध्यान रहे विद्या तो प्राणीमात्र के साथ सारी दुनिया के साथ आत्मभाव को बढाने वाली हे। सबके साथ आत्मसार करने वाली। प्रेमपूवक जीने का रास्ता निकालने वाली। विद्या ही तो सिखाती है मिल बैठना। उन्हे अपना बनाना। स्वय को उनका भिन्न अग मानना। आनन्द मे रहना। शान्तिपूर्वक रहना। ब्रह्म के साथ, ब्रह्म का बनकर रहना। स्वय को भी ब्रह्म का हिस्सा मानना। उन्हे भी।'

सत्यकाम धन्य हो उठा। कृतज्ञता जतलाने लगा। तभी आग ने कहा—'बस इतना ही। मेरा काम पूरा हुआ। जितनी मेरी जिम्मेवारी थी, जितना मैने समझाना था समझा दिया। इससे आगे का ज्ञान तुम्हे हस देगा। यह काय उसे ही सौपा जा चुका हे।

उपनिषद् की इस कहानी मे सत्यकाम को कुल ज्ञान का एक चौथाई ज्ञान सॉड ने दिया। उसी ने कह दिया था कि अब आग तुम्हे उपदेश देगी। अगला एक चौथाई भाग आग ने समझाया। आग ने ही घोषणा कर दी कि उसका काम पूरा हुआ। अब एक चोथाइ ज्ञान हस से मिलेगा। यह पूर्व घोषणा थी। सत्य भी होनी थी। हुई भी। कैसे ? आइए, इस कहानी के अगले भाग पर गोर करे।

आग द्वारा उपदेश दिए जाने के बाद आग पूरी तरह बुझ गई। लकडियॉ भी समाप्त हो गई। सत्यकाम भी विश्राम करने लगा। उसे शीघ्र ही गहरी नीद आ गई। थका हुआ तो था ही। सो गया—घोडे बेचकर।

प्रात होते ही सत्यकाम अगली यात्रा के लिए चल पडा। उसने सभी गाये, सॉड, बछडे, बछडियॉ हॉकनी शुरू कर दी। आश्रम के मार्ग पर चल पडा। चलता रहा। थकता रहा। आखिर दिन गुजरा। फिर रात का ॲधेरा छाने लगा। पडाव डाल दिया। सभी गायो सॉडो तथा बछडे-बछडियो को एक स्थान पर रोककर रात काटने का प्रबन्ध करन लगा।

कुछ लकड़ियाँ भी इकट्ठी की सत्यकाम ने। कल की भाँति आज भा आग जला ली उसने। वह आग के पश्चिम की ओर बेठा। आग सामन की। पूव दिशा मे। उसने सुन रखा था कि धूप पीठ की ओर स सेकनी चाहिए जबकि आग मामने की ओर से। उसने अपना आसन भी इसी प्रकार लगाया था।

आज आग को कुछ नही बताना था। कुछ नही समझाना था। मत्यकाम भी चुपचाप बेठा रहा। कुछ रात बीत गइ। तभी एक पक्षी उसकी ओर उडता हुआ आया। वही उतर गया जहाँ सत्यकाम का डेरा था। सत्यकाम ने ध्यान म देखा। यह हस था। तभी उसे आग की, कल रात वाली बात याद आ गइ। तो आ पहुँच ह हस महाराज मर अज्ञान को दूर करने। उपदेश देने ऐसा उसने मन-ही-मन कहा।

उसके हृदय ने कहा—'यह हस ही ह। पूरी तरह शुद्ध और पवित्र आत्मा। जो लाग इसे मात्र पक्षी समझते हे, वे मूख हे। यह तो ब्रह्म हे। बस एसा मानन की बात हे। आज भी यह ब्रह्म रूप मे आया हे मेरे पास।'

ठीक प्रकार से बेठते हुए हस ने कहा—'तुम्ही सत्यकाम हो न ! म तुम्ह ब्रह्म क तीसरे चरण का उपदेश दूँगा। मुझे इसी के लिए यहाँ भेजा गया ह। कल रात तुम्हे आग ने यह पहले ही बता दिया हागा।'

'जी ! आपका स्वागत हे। मुझे भी आपकी ही प्रतीक्षा थी। अपना उपदेश दीजिए।'

'ध्यान से सुनो। इस तृतीय पाद का एक चोथाइ अग्नि हे। एक चोथाइ सूय। तीसरी चोथाई चन्द्रमा। ओर अन्तिम तथा चोथी चोथाई विद्युत। चारा बता दा मैने। इस चतुष्कलपाद का नाम हे—'ज्योतिष्मान'। जो इसकी उपासना करता हे, वह भी ज्योतिष्मान हो जाता हे। ऐसा होने पर, इस उपासना के करन पर वह ज्योतिष्मान लाको को जीत लेता हे। इस बात को मन मे बिठा लो। काम आएगी।

अब मत्यकाम के मन मे पुराना ज्ञान घूम गया। याद किया—'साँड ने आकाश को ब्रह्म का अग बताया था। आग ने पृथ्वी को ब्रह्म का दूसरा अग गिनाया।

उसन पूछ लिया— बताएँ तो इनकी उपासना केसे करत हे। ज्योतिष्मान लाको को केसे जीता जाता है ?'

बताता हूँ। यह उपासना केवल एक प्रकार स की जाती है। यह बाध कि ज्योति के स्रोत तुम्हारे अन्दर ही हे। तुम्ही म समाए हुए। वे मब भी उमी ब्रह्म का हिस्सा हैं, जिसके अग तुम हा। जेसे तुम ब्रह्म से किसी प्रकार भी भिन्न नही इसी प्रकार वे सब भी न ब्रह्म से भिन्न ह न तुमसे। इसे याद रखना।'

'अवश्य।' सत्यकाम ने कहा।

'बस ! मुझे इतना ही कहना था। जो विधियाँ जो तरीक, जा बिन्दु पूव की

दो रातो मे सुने थे। उसी प्रकार इसे जान लो। अब मे चलता हूँ। अगला ज्ञान दन के लिए मद्‌गु पक्षी की जिम्मेवारी हे। यह आज नही, कल पा सकोगे।' कहते कहते हस लोट गया।

रात बीती। दिन भर सत्यकाम अपनी गायो सॉडो आदि के साथ पेदल यात्रा पर रहा। फिर रात आई। वही आग का जलाना। मद्‌गु पक्षी की प्रतीक्षा। बहुत देर से प्रात होने से कुछ पूर्व यह पक्षी पहुँचा। सत्यकाम की प्रतीक्षा की घडियॉ पूरी हुइ। प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा। ब्रह्म के चोथे पाद का ज्ञान पाना था उसे।

जमीन पर बेठते ही मद्‌गु ने कहा—'सत्यकाम तुम्ही हो, मै यह भली प्रकार जानता हूँ। आज मे तुम्हे ब्रह्म के चोथे पद का उपदेश दूँगा। ध्यान से सुनना।'

'कहिए ! मै पूरे ध्यानपूवक सुनूँगा। मन मे बिठाऊँगा। मनन करूँगा। सदा याद रखूँगा। अपने जीवन मे इसे उतारने का पूरा प्रयत्न करूँगा।'

'मे बहुत सक्षेप मे अपना उपदेश पूरा करूँगा। ब्रह्म के चोथे पाद मे एक कला प्राण हे। दूसरी कला चक्षु हे। तीसरी कला श्रोत्र। चौथी ओर अन्तिम कला मन है। इसे ही ब्रह्म का आयतनवान पद कहा जाता है।

जो इस प्रकार जानकर मन मे धारण कर, चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह स्वय भी आयतनवान हो जाता हे। वह इसी के प्रभाव से सभी आयतनवान लोको पर विजय प्राप्त कर लेता है।

इस बार सत्यकाम का अपना ही मन कहने लगा—'ठीक ही तो कहा हे मद्‌गु ने। मेरी इन्द्रियॉ सचमुच ब्रह्म का आयतन ही है। मुझे लगता है कि यह बाहरी दुनिया मेरे अन्दर ही हे। मेरी इन्द्रियो मे ही उसका निवास है।'

आज उसे नीद ने घेर रखा था। इसलिए सत्यकाम इतना सोचते-सोचते सो भी गया। गहरी नीद।

रात बीती। प्रात हुइ। उसने अपनी दोनो हथेलियो को चूमकर शुभ दिन की कामना की। अपने पशुओ का सॅभाला। आगे चलने को तैयार हुआ। चलता रहा उसी रास्ते पर जो उसे आचार्य की कुटिया मे ले जाता था।

दोपहर ढलते-ढलते वह गुरुदेव के आश्रम मे जा पहुँचा। हारिद्रुमत गोतम ने अपने शिष्य सत्यकाम को देखा। खाती-पीती तगडी गायो पर नजर दोडाइ। हजार से ऊपर ही होगी, देखने मात्र से इसका अन्दाजा लग रहा था। सॉड भी साथ थे। कुछ छोटे बछडे-बछडियॉ भी। आचार्य बेहद प्रसन्न हुआ। उसने सत्यकाम के चहरे पर नजर दोडाई। वह बेहद प्रसन्न नजर आ रहा था। उसके चेहरे पर रोनक थी। तज था।

देखने मात्र से लग रहा था कि शिक्षा और सस्कार ने ही उसकी त्वचा मे

परिवतन ला दिया हे। सॉड, आग हस आर मद्गु सभी ने उस ब्रह्मज्ञान की पूरी शिक्षा दे दी हे। लगता था कि उमने इस शिक्षा को उपदश का अच्छी प्रकार सुना आर अपनाने का मन बना लिया हे।

मेरे द्वारा बिना काई उपदेश दिए तुम तो ब्रह्मवन्ता लग रह हा सत्यकाम।

'यह सब आपकी कृपा हे। आप द्वारा किया प्रबन्ध ह। यदि आप एसा प्रबन्ध न करते ता भला मुझे ज्ञान देन कान आना । म ता आप ही का आभागी हूँ। कहते-कहने सत्यकाम को वह घडी याद हा आइ जब उस गउआ का चरान क लिए भेजा जा रहा था। उस समय आचार्य के शब्द कुछ इस प्रकार क थे—'बेटा । याद रखा ज्ञान कम के भीतर से ही फूटता हे। पुस्तका का पटकर अजित किया गया, सीखा गया ज्ञान—ज्ञान नही। यह ता कवल ज्ञान का पूवाभास मात्र हे।'

'आचाय देव । यह सब आपकी कृपा का परिणाम हे। मन अनुभवा स इसे पाया हे। अपने शरीर मे, अपन व्यवहार मे, अपन जीवन म पूरी तरह उतारन का सकल्प कर चुका हूँ। इस मेने जीवन अनुभवा आर चिन्तन के क्रम म पाया ह। इसीलिए यह ज्ञान मरे लिए ओर भी बहुमूल्य हा गया हे।

जा ज्ञान मुझे उन चारो न दिया उसी का चिन्तन करते-करत जीवन ओर जगन के विषय मे मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया हे। यही मेरी असली उपलब्धि भी ह।'

कहते-कहते सत्यकाम ने अपने हाथ जाड दिए। आचाय के चरण स्पश कर कहा—'मेने अपने अनुभव के आधार पर ज्ञान की प्राप्ति कर ली ह। आगे का उपदेश आपको ही देना है। कृपया दे। गुरुदेव । आप तो जानते ही हे कि गुरु के मुँह से उपदेश प्राप्त किए बिना किसी भी ब्रह्मवादी को शिक्षा पूण हा ही नही सकती।'

'ठीक हे। मे भी अपने शब्दो मे, अपने ही मुँह स तुम्ह उपदेश दे रहा हूँ। सत्यकाम । जो कुछ तुमने जान लिया हे, वही तो जानने योग्य था। ध्यान रहे चारो पद भी एक ही ब्रह्मा के है। इन्ह बॉटना नही चाहिए। वह पूण हे। चूँकि हम उसी पूण के अग है उसी से निकले है, अत हम भी पूण ह। यह दुनिया अपन आपमे पूर्ण हे। क्योकि यह भी उस पूण स निकली हे।

'इस पूर्ण के निकलने से ब्रह्म अपूर्ण या न्यून नही होता। यह बस उसी मे हे।'

अब सत्यकाम ने दोहरा दिया— पूणता का बोध ही तो मधुविद्या का निचोड हे। सार है। सत् ह।'

आचार्य ने सत्यकाम के सिर पर हाथ रखकर उसे आशीवाद दिया नहा-धोकर भोजन करने ओर फिर विश्राम की आज्ञा दी।

मृत्यु से पहले कुछ न था

सत् नही, असत् नही, वायु नही, आकाश नही।

कोई दिशा नही, कोई गति नही, कोई आधार नही।

मृत्यु नही, अमरता नही।

न रात, न दिन, न प्रकाश न अन्धकार।

याज्ञवल्क्य इन्ही विचारो मे खोए हुए थे। उधेड-बुन मे पडे थे। कुछ भी ता समझ नही आ रहा था। तब उन्ह अपना अन्तिम शब्द 'न अन्धकार' घेरकर खडा हो गया।

मन ने कहा—'नही अन्धकार तो था। गहन अन्धकार। तरल ' अपने मे ही छिपा हुआ अन्धकार। वह ऐसा ही कुछ अस्पष्ट-सा कहते जा रहे थे।

याज्ञवल्क्य ने अनेक शिष्यो को शिक्षा दी थी। अनेक बार दी थी। जो पाठ पढे थे। वही पढाए भी थे। फिर से यह मन्त्र उनके मस्तिष्क मे कौधने लगा—न असत् आसीत न सत् आसीत तदानी। यह सूक्त क्या था, काली लौ बनकर उनके मस्तिष्क मे, उनकी चेतना मे हडकम्प मचाए जा रहा था। वह मोचे ही जा रहे थे। असहज से हो गए थे वह।

वह सोच रहे थे उस समय के बारे मे, उस काल के बारे मे। उस अन्धकार से पहले के समय को। वह ऐसा काल रहा होगा जब शायद अन्धकार भी नही था। उन्हे एक प्रश्न विचलित कर रहा था—जब अन्धकार भी न था, तब क्या रहा होगा ?

शायद कुछ भी नही। यही उत्तर आया मन मे। फिर उत्तर से एक प्रश्न उपजा—'कुछ नही होने को' क्या नाम देगे। अन्धकार से पूर्व अन्धकार कोइ जॅचा नही। इस स्थिति को कोई नाम देना चाह रहे थे याज्ञवल्क्य। मगर ऐसा कोई नाम उन्हे सूझ नही रहा था।

किसी को भी इसके लिए उपयुक्त शब्द न मिल रहा होगा, तभी तो अन्धकार कह दिया। जब बार-बार सोचने के बाद भी अन्धकार से बाहर नही निकल पा रहे थे, तभी नाम दे दिया—'अन्धकार'। उलझन मे पडे याज्ञवल्क्य को एक पर्यायवाची शब्द मिल गया। यह था 'मृत्यु'। उनकी नजरो मे ॲधेरा ही मृत्यु है। मृत्यु ही ॲधेरा है।

अब उन्हे लग रहा था कि यह शब्द मृत्यु उनके मन से नही निकला। अन्धकार से नही फूटा। कोई नया नही। पहले से विद्यमान हे। उन्होने इसे पहल भी सुना हे। आज भी सोचा नही, बल्कि सुना है। अन्धकार से फूटकर उनके कानो मे पडा है।

उनको कोई समझा रहा था। उसी के अनुसार उनका मन कह रहा था—'जब कुछ भी नही था, तब मृत्यु थी।' मन ने गवाही दी—'अस्तित्व का अभाव ही तो मृत्यु हे। अन्धकार ने भी मृत्यु से जन्म लिया होगा। मृत्यु भी अन्धकार स उपजी हागी। एक ज्वारभाटा चल रहा था उनके मन मे। उथल-पुथल मची थी वहॉ।

हॉ, जब अन्धकार नही रहा होगा, तब भी मृत्यु तो रही ही होगी।

यदि कोई अपने जन्म से पूर्व की अवस्था को नही समझ पाता तो परमेष्ठी कैसे समझ पाते। बिलकुल भी नही। वह भी ऐसे थे, जो अपने पूर्व रूप को न समझ सके। यह तो मानना ही होगा कि उस अन्धकार से पहले वह स्वय मृत्युरूप ही थे।

उनके मन मे सारी बात का एक सार, एक निचोड आया—'जीवन ओर सृजन क्या जो नही था उसका हो जाना जिसका अस्तित्व नही था उसका अस्तित्व मे आ जाना ही नही है।

याज्ञवल्क्य इस निर्णय के आसपास खडे थे, जब उनके मन ने कहा—'सब कुछ तो मृत्यु से निकला है। मृत्यु ही जीवन का गभ हे। सृष्टि का मूल।'

जब याज्ञवल्क्य इस उधेडबुन मे घिरे थे, उनके शिष्य सामने बैठे, उनके चेहरे को बडे ध्यान से देख रहे थे। जेसे उनके मन मे विचार उठते, उनके हाव-भाव बदल जाते। होठ फडफडाने लगते। अस्पष्ट से शब्द निकलते। शिष्य भी यह सब देखकर चकित रह गए।

अब भी उनका दिमाग बेलगाम घोडे की तरह भाग रहा था। शब्द फूटे—'मृत्यु ! मृत्यु ही तो सब कुछ हे। सब कुछ उसी से तो निकला है। मृत्यु से ही। वही तो थी प्रारम्भ मे। बहुत पहले। अन्धकार से भी पहले।'

मन कहता—'मृत्यु से ही तो सब कुछ ढका हुआ था। क्षुधा से ही आवृत था सब कुछ। '

वह मानने लगे—'मृत्यु, क्षुधा का ही दूसरा नाम है। मृत्यु के सामने कुछ भी नही बचता। निगल जाती है सब कुछ। पेट हे या क्या है।

क्षुधा ही मृत्यु है। क्षुधा ही भूख है। ऐसी भूख जो कभी मरती नही। पेट कभी भरता नही। खाने से पहले भी क्षुधा। खाने के बाद भी क्षुधा। भूख है न ! इसका कभी अन्त नही होता।

अब तो याज्ञवल्क्य को यकीन होने लगा—'ससार के बनने से पहले भी यही थी। ससार के बन जाने पर भी यह थी। ससार के बाद भी यही रहेगी। मृत्यु हे

न, कभी चुप नही बैठती। आराम नही करती। सदा क्रियाशील रहती है। कभी अपने आप मे समा जाती है। अपने ही गर्भ मे समा जाती है। कभी अपने को जाहिर भी कर देती है।

कमाल है इसकी। अपने से बाहर आती है। बाहर आते ही, अपने आपको निगल जाती है। फिर भी विद्यमान बनी रहती हे। इस प्रकार सोचते जा रहे थे याज्ञवल्क्य।

कुछ निश्चित शब्द उभरकर आए थे याज्ञवल्क्य के मन मे। अनन्त भूख। गहरी भूख। कभी न समाप्त होने वाली भूख। यही तो मृत्यु की लालसा है। यही तो है जिससे सब कुछ पैदा होता है। हुआ भी है। मृत्यु की इस लालसा से ही।'

आज शिष्य बहुत चकित थे। उन्हे गुरु याज्ञवल्क्य का व्यवहार कुछ अजीब-सा लग रहा था। वह पढाते-पढाते खो गए थे। आज तो गुरु आत्मालाप मे खो गए थे। घिर गए थे। फॅसे पडे थे। चेहरे पर भाव थे। होठो पर शब्द थे। दोनो से मिलाकर जो सार निकल रहा था उसे ये ग्रहण कर रहे थे।

याज्ञवल्क्य ने सोचना बन्द किया। बुदबुदाना बन्द किया। कहना शुरू किया। शिष्यो ने सुनना और मनन करना आरम्भ किया।

वह बोले—'आइए । बताता हॅू कि इस मृत्यु से यह जीवन किस प्रकार निकल सका। उस परम मृत्यु ने ही पहल की। सोचा उसे आत्मा से युक्त हो जाना चाहिए। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए मृत्यु ने एक लम्बी साधना की। इसी से 'क' अथवा जी की उत्पत्ति हो गई।

'जेसा जल हम देखते है, यह जल वैसा नही था। इस जल मे द्रव, स्थूल, वायु, तेज चारो थे। इतना ही नही आकाश, दिशाऍ सब उसमे थी। यह 'कारण जल' पच विपाक था उस समय। ये सब घुल गए। द्रव मे परिवर्तित हो गए। यही तो वह तरल अन्धकार था। अपने आप तक सीमित सिमटा हुआ। यह अपने ही ताप मे तप रहा था। यह अपने दबाव मे इतना कसा हुआ था कि निकल पाने को भी समय नही।'

'आगे क्या हुआ ?' एक ब्रह्मचारी ने पूछा।

'तब फिर इसके अपने ही ताप से इसी का शर या स्थूल भाग एकत्र हो गया। जम गया। जमने के बाद यह पृथ्वी के रूप मे परिवर्तित हो गया।

'चूॅकि यह पृथ्वी शर भाग से बनी थी, इसलिए यही प्रजापति बनी। प्रजापति का प्रथम शरीर। दिखाई देने वाला स्वरूप।'

'उसके बाद ?'

'बताता हूॅ।'

'स्थूल अश के अलग हो जाने पर, उससे अग्नि-रस निकला। द्रवित उष्मा थी यह। वही अग्नि बन गई। यही प्रजापति ही पहला शरीरी था। मगर इस

प्रक्रिया को काफी समय लग गया। धीरे-धीरे होती रही यह। फिर प्रजापति स्वत तीन भागो मे बदल गया।

'एक तिहाई वायु थी। दूसरी तिहाइ आदित्य।

'पूर्व दिशा को प्रजापति का सिर मानते है। ईशानी और आग्नेयी दिशाएँ उसकी भुजाएँ है।

'पश्चिम दिशा उसकी पूँछ है। वायव्य तथा नैऋत्य दिशाओ को जघाएँ मानो। दक्षिण तथा उत्तर दिशाएँ उसके आर्श्व हे। द्युलोक, पृष्ठभाग, अन्तरिक्ष उदर और पृथ्वी उसका हृदय है।

'यह अग्निरूप प्रजापति पहले द्रव रूप मे ही था। इसलिए जल मे ही उसका निवास है।'

'बस इतना ही न 'गुरु देव।' एक शिष्य ने पूछ लिया।

'नही। यह सृष्टि चक्र यहाँ समाप्त नही हुआ। आगे क्या हुआ। उसे भी सुनो।

प्रजापति ने एक ओर रूप पैदा करने की सोची। उसने वाणी को मिथुन रूप मे पाना चाहा। इससे सवत्सर की उत्पत्ति हो पाई। इससे पूर्व सवत्सर था ही नही। प्रजापति ने सवत्सर की अवधि तक इसे अपन आपमे, अपने गभ मे धारण किए रखा। तब यह बाहर आया। जैसे ही सवत्सर पैदा हुआ, प्रजापति ने इसका मुँह फाड दिया। जेसे ही जोर लगा, मुँह फटा उससे भाण् की ध्वनि निकली। वाक् भी इसी से पैदा हुआ।

'अब उसने वाणी और मन, दोनो के सयोग से ऋक् साम, यजुर्वेद को, छन्दा को और ये जो प्रजा और पशु हे, धीरे-धीरे इन सबकी रचना की।

'मगर प्रजापति स्वय ही मृत्युरूप है, अत उसने जिनको भी रचा उन सभी को खा जाने का विचार किया। तभी तो मृत्यु का नाम अदिति पड गया। अदिति कहलाया।'

'बडी आश्चयजनक कहानी है यह। आगे क्या हुआ ?'

'ब्रह्मचारियो । बता रहा हूँ। उस मृत्यु ने, सत और असत दोना की इस कमी ने, कुछ होने का मन बनाया।'

तभी मन मे प्रश्न उठा—'जो है ही नही, वह कैसे साचेगा ?'

उनका मन अब कह रहा था—'सृष्टि से पहले कुछ था ही नही। अस्तित्व से पहले अस्तित्व का अभाव था। अस्तित्व के अभाव को ही 'मृत्यु' नाम दिया गया है। मृत्यु तो उस समय भी थी, जब कुछ भी नही था। ' पता नही याज्ञवल्क्य क्या-क्या सोचते रहे, क्या-क्या समझाते रहे। बहुत रात हो गई, तब उन्होने अपने शिष्यो को उठ जाने का सकेत किया। और वे चल पडे, खोए-खोए, गुम-सुम से।

शिष्टमण्डल और पिप्पलाद ऋषि

उपनिषद् की गाथा पिप्पलाद ऋषि के चारो ओर घूमती है। वह पिप्पलवन मे रहते थे। उन्हे खाने-पीने से कोई लगाव न था। चिन्तन उन्हे प्रिय था। हर पल सोचते। साधना करते। सृष्टि और सृष्टिकर्ता पर विचार करते। अनेक दर्शन उनके मस्तिष्क मे घूमते रहते।

वह ब्रह्मवादी थे। ऋषि थे। कोई उन्हे मात्र मनुष्य मानता। कोई उन्हे मनुष्येतर प्राणी। वह क्या था इसे तो वह स्वय ही जानते थे। हॉ उनके उच्च ज्ञान के कारण उन्हे खूब ख्याति मिल चुकी थी। वह अनेक लोगो की जिज्ञासा शान्त कर चुके थे। उनके प्रश्नो के उत्तर दे चुके थे। पूछने वाले भी, ऋषिकुमार, साधु-सन्त ही हुआ करते।

एक बार फिर, देश भर के कुछ विद्वानो ने इकट्ठे होकर उनके पास जाने और अपने प्रश्नो के उत्तर पाने का विचार किया। इकट्ठे हुए। जा पहुॅचे पिप्पलाद ऋषि के पास। प्रणाम किया। ध्यान-मुद्रा मे बैठे पिप्पलाद मुनि की तन्द्रा भग हुई। उन्हे आशीर्वाद देकर उनका परिचय मॉगा।

'मै हूॅ सुकेश। भारद्वाज का वशज।'

'मै हूॅ ऋषिवर सत्यकाम मेरे पूर्वज शिवि थे।'

'और मेरा नाम आश्वलायन है। मै कोसल नगरी से आया हूॅ आपके आश्रम मे।

अब चौथे ऋषि की बारी थी। बोला—'महोदय ! मै कात्यायन हूॅ। कत का पोता। पूरा नाम कात्यायन कबधी।'

'और आप ?' ऋषि ने प्रश्न किया।

'जी ! मै भार्गव हूॅ। भार्गव विदर्भ का रहने वाला।'

इससे पहले कि पिप्पलाद ऋषि पूछते, छठे जिज्ञासु ने स्वय कह दिया—'मुनिवर ! मेरा नाम सौर्यायणी है। मै गर्ग वश से हूॅ। हमारे कुछ प्रश्न है। हम सब आए है, अपनी शकाओ का निवारण करने। हमने प्रयत्न किया। आपस मे भी सवाद हुआ। मगर इनके उत्तर नही पा सके। तभी आपके पास आए है।'

'अच्छा किया। आए हो, प्रसन्नता हुई है। आप सबका इस कुटिया मे स्वागत

हे।' कहत-कहते पिप्पलाद ऋषि रुके। आसपास एक नजर दोडाइ फिर बोल– मे आप सबकी सभी आशकाओ का अवश्य निवारण करूँगा। पहले आप लाग इस आश्रम मे एक वर्ष रहकर तपस्या करे। फिर ही मे आपको बिठाकर प्रश्न पूछूँगा।

'यदि आपके प्रश्नो का निवारण मे कर पाया तो ठीक, वरना कही आर जाएँगे। उनसे पूछेगे। मै भी आपके साथ चलूँगा। अब निश्चिन्त होकर नप करो। केवल एक वष साधना।'

जब ये छ जिज्ञासु पिप्पलाद ऋपि के पास आए थ तो समिधा लानी नही भूले थे। यही तो निशानी है, प्रतीक है जिज्ञासा का। इन्हे देखते ही ऋपि जान गए थे कि अब प्रश्नो की बोछार होगी।

ऋषि द्वारा दिया आदेश इन्हे अच्छा लगा। निणय कर लिया कि व उमी आश्रम मे रहेगे। उसी वन मे रहकर तपश्चया करेगे। मगर इस बात का भी ध्यान रखेगे कि यहॉ तप करते हुए वह अपने प्रश्न ही न भूल जाएँ।

एक-एक दिन करके पूरा वष बीत गया। वे आ पहुँचे ऋषि के पास– नी ! आप द्वारा बताई अवधि पूरी हो गई हे। अब आप हमारे प्रश्नो के उत्तर देकर हम कृतार्थ करे।'

'हॉ, हॉ। पूछो। एक-एक करके।'

सबसे पहले कत के पोते कात्यायन ने प्रश्न किया–'यह विशाल ससार हे। इसमे विविध प्रकार के जीवो की भरमार है। ये केसे पेदा हो जाते हे ? हमे आज की नही तब की बात जाननी हे, जब प्रत्येक जीव प्रथम बार पृथ्वी पर आया।'

'यह बात तो काफी स्पष्ट है। वह जो आदिकर्ता हे, उसमे ही उत्पत्ति की कामना उत्पन्न हुई। यदि वह ऐसा सकल्प न करते, तो कुछ भी न होता। इच्छा हुइ थी कि प्रजा हो तभी वह प्रजापति हो पाएगा। उसे भी अपनी सन्तानो की इच्छा हुई। अपना परिवार बनाने और बढाने का मन हुआ। इसीलिए यह सकल्प किया।

'कुछ भी पाने के लिए काम करना पडता है। परिश्रम जरूरी है। इसी का सहारा लिया तब ब्रह्म ने भी। इसके लिए घोर तप की आवश्कता थी। खूब किया तप ब्रह्म ने।

'परिणामस्वरूप वह भोग-पदार्थ ओर प्राण बना सके। जब खाने को था, खाने वाले भी थे, सृष्टि बनने लगी। पदार्थ और प्राण, दोनो की उत्पत्ति हो जाने से, इन दोनो के होने से, नाना जीव-जन्तुओ का विकास हुआ। एक के बाद एक जन्तु निर्मित होते गए।'

कबधी कात्यायन इस उत्तर से सन्तुष्ट नही हुआ। इस बात को ऋषि भी जान गए। इससे पहले कि कबधी अपनी शका आगे रखे, ऋषि ने उपदेश दिया–'जिज्ञासु ! यह मत समझ लेना कि मैने भोजन या पदार्थ का प्रयोग स्थूल

रूप मे किया है। बिलकुल भी नही। मेरा कहने का मतलब यह बिलकुल भी नही कि पहले जीवद्रव्य बना, फिर इसी से जीव या आदि जीव। जैसे आप लोगो मे भक्ष्य और भक्षक दोनो होते है। भक्ष्य है तो भक्षक होगा ही। या फिर भक्षक हे तो भक्ष्य भी जरूरी है। कहते है न ऐसा।

'चन्द्रमा है। इसे भक्ष्य की सज्ञा दी जाती है। जब चन्द्रमा है, भक्ष्य हे तो आदित्य है, यही इसका भक्षक। चन्द्रमा ही साम हे। आदित्य ही अग्नि है। सोम हे तो अग्नि भी हे। सोम भक्ष्य, अग्नि इसका भक्षक। हॉ-हॉ, यकीन करो, चन्द्रमा भी भोजन है।'

ये बाते सुनकर कबधी तो ऋषि का मुँह ही ताकता रह गया। कुछ पूछ ही न सका। कोई प्रश्न नही दागा उसने। स्वय ऋषि ने बात आगे बढाई—'देखते हो न ! चन्द्रमा सदा एक-सा नही होता। घटता और बढता रहता है। इसीलिए कि यह आदित्य का आहार हे। कभी पूरा खा लिया जाता है। निगल लिया जाता है। और फिर इसका दोबारा जन्म होता है।

'पहले कहा न चन्द्रमा को ही सोम कहते है। सोम अर्थात् अमृत। अमृत भरा है इसमे। इसी अमृत के कारण यह पूरा हो जाया करता है। जब पूरा होने पर यह छलकने लगता है तो आदित्य की नजर पडती है। वह रह नही पाता। इसे खा लेना चाहता हे। निगल जाना चाहता है। अपना कार्य शुरू कर देता है।

'पार्थिव सो है न ! इसे कटाह पर चढाया जाता है। तब क्या, रस जलने लगता है। अग्नि इस रस को पीती जाती है। जो कुछ बच जाता है वही अमृत है। यह अमृत खराब होने वाली चीज नही है। इसमे पानी डालकर फिर से सोम तैयार कर लिया जाता है।

'इस प्रकार जो सोम तैयार होता है, इसका नाम जल्गुल सोम रखा गया है।

जब कभी सोम न हो या इसका उत्पाद रुक जाए तो स्वय इन्द्र भी इसी जल्गुल सोम को पीकर अपना गुजारा करते हे।

कबध, जैसे पहले कहा, यदि चन्द्रमा भोजन है तो आदित्य प्राण है। सोम को भोजन मानेगे तो अग्नि प्राण होगा ही। जैसे भोजन (भक्ष्य) उपलब्ध हुआ, प्राण (भक्षक) ओर प्राणी उत्पन्न हो ही जाते है।

इसे जान लो कि यही प्रजा वृद्धि का मूल है। यह सब अपने आप तो नही हुआ। उसी की कामना के कारण सम्भव हो पाया। ओर स्पष्ट कर देता हूँ, इस दुनिया मे जो कुछ भी मूर्त है, वह भोग्य है, वह धन है, वह भोग्य वस्तु ही मानो। जो कुछ भी अमूर्त है, वह प्राण है। इसे ही ऊर्जा कहते है। क्यो, आई बात समझ मे या नही।'

'मै समझ रहा हूँ ऋषिवर ! क्या हम मूर्त नही है ? हम स्वय भी तो मूर्त

ह। हम भोजन करते हे। हमारे मे प्राण है। हम प्राणी है। क्या मेने ठीक कहा ?'

'हॉ, तुम ठीक तो कह रहे हो। हम मूर्त हे, इसीलिए किसी-न-किसी के लिए भक्ष्य हे। किसी-न-किसी का भोजन भी है।

'प्राणी हे ठीक कहा। हमारे लिए भी कुछ भक्ष्य हे। हम किसी का भोजन हे। यही एक चक्र हे। बहुत बडा चक्र। जो कभी थमता नही। इस दुनिया मे किसी को कोई खा रहा उसे कोई अन्य खा रहा है।'

'यह तो ठीक हुआ। विस्तार से समझ लिया मेने। प्राण ? यह कहॉ से आता हे। और फिर कहॉ चला जाता है। यह भी समझा दे हमे।'

'पहले बता चुका हूँ। फिर भूल गए। यह आदित्य क्या हे। प्राण ही तो हे। उसी से जो प्रकाश निकलता है, किरणे निकलती है, यही अन्य लोगो मे प्राण उत्पन्न करती हे। आदित्य उदित होकर पूर्व दिशा मे प्रवेश करता हे।

'तब यह पर्व दिशा के प्राणो को अपनी किरणो मे धार लेता है। ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार यह अन्य दिशाओ मे भी प्राणो को प्रकाशित करता हे। अपनी किरणो मे धारण करता है।

'सब शरीरो मे जठराग्नि जो पैदा होती है। वह ही वैश्वानर हे। यही ना विश्वरूप प्राण है। इतना जान लो कि यह भी सूर्य का ही रूप है। इसे ही मूय अपनी रश्मियो से हमारे अन्दर स्थापित करता हे।'

कबधी ही नही उसके पॉचो अन्य साथी भी कृतज्ञ हो उठे। उन्हे ऋषि स प्रवचन सुनकर बहुत ही प्रसन्नता हो रही थी।

ऋषि ने आगे कहा—'वर्ष मे पॉच ऋतुएॅ होती है। यही आदित्य की पॉच इन्द्रियॉ है। वर्ष मे बारह महीने है। इसी से आदित्य की आकृति का निर्माण माना जाता है। आकाश मे स्थित जल ही रेतस् है।

'वैसे हम छ ऋतुएॅ मानते है। मगर उपनिषद् की इस कथा मे पॉच का जिक्र है। कही अन्यत्र छ का वर्णन भी मिलता है।

'जब मास को प्रजापति माने तो इसमे कृष्णपक्ष रयि हे। आहार है। भोजन है। शुक्लपक्ष प्राण है।'

ऋषि पिप्पलाद ने अपना व्याख्यान जारी रखा। वह कहते है—'दिन ओर रात का जोडा भी प्रजापति है। इसका विभाजन यो होता है। दिन को प्राण मानते हे। रात को रयि। इसीलिए तो कहा है कि दिन मे पुरुष कभी स्त्री से सहशयन न करे। यदि वह करता है तो अपने प्राणो का ही ह्रास करता है। यदि स्त्री के साथ सहशयन रात के समय करे तो इसे भी ब्रह्मचर्य ही मानते है। मर्यादा के अनुसार अपनी पत्नी के साथ रात्रि के समय किया गया सम्भोग भी ब्रह्मचर्य ही कहा जाता हे।'

ऋषि के पास तो ज्ञान का भण्डार था। हर प्रश्न का उत्तर। हर समस्या का निवारण। वह अपने उपदेश मे आगे बोले– 'अन्न को भी प्रजापति मानना चाहिए। इसे खाने से ही तो वीर्य का निर्माण होता है। वीर्य के कारण ही तो सन्ताने पैदा होती है। सृष्टि बढती है।'

'ब्रह्मप्राप्ति का कोई सरल उपाय ?'

इसके उत्तर मे ऋषि पिप्पलाद ने कहा—'यदि कोई किसी सरल ढग से ब्रह्म की प्राप्ति करना चाहता है तो वह प्रजापति व्रत का पालन करे। इसके लिए निर्देश है कि केवल सन्तान प्राप्ति के लिए ही सम्भोग किया जाए। बारम्बार सहवास से अपने वीर्य को नष्ट नही करना चाहिए। जो इस निर्देश का कडाई से पालन करता हे, वह ब्रह्मलोक मे जाता है। वह ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर सकता है।

'जो इस व्रत का पालन करते है, वे ब्रह्मचर्य है। वे सत्य है। सत्य मे स्थिर हे। सत्य उनमे स्थिर है। उन्हे छलरहित, कपटरहित मायारहित झूठ रहित लोक की सुगमता से प्राप्ति हो जाती है। इस बात को पल्ले बॉधने मे ही कल्याण हे।

'याद रहे, प्रजनन का यह क्रम प्रजापति ब्रह्म से शुरू हुआ था आदिकाल मे। अब भी जारी है। जो प्रजावृद्धि मे लगे है उन्हे इस कार्य को यज्ञ के रूप मे अपनाकर, केवल आवश्यकता होने पर ही स्त्री से सहवास करना चाहिए।'

'मै पूरी तरह सन्तुष्ट हूँ। मेरी सारी शकाओ का ठीक पकार से निवारण हो गया है। आपका धन्यवाद।' कात्यायन कबधी ने कहा।

'कृपया मेरी शकाओ का भी निवारण करे। भागव ने कहा। ऋषि ने सहमति मे सिर हिला दिया। तब भार्गव ने प्रश्न किया—'जरा मुझे बताऍ कि कितने देव प्रजा को धारण करते है। कितने उसे प्रकाशित करते है और बताऍ कि धारण करने वाले श्रेष्ठ है या प्रकाशित करने वाले।'

'तो सुनो ! देवता है—आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, वाक्, मन, चक्षु, कान । ये इन्द्रियॉ भी है। इन इन्द्रियो के द्वारा ही भूत देव अपनी शक्ति को दिखाते है। श्रेष्ठ कौन है ? यह भी जानना सम्भव है।

इन इन्द्रियो मे एक इन्द्री, जो अपने आपको श्रेष्ठ मानती थी, ने इसी बात का दावा टिका दिया। कह दिया—'मै सबसे श्रेष्ठ हूँ। मुझे श्रेष्ठ मानो। कोई न माना। उसने अन्तत कह दिया—'ठीक है। नही मानती तो न मानो। मै जा रही हूँ। इस शरीर को त्याग रही हूँ। मगर अब अन्य इन्द्रियो को भी लगा कि वे भी उस शरीर मे नही ठहर सकती। अपने को श्रेष्ठ बताने वाले प्राण ही नही रहेगे तो हम भी जा रही हे। अब उन्हे लगा कि क्यो जाना। क्यो छोडना इस शरीर को। भलाइ इसी मे हे कि सब यही रहे। इसी शरीर मे। इस ज्ञान के आने के बाद उन

सबने उसकी, प्राण की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। शरीर बना रहा।'

'अब ऋषि पिप्पलाद ने अपना उपदेश दिया—'प्राण है तो सब ठीक है। जीवन है तो सब ठीक है। तभी शास्त्र है। धर्म है। धर्मग्रन्थ है। आयोजन है। अनुष्ठान है। प्राण नही है, जीवन नही है, तो कुछ भी नही।

'और भी जानो। प्रजापति कही बाहर नही है। वह तो तुम्हारे अन्दर है। तुम्हे आश्चर्य होगा, मगर यह सत्य है कि तुम ही उसके माता-पिता हो। तुम्हारे अन्दर से ही तो वह उत्पन्न होता है। प्राण है तो तुम हो। इसके साथ ही तुम्हारी प्रतिष्ठा भी है।'

उन्होने आनन्दित होकर आगे कहा—'प्राण ! तुम सबको प्रिय हो। देवताओ को भी। पितरो के लिए भी। पूर्वजो ने, तुमने जिस सत्य को माना हे, वह सत्य भी तुम ही हो।

'प्राण ही इन्द्र है। प्राण ही रुद्र है। वायु भी तुम्ही हो। श्रेष्ठ सूय भी तुम हो। प्राण की जितनी महत्ता बताई जाए कम है। प्राण को जितना महान् बताया जाए, कम है।

'प्राण ही सब कुछ है। वही ऊपर उठता है। वही बरसता है। इसी से अन्न पैदा होता हे। जीवन को धारण करता है। और प्राण तू किसी धर्म मे विश्वास नही रखता सभी प्रकार के सस्कारो से पूर्णत मुक्त तू किसी धामिक बन्धन को नही मानता। फिर भी तू ऋषि है। सबसे बडा ऋषि। तुझ विश्व का स्वामी माने तो भी कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

'हे प्राण ! हमारी रक्षा कर। सम्पूर्ण मानवता की रक्षा कर। मनुष्य की बुद्धि की रक्षा कर। शरीरो की रक्षा कर।'

इस प्रकार भावविभोर होते ऋषि ने भार्गव को भी पूर्णत सन्तुष्ट कर दिया। साथ बैठे अन्य विद्वान् भी ये विस्तृत उत्तर पाकर हर्षित हो उठे।

अब प्रश्न करने को आश्वलायन आगे आया। उसने एक बार ऋषि पिप्पलाद को प्रणाम किया तथा अपना प्रश्न सामने रखा—'आपने प्राण की बहुत महिमा बताई। धन्यवाद। भला बताएँ तो यह किससे उत्पन्न होता हे। इस शरीर मे किस प्रकार स्थापित होता है। अपने आपको केसे विभाजित करता है। शरीर मे किस प्रकार विद्यमान रहता हे। जब यह निकलता है तो किस द्वार से ? यह बाहर के रूप को किस प्रकार धारण करता है। कैसे अध्यात्म को ? कृपया बताएँ।'

'एक साथ इतने अधिक प्रश्न ? चलो, कोई बात नही। मै उत्तर देता हूँ। ध्यान से सुनो।

'प्राण आत्मा से पैदा होता है। जिस प्रकार शरीर की छाया होती है, उसी प्रकार यह शरीर के अन्दर फैला है।

'मनोवृत्तियो से शरीर के अन्दर प्राण प्रवेश करता है। उत्पन्न होता है। इनके साथ ही गमन करता है। जैसे कोई अधिकारी किसी कार्य को पूरा करने के लिए अपने अधीन कर्मचारियो मे काम बॉटकर सारी व्यवस्था सुचारु रखता है। उसी प्रकार प्राण भी भिन्न-भिन्न अगो को भिन्न-भिन्न कार्य सौपकर शरीर को सुचारु किए रखता है।

'यह स्वय अपना सचार मुख और नाक के द्वारा बनाए रखता है। ऑखो ओर कानो मे विचरता है। सुन रहे हो न !'

'जी ! खूब।'

'तो आगे सुनो। यह जीवात्मा हृदयदेश मे वास करता है। इसमे एक सौ एक नाडियॉ है। हर एक मे से एक सौ नाडियॉ निकली है। इतना ही नही, इन सूक्ष्म नाडियो मे, हर एक की बहत्तर हजार उपशाखाएँ है। इन अति सूक्ष्म शाखाओ मे व्यान वायु का सचार होता है। इनमे स्थित प्राण को ही व्यान नाम दिया गया है।

'और भी बताता हूँ। नाभि से मस्तक की ओर जाने वाली एक नाडी उदान वायु के सचार के लिए है। इससे आदमी अपनी भावना और सकल्प के अनुसार अच्छे तथा बुरे कार्य करता हे। तभी तो वह पुण्य तथा पाप लोको का अधिकारी हो जाता है।

'मनुष्य लोक तभी मिलता है, जब पुण्य तथा पाप लगभग समान हो। अन्यथा पाप और पुण्य की अधिकता, न्यूनता पर योनि प्राप्त होती है।

'सूर्य ही बाह्य प्राण होता है। यही ऑखो को ज्योति देता है।

'भूमि के अन्दर जो देवता शक्ति हे, वह अपान, धरती तथा आकाश के बीच की वायु के बराबर है। यही तो पूरे ब्रह्माण्ड का प्राण है।

'यदि तेज शान्त हो तो पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है क्योकि तेज उदान है। अब अन्तिम सॉस निकलती है, उस समय जो मन की तृष्णा या इच्छा होती है, चित्त की वृत्तियॉ उदान को प्राप्त होती है। प्राश उदान से मिलकर आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर को चेष्टा के अनुरूप लोक को ले जाता है। ध्यान रहे, मानस वासनाओ के अनुसार ही उसका पुनर्जन्म होता है।

'सूक्ष्म शरीर और कुछ नही, वासना और सकल्पयुक्त शरीर ही है। ऐसा ध्यान मे रखना।'

ऋषि पिप्पलाद ने पहले कुछ जिज्ञासुओ की जिज्ञासा को तो शान्त किया था। अब बैठे थे प्रतीक्षा मे कि अगला विद्वान् अपना प्रश्न करे।

सौर्यायणी ने आगे आकर अपना प्रश्न किया—'कृपया मुझे बताएँ इस पुरुष मे कौन है जो सो जाते है ? कोन हे जो जागते रहते है ? सोत समय स्वप्न देखने वाला देव कौन है ? जसे निद्रा का सुख मिलता हे वह कौन है ? किसम आश्रय लेकर सभी रहते है ?'

इसे सुनकर पिप्पलाद ने ही पूछ लिया—'तुमने डूबते हुए सूय को तो देखा होगा ?'

'जरूर।'

'फिर तो इतना भी देखा होगा कि वह किरणो को अपने आप मे समटता जाता है। प्रात वह अपने अन्दर समेटी किरणो को निकालता भी हे। आग कहा—'जब हम सोते है, नीद मे होते है तो सारी इन्द्रियॉ इस आत्मा मे ही सिमट आती है। उस समय ये इन्द्रियॉ शिथिल हो जाती है। अपना-अपना कार्य करना बन्द कर देती है।

'तब ऑख देखती नही। कान सुनता नही। त्वचा स्पर्श का अनुभव नही करती। नाक सूँघती नही। जब आदमी सोता है तो सारी इन्द्रियॉ भी सो जाती हे।

'मगर, ऐसे मे भी प्राणो की अग्नियॉ इस समय भी जागती हाती हे। ह न कमाल। सारी इन्द्रियॉ विश्राम मे होती है। मगर प्राण ज्यो-का-त्यो काय करना रहता है। सोता नही। यदि यह सो जाए तो आदमी मर जाएगा। प्राणो की अग्नियॉ अपना कार्य करती रहती है।

'कुछ अग्नियॉ ही तो प्राणो को सँभाले रहती है। अग्निहोत्र के लिए रखी गई आग को ही गार्हस्पत्य अग्नि कहते है। यही तो अपान वायु की गाहस्पन्य अग्नि है।

'यज्ञ मे जिस आग से चावल आदि पकाए जाते हे, उसे अन्वाहायपचन या दक्षिणाग्नि का नाम दिया जाता है। व्यान को भी दक्षिणाग्नि कहते हे।

'गार्हस्पत्य अग्नि से जो आग हवनकुण्ड मे लाते है, उसे आहवनीय कहा जाता है। यह प्राण ही आहवनीय है और इस तरह प्राणायाम से प्राणपचक की साधना ही पचाग्नि व्रत है। इसमे श्वास-प्रश्वास ही दो आहुतियॉ होती है। मन ही यज्ञ का आयोजन करता है। यही यजमान है। समाधि ही उदान हे। वह समाधि ही ब्राह्मी अवस्था की ओर जाती है। यही अध्यात्म यज्ञ है। जो इसके अनुसार चलता है, उसका कल्याण होता है।'

उन्होने आगे कहा—'हे जिज्ञासु ! शरीर मे रहकर स्वप्न देखने वाला पुरुष ओर कोई नही, आत्मा ही तो है। आत्मा अपने स्वप्न के समय बाहर का कुछ नहीं देखता। स्वय अपनी ही महिमा का विस्तार करके उसे ही देखता रहता हे।

'वह जो कुछ पहले देख चुका है, उसे ही इसमे देखता हे। जो कुछ सोच

'प्राण आत्मा से पैदा होता है। जिस प्रकार शरीर की छाया होती है, उसी प्रकार यह शरीर के अन्दर फैला है।

'मनोवृत्तियो से शरीर के अन्दर प्राण प्रवेश करता है। उत्पन्न होता है। इनके साथ ही गमन करता है। जेसे कोई अधिकारी किसी कार्य को पूरा करने के लिए अपने अधीन कर्मचारियो मे काम बॉटकर सारी व्यवस्था सुचारु रखता है। उसी प्रकार प्राण भी भिन्न-भिन्न अगो को भिन्न-भिन्न कार्य सौपकर शरीर को सुचारु किए रखता है।

'यह स्वय अपना सचार मुख और नाक के द्वारा बनाए रखता है। ऑखो ओर कानो मे विचरता है। सुन रहे हो न !'

'जी ! खूब।'

'तो आगे सुनो। यह जीवात्मा हृदयदेश मे वास करता हे। इसमे एक सौ एक नाडियॉ है। हर एक मे से एक सौ नाडियॉ निकली है। इतना ही नही इन सूक्ष्म नाडियो मे, हर एक की बहत्तर हजार उपशाखाएँ है। इन अति सूक्ष्म शाखाओ मे व्यान वायु का सचार होता है। इनमे स्थित प्राण को ही व्यान नाम दिया गया है।

'और भी बताता हूँ। नाभि से मस्तक की ओर जाने वाली एक नाडी उदान वायु के सचार के लिए है। इससे आदमी अपनी भावना और सकल्प के अनुसार अच्छे तथा बुरे कार्य करता है। तभी तो वह पुण्य तथा पाप लोको का अधिकारी हो जाता है।

'मनुष्य लोक तभी मिलता हे, जब पुण्य तथा पाप लगभग समान हा। अन्यथा पाप और पुण्य की अधिकता, न्यूनता पर योनि प्राप्त होती है।

'सूर्य ही बाह्य प्राण होता है। यही ऑखो को ज्योति देता है।

'भूमि के अन्दर जो देवता शक्ति है वह अपान, धरती तथा आकाश के बीच की वायु के बराबर है। यही तो पूरे ब्रह्माण्ड का प्राण है।

'यदि तेज शान्त हो तो पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है क्योकि तेज उदान है। अब अन्तिम सॉस निकलती हे, उस समय जो मन की तृष्णा या इच्छा होती है, चित्त की वृत्तियॉ उदान को प्राप्त होती है। प्राश उदान से मिलकर आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर को चेष्टा के अनुरूप लोक को ले जाता है। ध्यान रहे, मानस वासनाओ के अनुसार ही उसका पुनर्जन्म होता है।

'सूक्ष्म शरीर और कुछ नही, वासना और सकल्पयुक्त शरीर ही है। ऐसा ध्यान मे रखना।'

ऋषि पिप्पलाद ने पहले कुछ जिज्ञासुओ की जिज्ञासा को तो शान्त किया था। अब बैठे थे प्रतीक्षा मे कि अगला विद्वान् अपना प्रश्न करे।

सौर्यायणी ने आगे आकर अपना प्रश्न किया—'कृपया मुझे बताएँ, इस पुरुष मे कौन है जो सो जाते है ? कौन है जो जागते रहते है ? सोते समय स्वप्न देखने वाला देव कौन है ? जसे निद्रा का सुख मिलता है वह कौन हे ? किसमे आश्रय लेकर सभी रहते है ?'

इसे सुनकर पिप्पलाद ने ही पूछ लिया—'तुमने डूबते हुए सूर्य को तो देखा होगा ?'

'जरूर।'

'फिर तो इतना भी देखा होगा कि वह किरणो को अपने आप मे समेटता जाता है। प्रात वह अपने अन्दर समेटी किरणो को निकालता भी है।' आगे कहा—'जब हम सोते है, नीद मे होते है तो सारी इन्द्रियाँ इस आत्मा मे ही सिमट आती है। उस समय ये इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है। अपना-अपना काय करना बन्द कर देती है।

'तब ऑख देखती नही। कान सुनता नही। त्वचा स्पर्श का अनुभव नही करती। नाक सूँघती नही। जब आदमी सोता हे तो सारी इन्द्रियाँ भी सो जाती हे।

'मगर, ऐसे मे भी प्राणो की अग्नियाँ इस समय भी जागती होती हे। हे न कमाल। सारी इन्द्रियाँ विश्राम मे होती है। मगर प्राण ज्यो-का-त्यो कार्य करना रहता है। सोता नही। यदि यह सो जाए तो आदमी मर जाएगा। प्राणो की अग्नियाँ अपना कार्य करनी रहती है।

'कुछ अग्नियाँ ही तो प्राणो को सँभाले रहती है। अग्निहोत्र के लिए रखी गई आग को ही गार्हस्पत्य अग्नि कहते है। यही तो अपान वायु की गार्हस्पत्य अग्नि है।

'यज्ञ मे जिस आग से चावल आदि पकाए जाते है, उसे अन्वाहायपचन या दक्षिणाग्नि का नाम दिया जाता है। व्यान को भी दक्षिणाग्नि कहते हे।

'गार्हस्पत्य अग्नि से जो आग हवनकुण्ड मे लाते है, उसे आहवनीय कहा जाता है। यह प्राण ही आहवनीय है ओर इस तरह प्राणायाम से प्राणपचक की साधना ही पचाग्नि व्रत है। इसमे श्वास-प्रश्वास ही दो आहुतियाँ होती है। मन ही यज्ञ का आयोजन करता है। यही यजमान है। समाधि ही उदान है। वह समाधि ही ब्राह्मी अवस्था की ओर जाती है। यही अध्यात्म यज्ञ है। जो इसके अनुसार चलता है, उसका कल्याण होता है।'

उन्होने आगे कहा—'हे जिज्ञासु ! शरीर मे रहकर स्वप्न देखने वाला पुरुष और कोई नही, आत्मा ही तो है। आत्मा अपने स्वप्न के समय बाहर का कुछ नहीं देखता। स्वय अपनी ही महिमा का विस्तार करके उसे ही देखता रहता है।

'वह जो कुछ पहले देख चुका है, उसे ही इसमे देखता है। जो कुछ सोच

चुका हे, उसे ही नए रूप मे देखता है, फिर सोचता है। जो दिन भर मे सोने से पहले अनुभव कर चुका है, उसे ही नए रूप मे अनुभव करता है। यही तो स्वप्न हे। यही स्वप्नो का रहस्य है। यह आत्मा है जो स्वप्न देखती है।

'निद्रा के बारे मे भी यही कहा जा सकता है। आदमी आत्म-सत्ता के भार से मुक्त होकर, गहरी नीद मे होता हे, तब तो वह शुद्ध सत्ता मे पहुँच जाता हे। झझटो से ऊपर। वह है या नही है इसका ध्यान भी उसे नही रहता। कितनी सुखद स्थिति होती है यह।

'जेसे पक्षी दिन भर उडते है, यहॉ से वहॉ साय के समय अपने घोसले मे आकर आराम से बैठ जाते है। निश्चिन्त हो जाते हे। सो जाते है। अपने आप मे शान्त पडे रहते है। आदमी जब सो जाता है तो वह भी अपने आप मे लीन होकर, शान्त पडा रहता है। चिन्ता-मुक्त-सा।'

इतना कहने के बाद ऋषि पिप्पलाद गहन दर्शन की बात पर उतर आए। नपे-तुले-मजबूत से शब्द कहे। उन्ही का हिन्दी रूपान्तर है यह—

'यह आत्मा ही द्रष्टा है। यही स्पश करने वाला हे। यही स्पृष्टा है। यही घ्राता हे। यही रसयिता हे। यही मनन करने वाला हे। यही मता हे। यही बोद्धा है। यही कर्ता है। यही विज्ञाता है।

'आत्मा ही सुषुप्ति ओर समाधि की स्थिति मे अपनी शुद्ध सत्ता मे स्थिर हो जाता है। इस छायारहित कायारहित रगहीन या निरजन अक्षर, ज्योतिर्मय आत्मा को जो जान लेता हे, वह स्वय शुद्ध आत्मा हो जाता हे। सर्वज्ञ हो जाता है।

इस प्रकार ऋषि पिप्पलाद ने सोयायणी गार्ग्य की शकाओ का पूरी तरह निवारण कर उसे सन्तुष्ट किया। इसके पश्चात् वह कुछ देर मौन होकर, अपनी कही बातो पर विचार करने लगे। मनन करने लगे।

उपनिषद् की इस गाथा मे ऋषि पिप्पलाद उत्तर दे रह थे। उनके पास आए छ जिज्ञासु प्रश्न पूछ रहे थे। अब तक वह चार के प्रश्नो का उत्तर विस्तार के साथ दे चुके थे। इस समय पॉचवे की बारी थी।

प्रश्न किया था शैव्य सत्यकाम ने। उत्तर देना था विद्वान् ऋषि को। प्रश्न था—'यदि मनुष्य ओकार का ध्यान करे, उसके नाम का स्मरण करता रह, उसे हर पल याद करता रहे, तो ऐसा उपासक किस लोक को प्राप्त होता है ? मुझे बताऍ।'

'लो, सुनो। प्रश्न सरल है। उत्तर भी सरलता मे दूँगा। मगर तुम ध्यानपूर्वक इसका मनन करना।

'पर और अपर ब्रह्म और कोई नही, ओकार ही तो है। जिन्हे तत्त्वज्ञान पाने की बडी इच्छा रहती है और वे श्रद्धा के साथ इसकी उपासना करते है वे अवश्य

हा ब्रह्म का प्राप्त कर लेते है। इसी से ही।'

इसके पश्चात् ऋषि ने एकमात्रिक जप द्विमात्रिक जप तथा त्रिमात्रिक जप की विधियॉ तथा लाभ गिना दिए। अन्तिम त्रिमात्रिक जप से साधना करन वाला इश्वरमय हो जाता हे।'

पिप्पलाद ऋषि ने आगे कहा—'नाम जप तो इतना ऊँचा ह, सम्पूण ह लाभप्रद हे कि इस एक के जान लेने मे, उपासना से मनुष्य वेद, पुराण सबक ज्ञान से भी ऊपर पहुँच जाता है। जो इसमे निष्ठा कर इस मानता हे वह अमर हो जाता है। अमर होकर जीवन-मरण से छूट जाता हे। जब तक हे शान्त बना रहता हे। उसको किसी का डर नही होता। वह सबसे ऊपर हाता हे। श्रेष्ठतम बनकर जीवन बिताता हे।'

अन्तिम था सुकेश भारद्वाज।

वह उठा। ऋषि के करीब आया। नमस्कार कर, प्रश्न पूछने की अनुमति मॉगी। फिर प्रश्न पूछा—'सोलह कलाओ वाला पुरुष कोन हे ?' मै जानने क लिए बेचेन हूँ।'

'अर बहुत साधारण। जिस पुरुष म सोलह कलाओ की उपलब्धि रहे, शरीर म सोलह कलाएँ बनी रहे वही होता हे सोलह कलाओ वाला पुरुष। वह रुक गए बात कहकर।

'मे फिर वही लोट चलता हूँ। आरम्भ की बात पर। उस ब्रह्म ने विचार किया कि वह किससे बाहर निकलकर अपने को व्यक्त करने की स्थिति म आ पाएगा। किस रूप मे प्रतिष्ठित हो सकेगा।

'सबसे पहले प्राण का सृजन किया। प्राण के बाद श्रद्धा की रचना की। बाद मे आकाश, वायु अग्नि जल, पृथ्वी ओर इन्द्रियो की रचना की ब्रह्म ने। तब बारी थी मन की। मन के साथ अन्न भी। अन्न से शक्ति की रचना हुइ। तत्पश्चात् तप, मन्त्र श्रुतियॉ बननी गई। फिर बारी आइ कम, लोक और लोका मे नाम की उत्पत्ति की। इसे ही हम उसकी अभिव्यक्ति कह सकते हे। नाम की महिमा भी यही हे।

'ब्रह्म ने आगे जो किया, वह यो था। जिस प्रकार नाला नदी मे नदी दरिया मे विलीन होकर अपना नाम खो देती है उसी तरह सोलह कलाएँ उस ब्रह्म मे निकलकर, उसी की ओर चल पडती है। उसी मे लीन। पहले नाम था। व्यक्त अवस्था थी। ब्रह्म मे लीन होकर सब समाप्त।

'सुनो। जिस पुरुष मे ये सारी कलाएँ विद्यमान हे, उसे ही जानना चाहिए। जब उस ब्रह्म को जान जाएँगे तो मृत्यु सहित सभी भय समाप्त हो जाएँगे।' इस प्रकार ऋषि पिप्पलाद ने अपने प्रवचनो शिक्षा, उपदेशो को विराम दिया।

हुआ 'बक' चकित

उपनिषदो की इस गाथा का हीरो कुत्ता मानने मे कोई हर्ज नही। कोई एतरग्ज नही। कोइ हीनता नही।

मित्रा ने अपने बच्चे को अपने मायके मे जन्म दिया। इस नवजात शिशु का नाम नाना ने ग्राव रखा। धीरे-धीरे, ननिहाल मे ही यह ग्लाव कहलाने लगा।

जब बच्चा अपने पिता के घर पहुँचा तो दादा ने बडे चाव के साथ उसे 'बक' कहना शुरू कर दिया। उसके पिता भी अब उसे 'बक' कहकर पुकारते। हॉ, मॉ मित्रा कभी ग्लाव पुकार देती तो कभी बक ही।

कही यह भी पढने को मिलता है कि यह दल्भ का पुत्र बक था, तो कही मित्रा का पुत्र ग्लाव। विद्वान् इस नतीज पर पहुँचे कि दल्भ पिता हुए थे तथा मित्रा मॉ। जैसा नाम दादा ने रखा वैसा ही पिता की सन्तान होने से जुड गया बक। और जैसा नाम ननिहाल से मिला था, मित्रा के साथ भी वही चलता रहा ग्लाव।

कुछ भी हो बक और ग्लाव एक ही ऋषि-पुत्र के दो नाम थे। अत कहानी किसी एक नाम से भी आगे चल सकती है। 'बक' से चलाते है उपनिषद् की इस गाथा को।

एक विद्वान् का यह कहना है कि उपनिषद् की यह गाथा उस काल की है जब कुत्ते तो मनुष्य की भाषा समझ सकते थे, और मनुष्य कुत्ते की। या हो सकता है दोनो की भाषा एक रही होगी। पर हॉ, कुछ योग्य और चतुर कुत्ते अपने आपको मनुष्य से बेहतर मानते थे। अत कई बार दूरी रखना भी पसन्द किया करते थे।

यह ऋषिकुमार बक, गॉव से बहार एकान्त की ओर गया। वहॉ एक बडा जलाशय भी था। स्वाध्याय की इच्छा थी इस कुमार बक की। जलाशय का मनोरम दृश्य भी इस बालक को पसन्द आ गया। किनारो पर चलते हुए 'बक' अपना पाठ याद कर रहा था। पूरे ध्यान और मनोयोग के साथ।

तभी एक श्वेत रग का कुत्ता सामने से आ पहुँचा। इस कुत्ते को सामगान का बहुत अभ्यास था। बहुत सुरीली, सधी-सधी आवाज थी सफेद कुत्ते की। हो सकता है वह कुछ ऋषियो को भी पछाड दे। इतना सुरीला सामगायक हो चुका था वह।

उस कुत्ते के क्या कहने। उसका ज्ञान भी अब विस्तृत था। अनेक कुत्ता का ज्ञान की बाते समझा सिखा चुका था वह। वह बहुत दूर-दूर तक अपना प्रभाव जमा चुका था।

उस सफेद कुत्ते को वहॉ पहुँचा देख, बहुत-से कुत्ते वहॉ आ गए। कोइ इधर से तो कोई उधर से। उन सबने आकर इस शास्त्राथ तक जानन वाले कुत्त का अभिवादन किया। फिर कहा–‘हम सब भूखे हे। पेट मे चूह कूद रहे हे। कृपा कर कुछ भोजन का प्रबन्ध तो करो। हो सकता है ये नार कुत्त उस सफेद कुत्त क अनुयायी ही रहे हो। इस बडे सफेद कुत्ते के इशारो पर काम भी किया करत हा।

इन कुत्तो को खूब भूख लगी थी। उनकी बात यह सफेद कुत्ता तब भी मान सकता था। मगर नही, उसने अपनी पोजीशन को पुख्ता करन के लिए अपनी अहमियत को जतलाने के लिए अन्नवर्षी सामगान नही गाया। बल्कि थोडा नखरा करते हुए इधर-उधर देखने लगा।

एक बार फिर सबने अपनी भूख को मिटाने के लिए कुछ भाजन का प्रबन्ध करने को कहा। श्वत कुत्ता उनकी मजबूरी और हालत का खूब जानता था। इस बार उसने उन सबकी ओर बडे प्यार से देखा ओर कहा–‘क्या सच ! बहुत भूखे हो तुम ?’

वहॉ खडा स्वाध्याय के लिए आया ऋषिकुमार ‘बक भी उनक वार्तालाप को सुनने लगा। वह खूब समझ रहा था कुत्तो की भाषा ओर उनकी गुफ्तगू का भी।

सब कुत्तो ने सिर झुकाकर श्वेत कुत्ते से अनुनय-विनय किया। उसने कहा– ठीक है। कल इसी समय, इसी स्थान पर हम इकट्ठे होगे। तुम जरूर आना। तुम्हारी आवश्यकता पूरी की जाएगी।’

‘केसे करेगे प्रबन्ध ?’ एक नन्हे कुत्ते ने, पिल्ले ने सफेद कुत्ते को पूछ लिया। शायद वह नही जानता था कि यह सफेद कुत्ता केवल सामगान के आसरे अन्न/खाद्य की उपलब्धि करा सकता है।

श्वेत कुत्ते ने तो कोई उत्तर न दिया। शायद इसमे उसके सम्मान को ठेस पहुँचती। एक अन्य कुत्ते ने उसे समझाया–‘बिटुआ ! तू नही जानता। कल चले आना। स्वय देख लेना।’

यह वार्तालाप ऋषिकुमार ‘बक’ के लिए बडा महत्त्वपूण था। वह जानना चाहता था कि किस सामगान से, किस मन्त्र से यह सफेद कुत्ता अन्न की वृष्टि कर सकता है। यदि यही ठीक है तो अन्न पेदा करने का झझट त्यागकर, मन्त्र ही सीख लेना बेहतर है। वह भी कल आएगा ओर इन कुत्तो के करतब दखेगा।

‘बक’ को कुछ पुरानी पढी पुस्तको का भी ध्यान हो आया। उसमे उसने

पढा था कि भयकर दुर्भिक्ष के समय पेट भरने के लिए वामदेव तथा विश्वामित्र को कुत्तो की अँतडियॉ तक खानी पडी थी। पेट बहुत बुरी चीज है। इसका भरना बहुत जरूरी ह। यज्ञ विद्या मे पारगत रहते हुए, भूख की आग मिटाने के लिए एक बार चक्रायण को महावत से मॉगकर जूठे, घुने हुए उडद खाने पडे। तभी पेट की क्षुधा मिटी। अत वह भी देखेगा कि यह श्वेत कुत्ता किस प्रकार भोजन का प्रबन्ध करता है।

उपनिषद् की इम गाथा मे आगे कहा गया है कि सब कुत्ते ठीक समय पर वहॉ आ गए। श्वेत कुत्ता भी आ पहुँचा। तभी दूर से बक भी तेज कदमो से आया। वह इन कुत्तो के आगामी कार्यक्रम को देखकर चकित रह गया। ऐसा तो कभी उसने सोचा ही न था।

कुत्ते ठीक ढग से बैठे। वेदपाठियो की-सी मुद्रा थी उनकी। बहिष्पवान स्तोत्र का पाठ होने लगा। कुत्ते परिक्रमा' भी करने लगे। पिछले कुत्ते ने अगले कुत्ते की पूँछ को अपने दॉतो मे दबाया हुआ था, ओर चला जा रहा था। एक के साथ एक। सभी कुत्ते परिक्रमा मे लग गए। सामगान भी चलता रहा। तब सारे कुत्ते पक्तिबद्ध बेठ गए। हिकार करने लगे। गाने लगे। उनके शब्द कुछ इस प्रकार थे–

'ओ हम खाते है। ओ हम पीते हे। ओ देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहॉ अन्न पहुँचाए। हे अन्नपते, यहॉ अन्न लाओ। अन्न पहुँचाओ, ओ।'

बक ने यह सब सुना। देखा भी। अन्न भी जरूर पहुँचा होगा ओर कुत्तो ने पेट भरकर खाया होगा। कुत्तो की भाषा शायद आदमियो जैसी रही होगी, तभी बक भी सब कुछ पूरी तरह समझ पाया।

दुर्भिक्ष के वे दिन

यज्ञ-विज्ञान महान् है। इसे ठीक प्रकार से आयोजित करने से मन की इच्छा पूण होती है। सही यज्ञ के प्रताप से धन, सन्तान, सम्पत्ति सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद् की यह कथा भी यज्ञ-विद्या जानने वाले एक विद्वान् के इर्द-गिर्द घूमती है।

कुरु देश का रहने वाला था एक यज्ञ-विद्वान्। उसने कभी किसी भी यज्ञ मे भूल होने ही नही दी। इस विद्वान् का नाम उषस्ति था तथा यह अपन याग्यपिन श्री चक्र से बहुत कुछ ग्रहण कर चुका था। दूसरो के सभी काय सिद्ध करने वाला यह उषस्ति निर्धनता के दौर से गुजर रहा था। बहुत ही तगहाली थी उसके घर मे। प्रात काल बीता तो साय की समस्या।

वह दूसरो के लिए सदा सुयोग ढूँढता रहा। मगर स्वय कुयोग का शिकार हो गया। यही उसकी बदकिस्मती का कारण भी था।

इस उषस्ति ने एक आठ वर्षीय लडकी से विवाह रचा लिया। इस नासमझ लडकी को इस आयु के कारण ही आटिकी नाम दिया गया। यज्ञ-विद्या मे छिपे अनेक रहस्यो का जानकार, स्वय अपने भाग्य मे छिपे रहस्य को न ममझ सका। बडी आयु के इस पति की आठ वर्षीय पत्नी, बच्चो की तरह ही इधर-उधर भागती, जो मिल गया उसी के साथ बतियाती, खेलती। जो प्राप्त हो गया उसे खा लेती। इच्छा होती तो किसी चीज को नि सकोच मॉग भी लेती।

बच्ची बच्चियो की भॉति ही रह रही थी। उसमे बडो वाली या विवाहित स्त्रियो वाली कोई बात न थी। सकोच तो उसे किसी से भी न था। बाल-बुद्धि जो थी।

प्रकृति की अपनी योजनाऍ है, अपनी सीमाऍ। कृपा करती हे तो असीमित। जब विनाश पर उतर आती हे तो कुछ शेष नही बचता। पृथ्वी हजारो थपेडे सहकर भी, कष्ट झेलकर भी जीवन-दान देने मे पीछे नही रहती। पालन करने मे जितना पृथ्वी का योगदान है, उतना किसी का भी नही।

मौसम भी मेहरबान होता है। जरूरत के अनुसार रग बदलता हे, मगर जब वह बिगड जाता है तो सब कुछ बिगाडकर रख देता हे। तस्त नस्त कर देता है।

कभी भीषण गर्मी, कभी भीषण सर्दी, कभी बाढ है तो कभी सूखा।

इस बार भी मौसम ने सूखे का रूप धारण कर अकाल बनकर कहर ढा दिया था। लोग दाने-दाने को तरसने लगे। सारी दुनिया को सुख के साधन प्राप्त करवाने वाला, यज्ञ के माध्यम से लाखो बिगडे काम सँवारने वाला यह बडी उम्र का उषस्ति भूखो मरने लगा। गरीबी की हद हो चुकी थी। न तो कुछ था ही घर मे, न ही कही से कुछ प्राप्त हो रहा था।

दुनिया भर के कष्टो से, दुनिया भर को छुटकारा दिलाने वाला उनका निवारण करने वाला पूरी तरह कष्टो मे घिरा हुआ था। यह यज्ञ विज्ञानी अपनी जीवन रक्षा मे भी समर्थ होता जा रहा था। उसका हर पल कठिन सघर्ष से गुजर रहा था। अब तो मनोबल भी जवाब दे रहा था। सँभलना भी कठिन लग रहा था। दूसरो को धैर्य का पाठ पढाने वाला उषस्ति अधीर होता जा रहा था।

इम्यग्राम था यह। हाथी नशीनो का गॉव भी कहते थे इसे। बडे ही सम्पन्न लोग बसते थे यहॉ। उषस्ति चाक्रायण भी तो इसी गॉव का निवासी था। धनी लोगो के इस गॉव मे यह निर्धन भी वास करता था। लोग सम्पन्न। पूरा अमीरो का गॉव। योग्यता मे कोई कमी न होते हुए अयोग्य सा दिख रहा था आज उषस्ति इस गॉव मे। जिस खाने को गॉव के नोकर-चार खाते थे, उमको भी तरस रहा था यह ब्राह्मण। अर्थात् यह यज्ञविज्ञानी उस गॉव का सबसे अदना, निर्धन, भाग्यहीन था इस अकाल के समय।

भूखा, बस भूखा होता है। यही उसकी जाति भी होती है। वह दिल से नही सोच पाता। वह दिमाग से नही सोच सकता। जब भी सोचेगा तो केवल पट से ही सोचेगा किसी ने किसी भूखे को पूछ लिया—'अरे दो और दो कितने होते है।' उस भूख से बिलखते आदमी ने नजरे उठाई और कहा—'चार रोटियॉ।' जबकि प्रश्न मे रोटियॉ तो थी ही नही।

उषस्ति एक गली से गुजर रहा था। मरियल-सा शरीर। कदम उठाने ही कठिन। दीवारो का सहारा लेकर वह एक-एक घर को पीछे छोडता जा रहा था। अचानक उसकी नजर एक महावत पर पडी। वह कुछ खा रहा था। जरा गहरी नजर से उषस्ति ने देखा—उसके पास घुने हुए उडद थे। इसे ही महावत चबा रहा था।

खाने के लिए घुने हुए उडद एक तुच्छ-सी चीज थी। फिर भी उषस्ति इन्हे तरसनी नजरो से देख रहा था। वह भूल गया कि किसी को यो खाता देखकर उस पर नजरे नही गडानी चाहिए। वह अपना जातीय सयम भी खो बैठा। गरिमा कैसी ? भूखा था वह। इस भूखे के सामने अब न तो जाति थी, न ही वर्ण। बस वह भूखा था—यही सत्य था।

मरता क्या न करता। रुक गया। दीवार का सहारा लिया। हाथ स्वत जुड गए। महावत की ओर बडी उम्मीद के साथ देखते हुए कहा– बडी ही भूख लगी हे। थोडे उडद दे देते तो आपका मुझ पर बडा उपकार होता।

उसकी इस याचना को सुनकर महावत ने कहा–'नही। यह ठीक न होगा। यह अनर्थ होगा। ये केवल उडद है दबाने वाला मै महावत हूॅ। कैसे दूॅ तुम्हे। तुम उन्च कोटि के ब्राह्म हो।'

'आप यह क्यो भूल रहे हो कि मै भूख से मर रहा हूॅ। यह साधारण स्थिति तो है नही। आपात स्थिति हे। इसमे कुछ भी मिल जाए, खाया जा सकता हे। देने वाला भले ही कोई हो, इस बात पर विचार नही किया जाता। मुझे भूख लगी है। मे भूख को मिटाने के अतिरिक्त कुछ जानता भी नही। इसी म आपकी सहायता मॉग रहा हूॅ।'

महावत ने बात मान ली। उचित-अनुचित पर अधिक विचार नही किया। थोडे-से उडद उस भूखे ब्राह्मण को थमा दिए। यह देने वाले की बडी ही मेहरबानी थी। उदारता थी। जीवनदान दिया था उसने।

योग्य उषास्ति ने कुछ उडद खा लिए। इसका एक भाग अपनी पत्नी के लिए रख दिया, जो मात्र आठ वर्षीय बच्ची थी तथा अपन घर पर भूखी-प्यासी पडी थी।

महावत कुछ अधिक ही दयावान हो उठा था। उसी ने अपनी ओर से कह दिया–'उडद बहुत खुश्क होते है। चाहे इन्हे उबाल ले, या इनमे थाडा घी भी उॅडेल द, इनकी खुश्की जाती नही। मेरे लाटे मे थोडा पानी हे। पीना चाहो तो पी सकते हो। सूखा गला जरा तर हो जाएगा।'

पेट मे कुछ उडद जा चुके थे। ब्राह्मण की जान मे जान आ चुकी थी। अब उसने पेट से नही, दिमाग से, मन से सोचना शुरू किया। महावत की पानी पी लेन वाली बात पर उसने गौर किया। फिर बोला–'नही। मै पानी नही पीऊॅगा।'

'क्यो ? गला सूखा नही क्या ?'

'सूखा तो है।'

'फिर पी लो न !' महावत ने विनयपूर्वक कहा।

उषास्ति का दिमाग अब काम कर रहा था। उसने अपन दिमाग मे काम लिया। बोला–'गला जरूर सूख रहा है। मगर चलेगा। बिना पानी भी चलेगा। वैस, देखो न ! तुम तो शूद्र हो मे उच्चकोटि का ब्राह्मण। एक ऋषि। इस पानी को तुमने छू दिया है। मै तुम्हारे हाथो का पानी नही पी सकता। मे अपना धर्म भ्रष्ट नही करना चाहता।'

अब महावत का अहम् भी जागा। उसके शूद्रपन ने करवट ली। कुछ पल

पूर्व की याद हो आई, जब वह तरसती ऑखो से उससे उसके जूठे उडद मॉग रहा था। याचना कर रहा था। तब उसने कहा भी था कि यह धर्मनिष्ठ न होगा। यह अधर्म होगा। उसके दिए उडद मत ले। तब तो यह उच्चकोटि का ब्राह्मण माना ही नही। अब शूद्र बताने और पानी न पीने की अक्ल कहॉ से आ गइ ? ओर यह सब महावत ने उसे कह दिया। बल्कि कुछ और कडवी भी सुना दी।

साथ ही महावत ने कहा—'ये उडद पवित्र तो थे ही नही। इनको तो बुरी तरह घुन लगा हुआ था। घुन के कीडो ने इसे अन्दर से खाकर, खोखला कर, अपवित्र कर रखा था। घुन-घुन के जूठे उडद मे खा रहा था। फिर मैने भी इन्ह जूठा कर दिया था। तुम्हे तब धर्म की याद नही आई। अब मेरे लोटे का सुच्चा पानी भी तुझे अपवित्र लग रहा है। कमाल है।'

शान्त खडे उषस्ति ने कहा—'पानी अन्यत्र भी मिल सकता है। लेकर पी सकता हूँ। उडद और कही नही मिल सकते। अत जैसे भी थे, इन्हे प्राप्त कर खा भी लिए। अब तुम्हारे हाथ का पानी पीकर, मै अपने धर्म पर ऑच नही आने दूँगा। दुर्लभ उडद खाने से मेरा कुछ नही गया। अत मै तो अब भी ठीक हूँ।'

उपनिषद् की यह कथा बडी विचित्र है। हैरान करने वाली। जब अनाज को पैदा करने वाला, खेत म हल चलाने वाला, अनाज काटने और बोरियो मे भरने वाला, इसे उठाकर पहुँचाने वाला शूद्र हे, तब भी यह अनाज क्षत्रिय, ब्राह्मण के खाने योग्य बना रहता है। अपवित्र नही होता। इस अनाज को पैदा करने मे शूद्र खून-पसीना एक कर देता है तभी यह रसोई तक पहुँचाया जाता है। तब भी यह अपवित्र नही होता।

उपनिषद् की इसी कथा के अनुसार यदि शूद्र पानी को हाथ लगा दे तो यह अपवित्र है। कुएँ से पानी निकाल ले तो पूरा कुऑ अपवित्र। पानी छूने से तो अशुद्ध हो सकता है, अनाज को पैदा करने, उठाने, साफ करने, पीसने से यह अशुद्ध नही हो सकता।

जब ऋषि पति उषस्ति उडद प्राप्त कर रहा था। इसका कुछ भाग खाकर शेष बालिका-पत्नी के लिए सँभाल रहा था, तभी कुछ ऐसा सयोग हुआ कि उस बच्ची को भी कुछ खाने को कही से मिल गया। भूख बहुत लगी थी। उसने भी खा लिया। उसका गुजारा हो गया।

जब पतिदेव थोडे-से उडद लेकर घर पहुँचे तो उसने इन्हे सँभालकर रख दिया। सोचने लगी—'कल का क्या पता। यही काम आएँगे।'

रात बीती। उन्हे नीद इसलिए आ गई थी क्योकि पेट खाली न थे। प्रात ही दैनिक कार्यो से निवृत्त होकर ऋषि उषस्ति ने कहा—'सुना तुमने ?'

'क्या ?'

'इस देश के राजा ने एक यज्ञ का अनुष्ठान कर रखा हे। हो सकता ह गजा इस कार्य मे मेरी मदद स्वीकार कर ले। मै चक्र का पुत्र हूँ। ऐसा जानत ही वह मुझे अनुष्ठान का कुछ कार्य सौप देगा। इससे कुछ धन की, अनाज की प्राप्ति हो जाएगी।'

'अच्छी बात है। आप जाइए न।' पत्नी ने कहा।

'फिर भूख लगने लगी है। पेदल भी चलना होगा। कुछ खाने के लिए मिल जाता तो मे प्रस्थान कर सकता।'

नन्ही पत्नी ने कहा—'आप कुछ उडद मॉगकर लाए थे कल। व ज्या क त्या रख ह। कहे तो आपको दे दूँ।'

'ठीक हे। मै इन्हे ही खा लेता हूँ। तभी अनुष्ठान का काय भी करन म सक्षम हो पाऊँगा।

ब्राह्मण ने पत्नी के लिए रखे उडद स्वय खा लिए। फिर जा पहुँचा राजमहल। राजा क पास।

अभी महल मे कदम ही रखा था कि किसी ने बता दिया—'इस यज्ञ-अनुष्ठान क लिए पूरी नियुक्तियॉ की जा चुकी हैं। उसके लिए तो कोइ स्थान कोइ काय, कोई जिम्मेवारी बची ही नही।'

'कोई बात नही। उषस्ति ने कहा। फिर थोडा दिमाग लडाया। तरकीब सूझी। जा खडा हुआ उस ब्राह्मण के पास स्तुति करने वाले के पास प्रस्ताता के पास। उसे पूछ लिया—'मेरे भाई ! लगता है तुम्ह अपनी जान प्यारी नही।

'क्या मतलब ?'

'अभी पूछता हूँ जरा बता दे उस देवता का नाम जो प्रस्ताव भक्ति मे अनुगत है ?'

सामने वाला चुप खडा था। कोइ उत्तर नही दिया।

उषस्ति ने फिर कहा—'अरे ! क्या तू इतना भी नही जानता कि उस देवता की विधिवत् स्तुति होनी जरूरी है। यदि तू ऐसा नही करेगा तो तेरा सिर कटकर दूर जा गिरेगा। मै इस बात को भली प्रकार देख रहा हूँ। तू नही देख पा रहा।'

वह घबरा गया। अपने ज्ञान पर उसे भरोसा नही था। उषस्ति को वह बहुत ज्यादा विद्वान् मान गया। उसके प्रश्न ने ही उसे विचलित कर दिया। उसके मस्तिष्क के, सिर के कट जाने का जो भय खडा किया था उषस्ति ने, इस कारण भी वह शिथिल हो गया। बोला—'हे ब्राह्मण देवता ! मै इसे नही जानता।'

यह उषस्ति की पहली जीत थी।

अब उसने उद्गाता से वही प्रश्न किया, साथ ही भय भी पेदा कर दिया। पूछा—'बताओ तो, क्या तुम उद्गीथ के देवता को जानते हो ? उसे जाने बिना

उद्‌गान तो नही कर रहे कही ? यदि बिना यह सब समझे तुमने उद्‌गान किया तो बहुत बुरा होगा। ऐसा करने से तुम्हारा सिर कटकर एक ओर जा पडेगा। अपने जीवन की चिन्ता करो।'

यहाॅ भी उषस्ति को सफलता मिली। जहाॅ अपने सिर को बचाने की बात आ खडी हो, वहाॅ और सब कुछ नगण्य लगता है। यही तो इस उद्‌गाता के साथ हुआ था।

तीसरा प्रयत्न। उषस्ति ने प्रतिहता को भी घेर लिया। उसे डराया। धमकाया। वह भी तो अनुगत देवता का नाम नही जानता था। यदि वह अधूरे ज्ञान से प्रतिहरण करेगा तो उसका सिर कट जाना भी पक्की बात है। यह सुनकर उसकी सिट्टी पिट्टी बन्द हो गई।

उषस्ति ने कुछ ऐसा चक्कर चलाया, कुछ ऐसा भयभीत किया कि अनुष्ठान कार्य को पूरा करने वाले सभी आतकित हो गए। उन्होने अपना-अपना कार्य रोक दिया। कुछ भी करने की हिम्मत न थी उनमे अब।

राजा तक खबर पहुॅची। राजा भी परेशान हो उठे। उनका यज्ञ का अनुष्ठान बीच मे ही न रह जाए, इसलिए वह हाथ-पाॅव मारने लगे। समस्या पर सोचने लगे। कैसे हो यह पूरा, यही विचार करने लगे।

राजा जानते थे कि जिस यज्ञ मे छोटी-सी भी त्रुटि रह जाए, वह यज्ञ सफल नही होता। फलीभूत नही होता। मगर यह यज्ञ-अनुष्ठान तो कुछ ऐसा होने जा रहा था, जिसमे हर पग पर बडी-बडी कमियाॅ थी। पूरे-के-पूरे यज्ञ का ध्वस होने का भय खडा हो गया था। वह समझ नही सके कि ऋषि उषस्ति का धन्यवाद करे अथवा उसकी प्रताडना करे। यदि वह न आता तो यज्ञ पूर्ण हो जाता। होने वाली हानि का ध्यान कर, राजा ने उसका आभार प्रकट करने का निर्णय कर लिया।

राजा सोच रहे थे—'मान लो इस यज्ञ मे इतनी बडी भूले, इतनी बडी गलतियाॅ हो जाती, तो मेरा, यजमान का ही सिर कट जाता। फिर क्या होता ? सब कुछ खत्म हो जाता। न मै रहता। न ही हमारा राज्य।'

राजा तेज कदमो से ब्राह्मण उषस्ति के पास गए। हाथ जोडे। धन्यवाद किया। पधारने पर आभार प्रकट किया। परिचय जानना चाहा।

उषस्ति चाक्रायण ने अपना तथा पिता का जब नाम बताया तो राजा की उनमे श्रद्धा और भी बढ गई। वह अपने आपको बडा भाग्यशाली मानने लगे। उषस्ति के वहाॅ चरण पडना, उनको गौरवान्वित करने लगा।

तब राजा ने बडे सम्मानपूर्वक, बडे ही विनम्र भाव से कहा—'हमारा अहोभाग्य। मेरे इस यज्ञ का अनुष्ठान आप ही करे। बडी कृपा होगी। पहले भी मैने आपकी तलाश करवाई। कुछ पता न चला। अब आप आ पहुॅचे है। हमारा राज्य बच

गया। मेरा शरीर सुरक्षित रह जाएगा वरना इनका क्या पता, क्या कर बैठते। आपको ही यह सारा आयोजन करना है। कृपया इनकार मत करना।'

तब उषस्ति ने कहा–'जब मै आ ही गया हूँ तो इस कार्यभार का सॅभालने को तेयार हूँ। मेरी उपस्थिति मे ही सारा कार्य होगा। कोई गडबड न होने पाएगी। इन्हे जो कार्य सौपा हे, उसे यही करेगे। मै नरीक्षण करता रहूँगा।'

'ठीक है ब्राह्मण देवता। हमे मजूर है।'

'जितना भी धन आपने इन सभी ब्राह्मणो को देना है, उतना सारा धन अकेला मै लूँगा। क्या यह भी मजूर है ?'

'बिलकुल ! अनुष्ठान विधि-विधान से हो जाए, इससे ऊपर ओर क्या चाहिए हमे।' यजमान राजा ने स्वीकृति दे दी। राजा निश्चिन्त हो गए। उषस्ति क भी दिन फिर गए। उसकी निर्धनता भी समाप्त होने जा रही थी, अत वह बहुत प्रसन्न था।

'जब पूरे यज्ञ की बागडोर उषस्ति के हाथ आ गई, तो प्रस्तोता ने आकर विनयपूर्वक पूछा–'महाराज ! प्रस्ताव के देवता का नाम बताएँ। मै अपना काय शुरू कर सकूँ।'

'हॉ, सुनो। प्रस्ताव का देवता प्राण है। क्योकि प्रस्ताव का पहला अक्षर 'प्र है, जो प्राण का भी पहला अक्षर है।' उषस्ति निर्धन था। उसके ज्ञान के कारण उसकी धाक खूब जम चुकी थी। उसने और तो कुछ नही किया था, हॉ पुरान 'यज्ञ-विधान' के साथ 'ब्रह्म-ज्ञान' को भी जोड दिया था। चूँकि परम्परावादी ऋत्विक इसे नही जानते थे, इसीलिए वे पीछे हटे। भयभीत हो गए। उषस्ति क सम्मुख घुटने टेक दिए।

प्रस्तोता तो सन्तुष्ट हो गया। फिर भी उषस्ति ने उसे आगे कहा–'सब भूत अवसर पाकर प्राणो मे प्रवेश करते है। प्राणो से ही उनकी भी उत्पत्ति होती है।

प्रस्ताव के इस देवता को जानना और उसका आदर करना जरूरी था। यदि तुमने इसे बिना जाने प्रस्तवन कर दिया होता तो बरबादी हो जाती। ऐसे म जसे ही मै कहता कि इसका सिर गिर जाए, तुरन्त तुम्हारा सिर कट जाता। प्राण भाग खडे होते। तुम्हारी मृत्यु हो जाती। अच्छा हुआ जो मे ऐन मोका से थोडा पहले आ पहुँचा। वरना यह यज्ञ अनुष्ठान अनेक परिवारो के लिए इस राज्य व राजा के लिए घातक होता।'

जब प्रस्तोता सन्तुष्ट होकर आगे बढ गया तथा अपने कार्य को सॅभालने लगा, तो उद्गाता भी तेजी के साथ उषस्ति के पास आया। करबद्ध निवेदन करन लगा–'हे ब्राह्मण देव ! मै भी उद्गीथ देवता के बारे मे जानना चाहता हूँ। यदि आप बता दे तो मे अपना कार्य उसी के नाम पर आरम्भ कर सकूँ ?'

'हॉ तुम्हे भी बताता हूँ। उद्गीथ का दवता आदित्य है। रहस्य बताता हूँ। उद्गीथ का उपसर्ग उत् है। जिसका अर्थ है ऊपर। औग ऊपर कौन है भला ? मे बताता हूँ। ऊपर आदिन्य ही है। शायद तुम भी जानते हो। आदित्य को जाने बिना यदि तुमने उद्गान कर दिया होता तो तुम्हारा भी यही हाल होता, जो मैने पहले बताया था। सिर और धड अलग-अलग पडे होते।'

जब प्रस्तोता तथा उद्गाता, दोनो बात समझकर अपने कार्य की ओर अग्रसर हो गए, तो प्रतिहर्ता सामने आ खडा हुआ। उषस्ति ने उसे भी पूरा ज्ञान दिया। बताया—'प्रतिहार का देवता अन्न है। अन्न ही पालक है। यही पोषण करता है। अन्न नही तो कोई प्राणी जीवित नही रह सकता।

यदि तुम इसे जाने बिना प्रतिहरण कर बैठते, तो तबाह हो जाते। तुम्हारा सिर तो कटता ही, इस राजा का भी विनाश हा जाता। अच्छा हुआ मै आया। पूछ लिया। समय सँभाल लिया। यह तुम सबकी खुशकिस्मती है।' उषस्ति ने ये बात बडा जोर देकर कही। यज्ञ-अनुष्ठान करने वाले बरबाद हो जाते।'

उपनिषद् की इस कथा मे आगे कहा गया है कि निर्धन मगर योग्य उषस्ति को ढेरो धन की प्राप्ति हो गई। उसने जिस ब्रह्मज्ञान का सहारा लिया था औ राजा व पण्डितो को भयभीत कर अपना काम निकाला था, ऐसा ही अन्य ऋत्विव को भी झेलना पडा होगा, ऐसा लगता है।



जब यमराज पश्चात्ताप करने लगे

यमराज ही कालदेव है। यही समय है। इसी के अन्दर पूरा ससार समाया हुआ ह। इसी मे सब कुछ उपजता है। यही नष्ट हो जाता है। फिर इसी मे आ मिलता ह।

काल वैसे तो पुरुष है। मगर इसे काली नाम देकर कुछ लोग नारी मान तेन हे। इसे माँ के रूप मे मानते है। पूजते है।

वही दिन है। वही रात है। वह हर पल है। वही सर्वत्र है। कुछ लोग यम ओर यमी भी मानते है। यम को पुरुष। यमी को नारी। पति-पत्नी। मगर कुछ लोग इससे सहमत नही। वे यम और यमी को भाई-बहन मानते है। कुछ तो इतना भी कह चुके है कि यमी अपने भाई यम के पीछे भागती है। सहवास की सहशयन की इच्छा रखती है। मगर यमलोक लाज का ध्यान रखते हुए अपनी बहन यमी से दूर भागता फिरता है।

आगे देखिए दर्शन की बाते। लिखा हे कि विवस्वान थे सूर्य के पुत्र। सूय समान। सूर्यरूप ही। सूर्य ही आदित्य है। सबसे बडा। सबस ऊपर। काल स बाहर। काल की पहुँच मे नही। सारी दुनिया उनका भोजन हे। खा जाते ह सब कुछ। शब्दो को भी।

सूर्य को कोई भय नही। कोई खतरा नही। वह सबको खा सकते हे। उन्ह कोई नही खा सकता। जब अन्त आएगा ही, वह अपने महाकाल रूप मे ही लीन हो जाएगा। महाकटाह मे समा जाएगा।

यदि उन्हे भय है, खतरा है तो अपने पुण्य के नष्ट होने का। घटने का। यह सबसे बडा खतरा माना जाता हे। वह पाप से दूर रहते है। अपराध को पास नही फटकने देते। चूँकि वह धार्मिक है, इसलिए डरपोक भी। भीतर-ही भीतर भयभीत रहते है। इसीलिए अपने पुण्यो की रक्षा मे व्यस्त रहते हे।

उधर यम की बात करे। उन्हे कोई मार नही सकता। वह मबको मार सकते ह। वही सर्वेसर्वा है। फिर भी आज एक डर उनके सामने हे। वह इसी कारण थर-थर काँप रहे है। भयभीत रहने लगे है।

इसका कारण था एक बालक। वह बच्चा किसी ब्राह्मण का था। मुलाकात हुई उन्ही के घर मे। बालक मेहमान बना हुआ था। यम के पास रह रहा। चूँकि

बच्चे के घर मे प्रवेश के समय यम घर पर नही थे। अत बच्चे का स्वागत करने वाला कोइ न था।

यम के मुख्य लेखाकार चित्रगुप्त थे। उनके पास पूरी सृष्टि का हिसाब था। हर अच्छे-बुरे को वह जानते थ। कोई भी छोटा-बडा उनकी निगाहो से ओझल न था। लोगो के मन मे क्या है, चित्रगुप्त सब जानता था।

आश्चर्य की बात यह है कि बच्चा धरती से उठा। यमराज के महल मे पहुँच गया। इसका यमराज के किसी भी चौकीदार, कर्मचारी या फिर चित्रगुप्त को कुछ पता न चला। भूखा, प्यासा, अनदेखा, अनजान-सा वह महल मे रहने लगा।

उपनिषद् की इस कहानी के मुताबिक बच्चा महल मे बैठा यमराज की प्रनीक्षा करता रहा। न लेटा। न सोया। न ही कुछ खाया-पिया उसने। इसी प्रकार तीन दिन बीत गए वहाँ।

बच्चा ब्राह्मण था। वेश्वानर स्वरूप था। यमराज का मेहमान था। साक्षात् आग था। आग का बडा गोला था। हो सकता है वह यमराज का घर ही जलाकर राख कर दे। यही डर यमराज को खाए जा रहा था। तीन दिनो बाद लौटे यमराज को इस बच्चे की उपस्थिति ने बडा ही असुखद स्थिति मे ला खडा किया था। यम ने मन-ही-मन इस बच्चे के पॉव धोने, उसको फूल चढाने, मनाने, खुश करने की सोच डाली।

बच्चा था। ब्राह्मण का बच्चा। कहते है किसी भी घर मे एक रात को ब्राह्मण भूखा रह जाए तो उस परिवार का सत्यानाश हो जाता है। सारे पुण्य खत्म हो जात है। सारे सुख छिन जाते है। मगर यह बच्चा तो पूरे तीन दिनो मे भूखा, बिना सो उनके घर मे पडा है। अवश्य यह उसकी बरबादी का कारण बनेगा। यम का म यही बात बार-बार मान रहा था। कह रहा था। आवाज दे रहा था।

यमराज थे। विवस्वान थे। घबराए हुए थे। अर्घ्य-पाद्य लाए थे। मगर बाल रूठ गया। साफ इनकार कर दिया। वह पीडित मन बैठा था। आज वह उ बालक के मन की बात भी न समझ सके थे। यह उनके लिए मुसीबत बना बै था। अपनी मुसीबत के कारण व गहराई को वह न समझ पाए। ब्राह्मण बलक मन मे बैठी ग्लानि को निकालना कठिन था। उन्हे कोई उपाय न सूझा जिससे बालक को प्रसन्न कर सके।

डरते हुए, कॉपते हुए यमराज ने इस बालक को हाथ जोड दिए। न किया। कौन है वह, यह जानना चाहा। डरते हुए उन्होने बालक से पूछा।

'ओह। तो आप यह भी नही जानते।' बच्चे की भाषा मे व्यग्य कटाक्ष था। ऐसा समझा यमराज ने और यह भी सोच लिया कि बच्चा बेहद ना है। मगर बच्चे के ऐसा कहने का यह मतलब नही था। उसने अपने उत्तर से नाराजगी नही जतलाई थी। बल्कि वह कहना चाहता था कि 'तुम स्वय यम

हो। सबके दिलो की जानने वाले। फिर भी मेरे विषय म पूछ रह हा।

धीरे-धीरे यमराज ने कहा— हॉ, आप ब्राह्मण-पुत्र ह। यह तो मे जान ही चुका हूँ। आपके ब्रह्मतेज से ही मैंन पहचाना हे। बालक होने का भी आभास हा रहा है। आप मेरे लिए आदर योग्य है। ब्राह्मण के बच्चे को, आग की चिनगारी को और सॉप के बच्चे को कभी छोटा नही समझना चाहिए वरना वे विनाशकारी सिद्ध हो सकते हे। इस कारण भी मै आपका स्वागत करता हूँ। पूजनीय हे आप। मेरे मेहमान हैं आप। कहिए। आप कहॉ से पधारे हे। यहॉ आन का प्रयोजन ? मै आपके किस काम आ सकता हूँ।'

बालक चुप रहा। दुखी था। अपना दु ख कहने मे असमथ बना बेठा रहा।

मगर यमराज इस मोन के कारण ओर भी घबरा गए। लगना हे नाराजगी अत्यधिक हे। बोले—'मेरे से बहुत बडा अपराध हुआ है। आप मेरे घर पर और मै घर से बाहर। न आपका आदर, न ही सेवा। इसका मुझे दु ख है। क्षमा चाहता हूँ। जो समय बीत चुका हे, उसका तो कुछ हो नही सकता। हॉ, आप तीन अनदेखी रातो के लिए तीन वर मॉगने के अधिकारी है। मॉग ले। और अपने बारे मे पूरी जानकारी देने की कृपा करे।' यमराज भीगी बिल्ली बना बालक के सम्मुख अनुनय-विनय करता रहा।

अब बालक ने अपनी बात कहनी शुरू की—'मे ब्राह्मण बालक, पूरी तरह नादान हूँ। मेरा नाम नचिकेता है। मेरे मे न चेत हे न ही केत। मेरे अन्दर कोइ लालसा नही। कोई चेतना नही। मुझे कोई अनुभव भी नही। बाहरी ज्ञान से भी मै वचित हूँ। मेरे अन्दर न तो चिकित् मूल है। न चिकित्सा शास्त्र की कोई बात। कुछ जानता होता तो शायद यहॉ न आता। वही कुछ समय और रहता। मै अनाडी हूँ। भोला हूँ। हर बात को सुनकर चकित हो जाने वाला।

'मेरे मन मे जो निश्चय होना चाहिए, वह नही है। मेरे मन मे जो बोध होना चाहिए, उससे भी वचित हूँ। हॉ, मेरे मन मे सन्देह ओर प्रश्न उठते रहते है। इसी कारण मै बेचैन भी हूँ।

'महाराज ! मै अपने जीवन मे सदा अभागा बना रहता हूँ। सदा प्रश्न करता रहता हूँ। कुछ-न-कुछ पूछता रहता हूँ। इसी से मेरी यह दशा हुई है, ओर मै नि सहाय-सा होकर यहॉ पहुँच गया हूँ।'

बच्चे के मुँह से ये विवर्ण जानकर यमराज की जान-मे-जान आई। उसे हौसला हुआ। सोचने लगा—इस अभागे से, इस परेशान लडके से यो ही डरता रहा। जिसे सहारे की जरूरत है, वह मेरा क्या बिगाड लेगा। इसे तीन वर देने का वादा कर, मैने बडी भूल की है।

फिर अपने इन मन के विचारो को छिपाते हुए यमराज ने कहा—'चिन्ता मत

करो। यहाँ आ गए हो। अब घबराने की कोई बात नही। बोलो, अपने कष्टो को कहो।'

बालक चुप बैठा रहा। कुछ बोला नही।

यमराज ने कहा—'प्रश्न पूछना अच्छा भी है। बुरा भी। शिक्षा से ज्ञान बढता है। पर पूछने पर लोग बुद्धू मान बैठते है। एक लाभ। एक हानि।

समझदार आदमी ही मूर्ख होता है। वह इतना मूर्ख हो जाता है कि ठीक से प्रश्न भी नही कर सकता। समझदार वही है जो अज्ञान और अपज्ञान, दोनो के साथ तालमेल बिठाकर बीच का रास्ता ढूँढ निकाले। कुछ बाते गलत जरूर होती है। पर चुप रहना पडता है। न तो सन्देह प्रकट करता है, न ही विरोध।

बिना मतलब कुछ-न-कुछ सवाल करते रहना, मूर्खता ही है। कुछ जानने के लिए पूछना भी तो बुद्धिमानी है। ग्लानि प्रकट नही करनी चाहिए। फिर भी आप यहाँ आए है। अपने मन की बात सही-सही कहो तभी किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

बताओ आपका यहाँ आने का प्रयोजन कहाँ रहते है माता-पिता और कौन है वे। बताओ क्या माता-पिता ने ही आपको यहाँ भेजा या फिर अपनी इच्छा से सीधे यहाँ आ गए हो ?

नचिकेता ने यम राजा की पूरी बात को सुनकर कहा—'मुझे दु ख है कि मेरे माता-पिता ने मुझे आपके पास धकेल दिया है। आपको ही सौप दिया है। पिता कठोर निकले। मुझे भी मानना पडा। कठोर पिता तो बच्चो की आँख फोडने से नही डरते।'

यह सुनकर यमराज ने कहा—'तुम उस पिता की बात कर रहे हो, जो वैदिक था जिसका बच्चा दूसरो के बच्चो मे हिल-मिलकर खेलने मे व्यस्त हो गया था भेडिया आया। भेडो की रक्षा के लिए वहाँ कोई मौजूद न था। भेडिए को मौक मिला। वह भेडो को खा गया। ऐसे बच्चे की, उस नालायक बालक की उस वैदिक पिता ने आँख फोडकर कोई बुरा नही किया।

'मगर ! हे ब्राह्मण-पुत्र ! वह तो सतयुग की बात है। उस समय धर्म चा पाँव वाला था। इस द्वापर युग मे उतना धर्म कहाँ ? सब जानते है कि धर्म क लगातार क्षय हो रहा है। जब कलिकाल का प्रकोप होगा तब कुछ और ही देख को मिलेगा। माँ-बाप बच्चो के प्यार मे पागल होते जाएँगे। जो काम कभी उनव माता-पिता ने नही किए, जो काम उन्होने स्वय के लिए कभी नही किए, वे का अपने बच्चो के लिए किया करेगे। यह तो समय-समय की बात है।'

नचिकेता के मुँह मे अब जबान थी। स्पष्ट शब्दो मे कहे जा रहा थ बोला—'मै केवल उस वैदिक काल के पिता की बात नही कर रहा। मै आम ब

कर रहा हूँ। हर आदमी पहले पिता हे मनुष्य बाद म।

'ओह ! तो यह बात हे। जिस भाषा का तुम प्रयोग कर रह हो यह भाषा तुम्हारे समय के लिए, तुम्हारे लिए उपयुक्त नही। यह तो कलियुग की भाषा ह। मैने इसे तैयार कर, ग्रन्थ-रूप मे छिपाकर रख दिया था। तुम्ही मेरी अनुपस्थिति म तुमने वह ग्रन्थ तो निकालकर नही पढ लिया। बताओ।'

'यमराज महोदय ! मेरी आयु का ध्यान करो। मने भी पढना-लिखना तो सीखा ही नही। आपने जो कुछ लिखा होगा वह तो ब्राह्मी लिपि म ही लिखा होगा। यह आपकी लिपि है। देवताओ की लिपि। पृथ्वी से आया कोड भी उसे नही पढ सकता। मेरे जो मन मे बात उठी, मेने कह दी।

'क्या कलियुग ऐसा होगा जिसमे बच्चे माता पिता पर राज करेगे, जसे आज के माता-पिता अपने बच्चो पर ?

'क्या उस समय सारे अधिकार बच्चो के होगे तथा सारे कर्तव्य माता-पिता के ?

'तब तो मे पहले वरदान मे मॉग करता हूँ कि एसे कलियुग को शीघ्र ला दे। तुरन्त। और फिर मुझे मेरे पिता क पास भेज दे।

'क्या बताऊँ ? इस द्वापर मे तो सारे अधिकार माता-पिता के पास सुरक्षित होते हे जबकि सारे कर्तव्य बेटे के। पिता बेटे को पेदा करने के बाद भूल जाता हे। बेटा जेसे मर्जी पलता रहे, उसे कोइ चिन्ता नही होती। एक लम्बी कतार म बच्चे पैदा किए जाते ह। उनके पालन-पोषण की कभी सोची ही नही जाती। ऐसा हे यह द्वापर युग। चाहे बच्चे मिट्टी खाकर पलने को तेयार हो, वह भी सो-सो बच्चे पेदा करने से पीछे नही रहता। अन्न का दाना हो न हो बच्चा जरूर हो।

'हे यमराज ! मे इस द्वापर युग से बहुत परेशान हूँ। यहॉ पिता का शासन चलता है। बेटे को कोइ नही पूछता।

मै अपने ही पिता की बात करता हूँ। उन्होने अपनी कामना-पूर्ति के लिए विश्वजीत यज्ञ किया। जो कुछ पास मे था, दान मे दे डाला। हो गए खाली। बच्चे क्या खाऍगे, इसकी उन्हे कोइ चिन्ता न थी।'

'वाह, नचिकेता वाह ! द्वापर युग मे रहते हुए द्वापर की ही बात करो। जो तुम्हारे पिता कर रहे हे, वही द्वापर युग के धर्म की मॉग हे। तुम कलियुग मे होने वाली बातो की द्वापर मे आशा मत करो।' यमराज ने समझाया।

नचिकेता की वाणी मे बगावत थी। उसे द्वापर बुरा लग रहा था। कलियुग अच्छा। बोला—'मुझे कलियुग ही चाहिए। तुरन्त कलियुग को बुलाऍ। फिर भेजे मुझे अपने पिता के पास। तब पूछूँगा कि उन्होने मेरे लिया क्या किया। बेटे के लिए क्या जुटाया।'

'बडे बड-बड किए जा रहे हो। अपने पिता की भी सोचो। वह द्वापर युग मे रहकर द्वापर जैसा व्यवहार नही करेगे तो भी उन्हे बुरा-भला सुनना पडेगा। कलियुग की मॉग करने वाले नचिकेता ! नही जानते कि इससे तुम्हे बहुत नुकसान होगा।'

'कैसा नुकसान ? बताएँ तो।'

'उस कलियुग मे औरो का नुकसान हो चाहे न हो। तुम्हारा तो जरूर होगा ही। कलियुग मे लोग कुछ भी पाने के लिए, सैकडो-हजारो के बीच—बडे-बडे वायदे करेगे। लाउडस्पीकर पर घोषणा करेगे। जब काम निकल जाएगा तो अपने ही किए वादो को भूल जाएँगे। याद दिलाने पर भी याद नही आएगा। तुम्हे क्या नुकसान होगा, अब उसकी सुनो। मैने भी तीन वचन देन का वादा किया है। यदि कलियुग अभी आ गया तो मै भी अपने दिए वचनो से तुरन्त मुकर जाऊँगा। वरदानो को पूरा नही करूँगा। देखते रहना। तुम्हारे मन की बात मन मे रह जाएगी। पूरी न होगी। कहो, क्या लाभ होगा तुम्हे कलियुग का ? होगा न नुकसान।'

नचिकेता सोचने लगा—'ठीक कहते है यमराज। यदि इन्होने ही अपने वर पूरे न किए तो मै कहॉ जाऊँगा ? अच्छा हो कि द्वापर ही बना रहने दूँ। उपनिषदो की इस कथा के अनुसार नचिकेता ने द्वापर युग को बना रहने की मॉग कर दी।

नचिकेता ने हाथ जोड दिए। हालाकि ब्राह्मण होने के कारण यदि वह हाथ न भी जोडता तो भी काम चल सकता था। उसने पूछ लिया—'इस द्वापर मे भी अनेक माता-पिता अपने बच्चो की ठीक प्रकार से देखभाल किया करते है। मगर मेरे पिता ने मुझे मृत्यु के मुँह मे,यमराज के पास क्यो धकेला। मुझे इसका स्पष्टीकरण चाहिए।'

'मेरे विचार से तुमने अपनी कहानी पूरी नही सुनाई। लगता है जरूर कुछ छिपा लिया है तुमने। ऐसे क्या हालात थे कि तुम्हारे पिता को ऐसा कहना पडा बताओ। फिर देता हूँ स्पष्टीकरण।'

'मेरे दादा का नाम बाजश्रवा है। मेरे पिता का नाम उद्दालक है। हमा पूर्वज गौतम ऋषि है। हमारे खानदान मे धन-दौलत की कमी नही रही कभी शायद मै पहले भी कह चुका हूँ। मेरे पिताजी ने अपनी किसी कामना पूर्ति के लि विश्वजित यज्ञ का आयोजन किया। इस यज्ञ मे पिता ने सब कुछ दान मे दे डाल दक्षिणा के लिए कुछ बचा नही। हॉ, कुछ बूढी गाय दे डाली दक्षिणा मे। जो न बच्चे पैदा कर सकती थी, न ही दूध देती थी। ऐसी गायो को दान या दक्षिणा देना, दान लेने वाले पर भी अतिरिक्त बोझ होना था।

'चूँकि इन गायो ने मेरे पिताजी की खूब सेवा की। आवश्यकताएँ पूरी व अब इनके मरने तक इनकी सेवा होनी चाहिए, ऐसा मैने सोचा। कौन जाने

मे इन्हे स्वीकार करने वाला, बिना कोइ लाभ पाए, इनकी सेवा करेगा भी या नही।

'मे यह भी जानता था कि जो कोइ इस प्रकार की बेकार, बूढी गाया को दान मे देता ह उसके लिए नरक निश्चित हे। मेने यही बात पिताजी से कह दी। पूछ लिया कि दान लेने वाला इनका क्या उपयोग करेगा।

'मने ऐसा पूछकर क्या गलती की यह मे नही जानता।

'क्या तुम नही जानते थे कि उनका अब क्या होगा '

'यज्ञ के समय उन्हे दान दने पर मेरा मन खराब हो गया। तभी मेने जरा कठोर भाषा म पिता से प्रश्न कर दिया। और भी कुछ सोच लिया मन। इससे थोडा आगे। यदि जीवन भर सेवा करने वाली गाया को, बेकार बनाकर दान मे दे डाला पिताजी ने तब तो मुझे भी किसी को भी दे सकते ह वह। मेने तो अभी तक उनकी कोइ सेवा भी न की थी। इसीलिए पूछ बेठा—'आप मुझे किसे दने वाल ह ?

'पिता पहले भी नाराज थे। इस प्रश्न को सुनकर उन्हे और क्रोध आ गया। मगर वह चुप रहे। कुछ कहा नही। मोन बेठे रह वह। मेने फिर पूछ लिया—यदि बेचारी गायो का यह अन्त हे, तो मुझे बताएँ आप मुझे किसे दे रहे हे ?

'एक बार फिर पिता ने—मेरी बात पर गोर नही किया। कोइ उत्तर नही दिया। शायद उन्हे भी अपने आप पर चिढ-सी आ गइ थी। उन्हे इस प्रकार का गलत दान नही देना चाहिए था। इस यज्ञ के औचित्य को वह स्वय ही गलत महसूस करने लगे थे।

'उन्हे चुप बेठा देखकर मैने फिर वही प्रश्न दोहरा दिया ओर तुरन्त उत्तर देने को भी कह दिया।

'अब वह पहले से भी ज्यादा गुस्से मे आ गए। मेरे बार-बार पूछने के कारण चिढने लगे। क्रोध मे शायद होश ही गॅवा बैठे। कह दिया जोर से—'अरे मूख ! जा, मे तुझे मृत्यु को देता हूँ।'

'यह हुई न बात ! पूरी बात जानकर ही कोइ स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। तब तुम उठे और आ पहुॅचे यमराज के पास, यानि मेरे पास।'

'हॉ, यही हुआ।'

'क्या तुम्हे मेरे पास आते समय डर नही लगा क्या ?' यमराज ने पूछ लिया।

'लगा डर। जरूर लगा। पर उससे कम जितना अपने पिता के क्रोध से लग रहा था। मेरा विचार बना कि धर्म और पुण्य के सामने उनके मन मे मेरे जीवन की तो कोई कीमत है ही नही। आपसे क्या छिपा है। धम और पुण्य के लालच मे लोग अपने बच्चो को आरे से भी चीर डालते है। है न !'

'बालक ! तुम्हारी भाषा ठीक नही। तुम अपने पिता के प्रति जरूरत स ज्यादा कठोर हो रहे हो। मे मानता हूँ कि तैश मे आकर उन्होने ऐसा कह दिया

था। इसी को तो होनी कहते है। और होनी सदा बलवान होती है। मगर तुम ऐसा क्यो नही सोचते कि जिस पिता को तुम्हे और से चीरने तक का अधिकार था, उसने अपने इस अधिकार को त्याग दिया। यह एक बडा अहसान है पिता का पुत्र पर। जो तुम्हे मौत मिली यह तुम्हारी जिद का नतीजा है।'

'यदि आप मुझे ही इसका दोषी मानते है, मै स्वीकार करता हूँ। फिर भी, मे ता बच्चा हूँ। बाल-हठ पर उतर आया था प्रश्न पूछते समय, मगर पिताजी तो बडे है। उन्होने दुनिया देखी हे। जब मैने आपकी ओर आने की (यमराज के पास पहुँचने की) राह पकडी थी, तब तो उन्हे रोकना चाहिए था। समझाना चाहिए था। ऐसा ता है नही कि उन्होने आने को रोका हो और फिर भी मै चलता रहा।'

'यह तुम्हारे पिता के बस मे न था। यह द्वापर युग है। कलियुग नही। कलियुग मे लोग असावधानी मे कही बात पर अडेगे नही। इसमे फिर से विचार कर सुधार कर लिया करेगे। वे जो करेगे, सोच-समझकर ही किया करेगे।

'द्वापर युग मे तो जो मुँह से निकल गया, जो कह दिया, उसी पर चलना होता है। पूरा करना होता हे। हॉ, इसका जो लाभ मिलता है, वह अन्त मे ही मिलता है। कुछ समय तक तो कठिनाई सहनी ही पडती है। पिता ने तुम्हारे मरने की बात कह डाली थी। तुमने क्रोध दिलाया उन्होने कह दी। भला वह क्यो रोकते ? हॉ, कोइ तीसरा आदमी बीच-बचाव कर तुम्हे यहॉ न आने को समझाता। तब बात ओर थी। अत बच्चे, अपने पिता पर दोषारोपण मत कर।'

'नही। आपने असली बात नही जानी। दोष उन्ही का है। जब मुझे मृत्यु को सौपने की बात उन्होने कह दी, कुछ लोगो ने कहा भी कि ऐसा मत करे। जानते है उनका उत्तर क्या था। 'अरे जिन्दगी का क्या। फसलो की तरह होती है। पकती है। खत्म हो जाती है। सदा तो रहती नही। फिर इसके साथ मोह कैसा ? लगाव कैसा ? सही ऋतुकाल आने पर फसल से गिरे बीज पुन तैयार होकर पोधा रूप धारण कर लेते है। इस बच्चे की छोडो। मेरी जब इच्छा होगी, एक और पैदा कर लूँगा। यह जाता है, जाने दो। मै अपनी कही बात पर पूरा उतरूँगा। पुण्य क्षीण होने पर कहॉ से लाऊँगा।

'मेरे भाई ! मरना-जीना तो लगा रहता है। यदि यह मरता है तो कोई फर्क नही पडता। मेरे पूर्वजो को देखो। धर्म और पुण्य की रक्षा के लिए राज-पाट तक दान दे दिया। बीवी-बच्चो को भी। बेचने पडे तो बेच भी डाले। डोम की सेवा करनी पडी तो पीछे नही रहे।' ऐमा कहा था मेरे पिता ने। उन्होने आगे कहा—'मैने इतना बडा यज्ञ किया है। इसका पुण्य पाना है। बच्चे से मोह जतलाकर, बच्चे को मरने से रोककर, मै यज्ञ के पुण्य से वचित नही होना चाहता। जैसा मेरे पूर्वज करते आए है, वैसा ही करूँगा। मै परम्परा की रक्षा

करूँगा।' ऐसा कहा मेरे पिता ने।'

'इसलिए हे यमराज, यदि आप मुझे वापस भेजने का मन बना चुके है तो मुझे दिए तीनो वरो का पालन करे।'

बोलो। क्या मॉगते हो।'

'पहले वर के मुताबिक, पिताजी मुझ पर क्रोध न करे तथा प्यारपूवक पेश आऍ।'

विवस्वान अर्थात् यमराज ने सुना। वर बडा कठिन था। किसी का मन बदलकर उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने को प्रेरित करना कोइ सुगम न था। फिर भी उन्होने नचिकेता को विश्वास दिला दिया। कहा—'ठीक है। जो मॉगा सो मिलेगा। ऐसा ही होगा। वह तुम्ह देखकर बेहद प्रसन्न होगे। हॉ, ध्यान रखना तुम्हारी ओर से अभद्र व्यवहार बिलकुल नही होना चाहिए।' वह प्रसन्नचित्त लौट गया।

उपनिषद् की यह कहानी यहॉ समाप्त नही हुई। आगे बढती है। परिणति की ओर अग्रसर होती है।

'चाइल्ड इज द फादर आफ मेन'—अग्रेजो ने कहा हे। यह उनकी अपनी सोच न थी। यह भी वेदो का सार हे। उन्होने हमारे वेदो की अनेक बातो को अपने शब्दो मे ढालकर नाम कमा लिया। फायदा उठा लिया। बालक अपने पिता का पिता है। वेदो ने ऐसा कहा है। जब बालक धीरे-धीरे सारी मर्यादाऍ, सागी बाते, पारिवारिक सम्बन्ध समझ लेता है तो वह इनको अपनाता हे। कहता है। दोहराता है। पिता को भी सिखाता है। उसका भी बाप हो जाता हे।

जब बालक नचिकेता को पिता ने मृत्यु को दे डाला ओर यह जिद्दी बालक यमलोक को चल पडा तो रास्ते मे उसे अनेक विचारो ने घेर लिया था। कभी सोचता पिता क्रूर है। उन्होने अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए ही उसे मौत के मुँह मे धकेला है। फिर कभी मन दूसरी ओर चल देता। सोचता, जो भी हो। है तो मेरे पिता ही।

नचिकेता ने इतना तो सुन रखा था कि अच्छे कर्म करने वाला, दान-पुण्य, यज्ञ आदि धार्मिक कार्य करने वाला स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। मगर स्वर्ग है कहॉ, वह यह नही जानता था। हॉ, जब वह यमराज के पास जा रहा था, तब उसने अन्धकार मे पडे कुछ लोगो को रोते, चीखते, बिलखते, तडपते भी देखा-सुना था। कही उसने दीवाली-सी खुशी, हॅसना, खेलना, नाचना, गाना भी सुना-देखा था। मगर तब तक वह स्वर्ग-नर्क को नही जानता था।

धीरे-धीरे नचिकेता यह जान गया कि सूर्य का ही नाम विवस्वान है। यही यमराज है। इसी के ये नाम है। और उसे यह भी ज्ञान हो गया कि पूरे लोक पर

यमराज का ही एकछत्र राज्य है।

अब नचिकेता का यह विश्वास पक्का हो गया कि देवता सदा दो नामो से जाने जाते है। एक तो उनका अपना, घरेलू, नामालूम-सा नाम, दूसरा सार्वजनिक। दूसरा ऐसा नाम जो सब पुकार सके।

सूर्य या यमराज अथवा विवस्वान की इतनी चलती थी कि वह बिना पूर्व सूचना, जिसे चाहता धर दबोचता। वह भोजन कर रहा है, विश्राम मे, लेटा हे या कही उपचाररत हे, इस बात की उसे चिन्ता न होती। उसके दूत जाते और उठा लेते। वहॉ हॉ या न नही कर सकता था। जिसकी चलती हो, वह सदा चलाता रहता है। यही कर रहा था यमराज भी। इस बात को नचिकेता खूब जान गया।

उस लोक मे अप्सराओ की कमी न थी। हर काम के लिए, अच्छे या बुरे, इनका बखूबी प्रयोग किया जाता था। किसी को सम्मान देना हे या किसी की इज्जत सरेआम नीलाम करना है, इन्हे आता था। नाचना, गाना, दिल को बहलाना या बौखला देना सब इन्हे आता था।

यमराज ने अनेक यातना शिविरो की स्थापना भी कर रखी थी। आदमी को जीवित उबलते तेल के कडाहे मे डालना, अग्नि के ऊपर लटकाना, काटना, चीरना फाडना, इस सबका प्रबन्ध था वहॉ। यही शिविर ही तो नरक कहलाते थे। यही से नचिकेता ने चीखने, दहाडने रोने की आवाजे सुनी थी। कहा जाता हे कि पुरुषो को अधिक कठोर दण्ड दिए जाते। औरतो को जरा कम।

स्वर्ग मे अय्याशी के अनेक अड्डे विद्यमान थे। यहॉ स्त्रियो को ऐसा अवसर न मिलता था। उन्हे सम्भवत अलग ही कही रखा जाता था। पुरुषो के यहॉ पौबारह हुआ करते। काई कमी न उठा रखी जाती उनकी मौज-मस्ती मे।

यह भी तो हो सकता है कि गन्धर्वो और यक्षो की कल्पना कभी सती नारियो के पुण्य का फल देने के लिए ही की गई हो। बाद मे उन्हे स्त्रियो वाले स्वर्ग से एक किनारे कर दिया गया हो क्या हुआ, क्या नही, उसकी गहराई मे न जाते हुए उपनिषद् की इस कहानी को आगे बढाते है। गन्धर्वो और यक्षो के स्त्री-प्रेम की कहानियो के ढेरो किस्से है। उन्हे भी बिना छुए, आगे चलते है।

जब नचिकेता को नरक ओर स्वर्ग के अन्तर का पता चल गया, साथ मे यह भी पता चला कि स्वर्ग मे क्या-क्या हो रहा है, तब वह चकित रह गया। एक बार फिर लगा सोचने अपने पिता के बारे। उनके व्यवहार को। वह सोच रहा था कि यह वही स्वर्ग है जिसके लिए उसके पिता ने अपना पूरा जीवन बरबाद कर दिया। अपना सब कुछ दान मे दे डाला। अपने बच्चे तक को मौत के सुपुर्द कर दिया।

जिस स्वर्ग के लिए उसके पिता छटपटा रहे थे, जह स्वर्ग उसे (नचिकेता को तो बडी सुगमता से प्राप्त हो गया है। इन्द्र के वर है उसके पास। जब चाहे, जैसे चाह

इन्हे भुना ले। इनका लाभ उठा ले। मगर उसे सचेत भी रहना होगा। कही यमराज उसे स्वर्ग के नाम पर कही ओर ही न पटक दे। असली स्वर्ग मे पहुँचाए ही न।

नचिकेता हर पल समझदार होता जा रहा था। सीखता जा रहा था। अब वह यमराज से वाद-विवाद भी कर चुका था। लम्बे सवाद से गुजर चुका था। अत कुछ समझदारी करते हुए यमराज से बोला—'हे विवस्वान महोदय ! जितनी सुख-सुविधाएँ स्वर्ग मे है, अन्यत्र नही। यहाँ भूख, प्यास, कुछ परेशान नही करता। सवत्र आनन्द। हर पल आनन्द। आनन्द ही आनन्द। इसे तो पाना है। इसके लिए यदि अग्निविद्या जानने की आवश्यकता समझे तो इसका ज्ञान मुझे करा दे। यह विद्या स्वर्ग से भी श्रेयस्कर है। पहले इसका पूरा ज्ञान कराकर मुझे पारगत कर दे, फिर अन्य प्राप्तियाँ भी होती रहेगी। मैने सुन रखा है कि यज्ञविधान से बडा विज्ञान कोई अन्य नही है।'

नचिकेता ने अपने मन की बात कह दी। मगर इस बात को सुनकर यमराज हैरान हो गया। कमाल है। कल का यह छोकरा कितनी बडी, कितनी दूर की बात कर रहा है। सोचने लगे—'यह तो इतना भी जानता है कि आदमी ओर कुछ भी जाने चाहे नही, यदि उसे यज्ञ के कर्मकाण्ड का अच्छा ज्ञान हो तो वह केवल इसी से अपने सारे काम चला सकता है। सभी सिद्धियाँ हासिल कर सकता है। स्वग भी। स्वर्ग, राज्य या सन्तान पाने के लिए अमुक-अमुक यज्ञ ह। उन्हे करने से ये सब प्राप्त हो जाता है। यह सब इस बालक को पता है। जानता है।'

वह सोचने लगे—'इस बात को तो बहुत ही कम लोग जानते हे कि पहले जो कार्य यज्ञ से ही सम्भव थे, अब अग्न विद्या से भी हो सकते है। जो बात अब तक ब्रह्मवादियो को भी मालूम नही, इसे भी यह लडका जानता है। इतना अधिक ज्ञान होना इस बच्चे को, सचमुच बडी ही आश्चर्य की बात है।'

यमराज सोच रहे थे—'मै तो बुरा फँसा। वर क्या दिए, मुसीबत ही मोल ले ली। अब परम गूढ अग्नि विज्ञान के विषय मे भी बताना होगा। इसके ज्ञान से सभी लोको को प्राप्त किया जा सकता है। इसको जानने वाले नगण्य है। इस बालक को यह बताना ही होगा कि ब्रह्मवादी यज्ञ की वेदी का चयन कैसे किया जाता है। इससे ऊँचा अन्य विज्ञान कोई नही।'

कब्जे मे तो आ चुके थे यमराज। क्या करते। वर की माँग को पूरा करना था। बोले—'हे बालक ! तूने बहुत बडी चीज माँग ली है। फिर भी, मेरा कोई इनकार नही। अग्निविद्या ही स्वर्ग का असली आधार है। जो रहस्य तुम्हे कोई नही बता सकता, आज मै इसको तुम्हे बताता हूँ। आओ, समझो कि अग्निकुण्ड का निर्माण किस भाँति होता है। कितनी ईटे बिछाते है। कैसे बिछाते है। रद्दे कैसे लगाते है। आकार कैसे बनता है। बोलते गए। वह समझता गया। पूछने पर बताता भी गया।

इससे यमराज की प्रसन्नता का कोई ठिकाना न था। उन्होने नचिकेता को

अपनी ओर से एक और वर दे डाला। इसके फलस्वरूप अग्नि का नाम नचिकेता के नाम से रख दिया। फिर बोले—'अब तुम साधारण बालक नही रहे। महत्त्वपूण हो गए हो। आगे सुनो अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला तीनो वेदो को आत्मसात् कर लेता है। यज्ञ दान, तप तीनो कर्मो को सम्पन्न करने वाले की तरह जन्म और मृत्यु दोनो से पार पाकर अमर हो जाता है। असली सार हे यह।

'जो इटो की सही सख्या, ईटो के आकार, उनके चयन की रीति को जान गया 'नचिकेता अग्नि' का वह ज्ञाता मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है। अब तुम्हारा नाम इस अग्नि के साथ बना रहेगा। आगे बोलो नचिकेता। तीसरे वरदान को मॉगो।'

'बहुत दे दिया आपने। कोई कमी रही ही नही। हॉ एक शका हे मन मे। इसका निवारण कर देते तो बहुत अच्छा होता। कुछ लोगो का मत है कि मृत्यु के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। शेष कुछ बचता नही। जबकि कुछ अन्य इससे सहमत नही। वे कहते है कि मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व बचा रहता है। क्या ठीक है। यह जानना चाहता हूँ।'

'यह ठीक हे कि मे बॅधा हूँ। वर दे चुका हूँ। पीछे नही हट सकता। मगर ऐसी बात न पूछो जिस पर देवताओ ने भी विचार किया था। मगर वे किसी नतीजे पर न पहुँच पाए। आत्मविद्या एक सूक्ष्म ज्ञान है। आज तक किसी को नही बताया हमने। अच्छा होगा यदि तुम किसी ओर प्रश्न का उत्तर जान लो। इसे रहने दो।' आज यमराज की घिग्घी बन्द हो रही थी। मॅझधार मे फॅसे थे वह। छोटे-से बच्चे ने उनकी चकरी घुमाकर रख दी थी।

नचिकेता कहॉ मानने वाला था। उसे तो यज्ञ विज्ञान से भी ऊपर आत्मतत्त्व को जानना ही था। कहता—'यदि यज्ञ कराने वाले न होते तो मेरे पिता ने केसे यज्ञ करा लिया ? आत्मविद्या तो वेदो से भी आगे है। कर्मकाण्ड और यज्ञ के लाभो से भी अधिक। इनकी पहुँच तो केवल स्वर्ग तक सीमित है। मै तो इससे बहुत ऊपर, आत्मतत्त्व को भली प्रकार समझ लेना चाहता हूँ।'

नचिकेता प्रखर बुद्धि होता गया। उसने बडी होशियारी के साथ कह दिया—'जो ज्ञान देवताओ की समझ से परे है, इसे जाने बिना मै नही रह सकता। आज मौका है। आप सामने खडे है। आपका वायदा है। पूरा करे। आपसे यह नही समझा तो फिर किससे समझ पाऊॅगा। जब इसके बराबर का कोई अन्य ज्ञान, तत्त्व है ही नही तो मै किसी दूसरी बात के बदले इसे छोड देने का समझौता क्यो करूँ ? मुझे तो आत्मतत्त्व को ही जानना है।'

यमराज की हालत खस्ता। एक रग आए तो दूसरा जाए। काटो तो खून नही। परेशानी बहुत ज्यादा। बहुत ही धीरे तथा विनयपूर्वक बोले—'दुनिया का हर सुख, महल, धन-दौलत, असख्य सन्ताने, एक बडा राज्य, जो मॉगोगे मिलेगा। मगर

र आत्मतत्त्व को जान लेने की जिद को छोड दो।'

जब नचिकेता ने यह पेशकश ठुकरा दी तो यमराज ने कहा—'स्वर्ग का ाज्य ले लो। गगनविहारी रथ देता हूँ तुम्हे। अनिद्य सुन्दरियॉ, जितनी चाहे मॉग ो। अप्सराएँ मिल सकती हे।'

इसे सुन नचिकेता तैश मे भर गया। क्रोधित होकर यमराज से बोला—'मै आपके झॉसे मे आने से रहा। स्वर्ग का सुख भी मेरी नजरो म क्षणभगुर हे। नाच गाना मुझे लुभा नही सकता। यह सब आपको या आपके देवताओ को मुबारक। जो मॉगा, उसे पूरा करो, तब जानूँ।'

अब यमराज विवस्वान समझ गए कि यह पूरी लगन के साथ आत्मतत्त्व को जान लेना चाहता हे, और इसकी यह इच्छा पूरी किए बिना गुजारा नही। तब बोले—'जीवन के केवल दो ही प्रयोजन है। या तो आदमी अपनी प्रिय वस्तु को पा लेना चाहता है अथवा अपना कल्याण करना चाहता है। प्रेय तथा श्रेय दो ही बाते है। यदि यज्ञ प्रेय के लिए है तो आत्मतत्त्व श्रेय के लिए।

'सच्ची बात तो यह हे कि जो प्रेय को चुनता है, वह भ्रष्ट हो जाता हे। जो श्रय की बात करता हे। उसका मगल ही होता हे। प्रेय की सिद्धि अविद्या से होती हे, जबकि श्रेय की विद्या से।

'अब तो तुम यह भी अनुमान लगा सकते हो कि ये दोनो बाते एक-दूसरे से पूरी तरह विपरीत हे।

'चूँकि तुम्हे प्रेय की जरा भी इच्छा नही। इसी कारण मै तुम्हे परा-विद्या को जान सकने का हकदार मानता हूँ। समझ रहे हो न तुम ?'

'जी ! बिलकुल, पूरी तरह। कहे तो दोहराकर दिखा दूँ ?' नचिकेता ने दृढतापूर्वक कहा।

'मुझे विश्वास है। कुछ लोग, जो अविद्या मे फॅसे है। अपने को प्रकाण्ड पण्डित मानते है। बुद्धिमान समझते है। मगर वे भ्रान्ति मे होते है।

सच्ची बात तो यह है कि धन के लोभ मे जो घिरा होता है, वही प्रमादी व्यक्ति होता है। उसे परलोक का ध्यान नही रहा करता। वह ससार को, इसके सुखो को ही सब कुछ मानता है। वह इसी मे फॅसा रहता है। मै भी ऐसे आदमी को जन्म-मरण से छुटकारा न देकर, उसे इसी चक्कर मे रखे रहता हूँ।

' ए विद्वान् बालक ! 'आत्मतत्त्व का ज्ञान होना तो दूर की बात है। इसका नाम तक जानने वालो की गिनती बहुत कम है। जो इसकी सिद्धि की बात सोचता है, वह धन्य हो उठता है।

'जो आत्मतत्त्व के बारे मे कुछ नही जानते, उन्हे समझाना व्यर्थ है। वे आसानी से समझ भी नही पाते। उनका ज्ञान भी सीमित बना रहता है। चूँकि यह

अति गहन विषय है, इसे समझाने वाला गुरु भी बहुत उच्चकोटि का होना चाहिए।

'मै तो तुम्हारी बुद्धि की भी प्रशसा करता हूँ। जिस किसी गुरु को तुम्हार जैसा शिष्य प्राप्त हो सके वह गुरु भी महान् होता हे।

'भले ही किसी को बहुत बडी दौलत दे दे, मगर वह उससे परम ब्रह्म को नही प्राप्त कर सकता। याद रखना। नश्वर (दौलत) देकर अनश्वर (ब्रह्म) को नही पाया जा सकता। साधना करो तो अग्नि की (नचिकेता अग्नि की)। ध्यान रहे इसकी साधना यज्ञ की भॉति कुछ पा लेने के लिए नही की जाती। यह यज्ञ जरूर हे। मगर अलग प्रकार का। साधना है, मगर अलग किस्म की। जो इसकी ठीक प्रकार से साधना करता है, वह परब्रह्म को पा लेता हे। मेने भी प्राप्ति की हे। अब मै सबकी, सबके मन की जानने मे सफल हो गया हूँ। और इतना ही नही, मै इस ज्ञान के कारण स्वय ही अमर हो चुका हूँ। यही उपदेश तुम्हे भी दे रहा हूँ।'

विद्वानो का मानना है कि यमराज (गुरु) अपने शिष्य (नचिकेता) की परीक्षा लेने के लिए ही उसे आत्मतत्त्व की शिक्षा देने को टालते रहे। लटकाते रहे। मगर जब नचिकेता ने अपना हठ बराबर बनाए रखा तो यमराज को उसके अटल निश्चय का विश्वास हो आया। उसे इस ज्ञान का सही अधिकारी पाकर उस पर कृपा करने का पूर्ण निश्चय कर लिया था यमराज ने।

बालक नचिकेता को देखे न, उसने स्वर्ग के सुखो को भी ठुकरा दिया। ये वे सुख-सुविधाऍ है जिसके लिए देवता भी लालायित रहा करते है। मगर बालक को ये भी आकर्षित न कर पाए। वेदो मे भी जिस स्वर्ग की बार-बार प्रशसा हुई है, उसको पाने के लिए नचिकेता भी तैयार न था।

उपनिषद् की यह कहानी अति रोचक है तथा अपनी गति से आगे बढर्त रहती है।

यमराज ने अपना उपदेश जारी रखा। बोले—'यह ससार घोर जगल वे समान है। इसमे प्रवेश करना तथा अपना मार्ग बनाना बेहद कठिन है। यहॉ प मनुष्य जानवर जैसा बना रहता है। यहॉ हर प्रकार के जीव-जन्तु है। इन सब ब्रह्म व्याप्त रहता है। मगर वह इन ऑखो से देखा नही जा सकता। कन्दराऍ ह चाहे पहाड, पेड हो चाहे पौधे, बेले हो या घास, हर स्थान पर ब्रह्म मौजूद है। इ समझ पाना कठिन है। यदि कोई विवेकशील व्यक्ति इसे जान लेता है तो व व्यक्ति हर्ष और शोक के अधीन नही रह जाता।'

विवस्वान यमराज ने यो समझाया—'प्रिय बालक ! जिस किसी ने भी आत को जान लिया उसके लिए शरीर ओर शरीर मे व्याप्त सुख या दु ख महसूस न होते। ये चीजे अर्थहीन हो जाती है। ऐसा पुरुष महान् होता है। वह आत्म आन को पा लेता है। उसकी आत्मा तृप्त हो जाती हे। मैने तुम्हे खूब परख लिया।

ग़ारे लिए आत्मतत्त्व को जानना, ब्रह्मा का साक्षात्कार करना कठिन नही।'

नचिकेता ने सारे प्रवचन वडे ध्यान से सुने। मन-ही-मन कुछ निर्णय कर ला—'यमराज महोदय ! जा असली बात मे जानना चाहता हू, आप उस पर आ ाते तो मुझे बहुत अच्छा लगता। इ-र उधर की बाते बहुत हो गई। मुझे बताएँ क़ि भूत और भविष्य से परे कृत ओर अकृत से परे धर्म ओर अधर्म से परे जो त्ता हे, वह क्या हे, इसे ही स्पष्ट कहे।'

'बहुत हठी हो। बहुत पक्क हा। अपने इरादे से विचलित नही होने वाले हो। तभी तो मै अपना मन तुम्हारे सामने उँडेलता चला जा रहा हूँ।

'आगे भी सुनो। परमदेव कोइ ओर नही। जिसका गुणगान वेदो मे उपलब्ध है, वही ब्रह्मा है। कठिन तप करने का मतलब ही उसे ढूँढना है। पाना है। उसे पाने के लिए ही तो ब्रह्मचय का आचरण किया जाता हे। मेरा अभिप्राय ओम् से हे। ओम् ही को जानना तुम्हारा लक्ष्य हे। ओम् ही अविनाशी ब्रह्म है। वही सर्वोपरि है। उसे जानना ही कठिन हे। मगर जान लेने के बाद कुछ ओर जानने की इच्छा ही नही रहती। जो इसे जान लेता हे, उसे समझ लो सब कुछ प्राप्त हो गया।

ओम् ही आठो सिद्धियो ओर नवो निधियो का मालिक है। इसे पाने का एक सूत्र, एक फार्मूला, एक ही तरीका कि इसको लड पकडकर कभी छोडना नही। अटल विश्वास बनाए रखे। इसके अतिरिक्त और कुछ भी सोचे नही। यही है एकमात्र विधि इसे प्राप्त करने की।'

'मै समझ गया। आत्मा के बारे मे कुछ और बताएँ। मै हर पल धन्य होता जा रहा हूँ।' नचिकेता ने विनयपूर्वक कहा ओर यमराज को ध्यान से देखने लगा। उनके मुख से निकलने वाले अगले शब्दो की प्रतीक्षा करने लगा।

'आत्मा के बारे मे सुनो। यह अति सूक्ष्म होती है। न यह किसी से उत्पन्न होती है, न इससे कुछ पैदा होता हे। आत्मा हमारे शरीर की भॉति नही है। शरीर की मॉ है। बाप है। भाई हे। बेटे हे। मगर आत्मा ऐसी नही। आत्मा तो इन सब झझटो से मुक्त है। पूरी तरह स्वतन्त्र।

'आत्मा जन्म नही लेती। आत्मा मरती भी नही। शरीर जन्म लेते है। शरीर ही मरते भी है।

'आत्मा नित्य है। अविकारी हे। शाश्वत है। पुरातन है। न नष्ट होती है। न पैदा होती है। न तो काई किसी का मार सकता है। न कोई कभी मरता है। मरने या मार देने की बात कहने वाले ही गलतफहमी के शिकार है।'

'ओर बताएँ।' नचिकेता ने जिज्ञासा प्रकट की।

'सच समझो। आत्मा सदा हमारे अन्दर विद्यमान रहती है। यही तो है अणु से भी सूक्ष्म। सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतर। विराट से भी विराटतर। इसके समान कोइ

महान् नही। जैसे खीर मे चीनी मिली होती है। जैसे आटे मे नमक मिला होता हे। इसी प्रकार शरीर मे आत्मा सदा विद्यमान रहती है। खीर से चीनी अलग नही की जा सकती। आटे से नमक नही निकाला जा सकता। मगर शरीर से आत्मा बडी आसानी से अलग हो जाती है।

'ओर भी देखे मजे की बात ! आत्मा एक स्थान पर होते हुए भी विचरती रहती हे। यहॉ से वहॉ। आदमी भले ही नीद मे रहे आत्मा सर्वत्र आ जा सकती है। आदमी भले ही नशे मे रहे, आत्मा इससे मुक्त रहती है। सब जानते हे कि आत्मा का कोई शरीर नही। यह अशरीरी है। फिर भी शरीर मे विद्यमान हे।

'उस महान् और सर्वव्यापी को जान लेना सरल नही। मगर जान लेने क बाद सारी चिन्ताऍ स्वत लुप्त हो जाती है।'

'केसे जाने आत्मा को इसके लिए ज्ञान भी बेकार हो जाता है। प्रवचन अर्थहीन हो जाते है। बहुश्रुत भी यहॉ बेकार हो जाता हे। जिस पर उसकी कृपा हो जाए, वही इसे समझ सकता है। जान सकता हे।'

यमराज ने आगे बताया—'जो आदमी बुरे कामो का, बुरे विचारो का शिकार हो चुका है, वह तो उस परम पिता को कभी जान ही नही सकता। आत्मा के बार मे नही समझ सकता। जो माया के चक्कर मे पडा हे, वह भी इसे नही जान सकता। बडा सोचने से, लगातार चिन्तन से भी इसे नही देखा-पाया जा सकता। कोई किस वर्ण का हे, इससे आत्मा को कुछ लेना-देना नही। जात-पॉत से वह ऊपर है। जात-पॉत के विचारो को भोजन मानकर वह खा जाती हे। उसके लिए मृत्यु मात्र सब्जी हे। चटनी है। और कुछ नही।

'आत्मा का स्वरूप विचित्र है। स्वभाव भी विचित्र। इसे पूरी तरह जान पाना बहुत ही कठिन है।' कहते-कहते यमराज चुप हो गए। उन्हे लगा कि बहुत कुछ बता दिया। उन्हे लगा कि नचिकेता ने सब भली प्रकार समझ लिया हे। इसी से उन्हे परम सन्तोष की प्राप्ति हो गई। बालक नचिकेता भी भावविभोर हो उठा।

उपनिषद् की इस लम्बी कहानी मे बालक नचिकेता ने विवस्वान यमराज को नानी याद दिला दी थी। इस ब्राह्मण बालक ने जैसे यमराज को उठक-बैठक करने को विवश कर दिया था। कान पकडवाकर भविष्य मे बिना सोचे वर देने का निश्चय करवा दिया था। यमराज द्वारा स्वर्ग देने, अपार धन-दौलत देने, अनेक अनिद्य सुन्दरियॉ देने की घोषणा ने भी इस बालक को अविचल रखा। उसने कुछ भी स्वीकारने से इनकार कर दिया। आत्मतत्त्व जानने की जिद नही छोडी। इसे जानने मे सफल भी हुआ।

इस उपनिषद् की कथा का शेष भाग भी हम यही समेटने की कोशिश करते है।

ससार मे जितने भी जीव-जन्तु है जितनी भी योनियॉ है, उन सबम मनुष्य क्री योनि सर्वोत्तम है। बाकी सभी योनियॉ भोग के लिए बनी हो सकती है, मगर मनुष्य की योनि से ही मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती हे। इस योनि मे किए क्रर्मो के आधार पर जन्म-मरण से छुटकारा पाया जा सकता हे।

मानव जीवन मे किए अच्छे कर्मो के फलस्वरूप वह फिर से मानव देह पा सकता है। अन्य योनियो मे जाने से बच सकता है। यदि इस शरीर मे रहकर, मानव योनि मे होकर, वह और अधिक अच्छे कार्य, उत्तम भक्ति कर लेता हे तो उसके लिए स्वर्ग पाना भी सम्भव हो जाता है। मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव हो जाती है। जो अपने कर्म अधम रखेगा। उत्तम नही रखेगा। वह अन्य योनियो का अधिकारी होगा। नरक को जाएगा। अधम जीवन बिताएगा।

बालक नचिकेता सुन रहा था। यमराज समझा रहे थे। उन्होन बताया—'मानव शरीर मे रहकर ही अच्छे, उत्तम कार्य किए जा सकते हे। यह शरीर सुकृत का लोक है। अपने शरीर पर विजय पा लेने का अर्थ है एक लोक पर विजय प्राप्त कर लेना।

शरीर के ऊपरी आधे भाग मे जो हृदय आकाश है, उसमे ही बुद्धि रूपी गुफा है। इसी मे आत्मा निवास करती है। परब्रह्म भी इसी शरीर के ऊपरी आधे भाग मे निवास करता है। ब्रह्मवादी इस दर्शन को मानते हे। अग्निचया करने वाल भी इसे मानते है।

'शरीर एक रथ है। हम इसके सारथी है। इन्द्रियॉ इस शरीर रूपी रथ म जुडे हुए घोडो के समान है। विषय उनका मार्ग है।

'यह शरीर, इन्द्रियॉ ओर मन के साथ रहने वाला जीवात्मा ही भोक्ता है। जो अपनी इन्द्रियो को काबू मे रखना चाहता हो, उसे अपने मन को ठीक दिशा मे लगाना जरूरी है। जिस प्रकार सारथी को उद्दण्ड घोडे परेशान करते हे उसी प्रकार इन्द्रियो को वश मे न रखने वाला भी परेशान होता हे।

'जिस मनुष्य ने अपने मन को अपने वश मे रखा होता है। उसे कभी कोइ कठिनाई नही आती। उसकी इन्द्रियॉ भी वश मे रहकर ठीक माग अपनाती है।

'कोइ समझदार होकर, अपनी मनुष्य-देह को सही माग पर लगाकर चले तो वह बार-बार के जन्म-मरण से छूट सकता है।'

उन्होने नचिकेता को आगे समझाया—इन्द्रियो से लेकर परम ब्रह्म तक एक श्रेणी बनी हुई है जो अधिकाधिक शक्तिशाली होती जाती है। भले ही इन्द्रियॉ शक्तिशाली होती है, मगर इनके विषय जिनकी ओर ये आकर्षित होती हे वे नो इनसे भी अधिक ताकतवर हे। इन विषयो से अधिक शक्तिशाली मन को बताया गया हे।

'ऐ बालक ! मन से अधिक शक्तिशालील बुद्धि है। बुद्धि से भी अधिक ताकतवर कुछ है तो वह जीवात्मा है। आत्मा है। माया तो जीवात्मा से भी अधिक

ताकतवर है।

'यदि माया से अधिक ताकतवर कुछ है तो वह परब्रह्म है। इससे अधि ताकतवर हमारे शरीर मे कुछ और है ही नही। वैसे भी, ब्रह्माण्ड भर मे, परब्रह्म अधिक ताकतवर कोई अन्य नही हो सकता, इसे पक्का जानो। ब्रह्म ही पराका है बह्म ही परमगति है। यही उच्चतम है। इससे परे और कोई नही।

'हमारे शरीर के अन्दर आत्मा सदैव विद्यमान रहती हे। मगर यह हमे दिख नही देती। मगर कुछ लोग है, जो इसे देख सकते है। उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृ उनकी अति सूक्ष्म बुद्धि इसे देख लेती है। सबके बस की यह बात नही है।'

यमराज अपने सामने बैठे नचिकेता को सूक्ष्म ज्ञान दे रहे थे। उन्होने समझाया—'ईश्वर को पाने के लिए, उस तक पहुँचने के लिए आदमी के केवल मात्र एक ही रास्ता है। वह इसके लिए अभ्यास कर सफलता पा सकता वह क्रमश अपनी वाणी आदि को अपने विषयो से हटाता रहे। अपने म समाहित करे। फिर इस मन को आत्मा मे विलीन कर दे। आत्मा का होक जाए। बस परमात्मा प्राप्त हो जाएँगे।

'जो बेखबर रहता है, आत्मा को, इसके स्वरूप को नही जानता न ही जानने का प्रयत्न करता है, वह तो निद्रा मे पडा है। उसे सोने और जागने मे अन्तर मालूम नही होता।

'मेरी मानो ! इस नीद से जागो। अच्छे लोगो मे बैठो। उनके सहयो आत्मा को जानो। इस सूक्ष्म तत्त्व के स्वरूप को समझो। यह सुगम नही है किसी तेज धार वाले, गरम किए हुए छुरे पर चलना कठिन है, उसी प्रकार के स्वरूप को समझना कठिन है। मगर जिन्हे लगन होती हे, वे इस मार्ग को कर लेते है। आत्मा को पा लेते है।'

एक बार फिर ब्रह्म को कुछ ही शब्दो मे समेटते हुए यमराज ने कहा—'शब स्पर्शातीत, रूपातीत, रसातीत, महिमातीत, गधातीत यदि कुछ है तो वह ब्र

'नित्य, अनादि, अनन्त, ध्रुव जो है, वही ब्रह्म हे।

'यदि कोई इतना जान ले तो समझो वह जन्म-मरण से अवश्य छूट है। वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता हे। नचिकेता ! तुम भी इसी का अभ्यास अवश्य सफलता मिलेगी।'

इस प्रकार विवस्वान यमराज ने बडे प्यार और स्नेह के साथ सा नचिकेता को ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान दिया। बालक नचिकेता ने भी इसे बडी लगन के साथ सुना। उसे स्वर्ग की आकाक्षा न थी। स्वर्ग से भी ऊपर, भी उत्तम ब्रह्मतत्त्व को, ब्रह्मा को जानने की इच्छा थी, सो पूरी हुई।

पाठक आमत्रण

घरेलू लायब्रेरी योजना

डी पी एस प्रकाशन समूह के द्वारा दूर गॉवो एव कस्बो मे फेले हुए पाठको का एक छत के नीचे विश्व-साहित्य की लोकप्रिय कृतियॉ कम मूल्य पर उपलब्ध कराने की एक अनूठी योजना।

एक बार पच्चीस सो रुपय जमा कराने पर हमारे पाठको को हर छ महीने पश्चात् पॉच पुस्तको का नया सेट नि शुल्क प्राप्त होगा।

हमारी बहुचर्चित पुस्तके

- नीलोफर
- विज्ञान के चमत्कार
- भारतीय बाल-शिक्षा कोश
- गीताजलि
- चन्द्रकान्ता
- कायाकल्प
- भारतीय योग शिक्षा
- गणित जिज्ञासा प्रश्नोत्तरी
- मे हूॅ पृथ्वी
- उर्दू कलाम एक झलक
- श्रीमद्भगवद् गीता

उत्कृष्ट साहित्य का प्रतीक



सूरुचिपूर्ण प्रकाशन
एक गौरवशाली परम्परा